

Year-66, Volume-1
RNI No. 10591/62

Jan-March 2013
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002
Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANT

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

निदेशक वीर सेवा मंदिर, नई दिल्ली

Director-Vir Sewa Mandir, New Delhi

(प्रा. पं. निहालचंद जैन, बीना)

(Pracharya Pt. Nihal Chand Jain- Bina)

प्रो. डॉ. राजाराम जैन, नोएडा

Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida

प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ

Prof. Dr. Vrashabh Prasad Jain, Lucknow

प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर

Pracharya Dr. Shital Chand Jain, Jaipur

प्रो. डॉ. श्रेयांशकुमार जैन, बड़ौता

Prof. Dr. Shreyansh Kr. Jain, Baraut

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

चेतन खेले होरी

चेतन खेले होरी,
सता भूमि, छिमा बसन्त में
समता प्रान पिया संग गोरी।
चेतन खेले होरी,

मन को माट, प्रेम को पानी,
तामें करूना केसर घोरी,
ज्ञान-ध्यान पिचकारी भरि भरि,
आप में छारैं होरा-होरी।
चेतन खेले होरी,

गुरू के वचन मृदंग बजत है,
नय दोनां डफ लाल टकोरी,
संजम अतर विमल व्रत चोवा,
भाव गुलाल भरैं भर झोरी।
चेतन खेले होरी,

धरम मिठाई, तप बहु मेवा,
समरस आनन्द अमल कटोरी,
“द्यानत” सुमति कहे सखियन सों
चिर जीवों यह -जुग जुग जोरी।
चेतन खेले होरी।

-कविवर द्यानतराय

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
चेतन खेले होरी		३
१. ध्यान का स्वरूप एवं उसके भेद तथा गुण-दोष विवेचन	डॉ. जयकुमार जैन	५
२. नाट्यशास्त्र में प्राकृत व्याकरण के नियम	प्रो. कमलेश कुमार जैन	१४
३. जैन शिल्प विधान का स्वरूप	डॉ. मुक्ति पाराशर	२०
४. मूलाचार में दिगम्बर जैन मुनियों का अर्थशास्त्र		२७
५. समणसुत्त में प्रतिपादित ज्ञान-मीमांसा	प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी	३५
६. मंगल एवं मंगलाचरण का विश्लेषणात्मक अध्ययन	डॉ. बसन्त लाल जैन	४१
७. कलिङ्ग चक्रवर्ती खारवेल	डॉ. रमेशचन्द जैन	४७
८. Relativity and Anekant	Dr. Samani Shashi Prajna	५४
९. जैन वाङ्मय में संगीत	सिद्धार्थ जैन, एम. म्यूज.	६५
१०. कल्याणमन्दिर स्तोत्र : एक अनुशीलन	प्राचार्य पं. निहालचंद जैन	६९
११. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार के आधार पर व्रतों के अतिचारों की समीक्षा	पं. आलोक कुमार जैन	७५
१२. पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' की जैन साहित्य को देन	ललित शर्मा	८६
१३. आचार्य जुगल किशोर 'मुख्तार' स्मृति-व्याख्यानमाला प्रतिवेदन		९५

ध्यान का स्वरूप एवं उसके भेद तथा गुण-दोष विवेचन

-डॉ. जयकुमार जैन

ध्यान शब्द भ्वादि गण की परस्मैपदी ध्ये धातु से ल्युट् प्रत्यय करने पर निष्पन्न हुआ है; जिसका अर्थ सोचना, मनन करना, विचार करना, चिन्तन करना, विचार-विमर्श करना आदि है। वस्तुतः एकाग्रता का नाम ध्यान है। ऐसा एक भी क्षण नहीं रहता है, जब व्यक्ति किसी न किसी विषय में सोच-विचार या चिन्तन-मनन न करता हो। किन्तु रागद्वेषजन्य होने से ऐसा ध्यान श्रेयस्कर नहीं होता है, साम्यभाव में एकाग्रता ही श्रेयोमार्ग में ग्राह्य है।

ध्यान का स्वरूप

किसी एक विषय में निरन्तर ज्ञान का रहना ध्यान है। पंचाध्यायी में कहा गया है -

‘यत्पुनर्ज्ञानमेकत्र नैरन्तर्येण कुत्रचित्।
अस्ति तद्ध्यानमत्रापि क्रमो नाप्यक्रमौऽर्थतः॥’

किसी एक स्थान पर या एक विषय में निरन्तर रूप से ज्ञान का रहना ध्यान है और वह वास्तव में क्रम रूप ही है, अक्रम नहीं। आचार्य शुभचन्द्र ने भी लिखा है- “एकाचिन्ता-निरोधो यस्तद् ध्यानम्”^२ जो एक ज्ञेय में चिन्ता का निरोध है, वह ध्यान है। सर्वार्थसिद्धि में एक प्रश्न उपस्थित किया गया है कि यदि चिन्ता के निरोध का नाम ध्यान है तब तो ध्यान गधे के सींग की तरह असत् ठहरता है क्योंकि निरोध अभाव स्वरूप होता है। उत्तर में कहा गया है कि यह कोई दोष नहीं है क्योंकि अन्य की चिन्ता निवृत्ति की अपेक्षा वह असत् कहा जाता है और अपने विषय में प्रवृत्ति होने के कारण वह सत् कहा जाता है। अभाव भावान्तर स्वभाव होता है। अभाव वस्तु का धर्म है। यह बात सपक्षसत्त्व और विपक्षव्यावृत्ति आदि हेतु के अंगों द्वारा सिद्ध होती है।^३ जैन दर्शन के अनुसार ऐसा निरोध या अभाव तुच्छाभाव नहीं है।

ध्यान के अंग

ध्यान के चार अंगों का उल्लेख करते हुए ज्ञानार्णव में कहा गया है- ‘ध्याता ध्यानं तथा ध्येयं फलं चेति चतुष्टयम्’^४ ध्याता, ध्यान, ध्येय और ध्यानफल ये चार ध्यान के अंग हैं। शुभचन्द्राचार्य के अनुसार मोक्ष का इच्छुक, संसार से विरक्त, शान्त चित्त वाला, मन को वश में रखने वाला, आसनादि में स्थिर रहने वाला जितेन्द्रिय, संवरयुक्त और धैर्यशाली को ध्यान की सिद्धि के योग्य ध्याता कहा गया है। उन्होंने गृहस्थावस्था में ध्यान की सिद्धि का निषेध करते हुए मुनि अवस्था में ही ध्यान की सिद्धि मानी है। वे स्पष्टतया लिखते हैं कि -

‘न प्रमादजन्यं कर्तुं धीधनैरपि पार्यते।
महाव्यसनसंकीर्णं गृहवासेऽतिनिन्दिते॥’^५

अर्थात् अनेक कष्टों भरे हुए अतिनिन्दित गृहवास में बड़े-बड़े बुद्धिमान् भी प्रमाद को पराजित करने में समर्थ नहीं हैं। इस कारण गृहस्थावस्था में ध्यान की सिद्धि नहीं हो सकती है। इसी प्रकार यति हो जाने पर भी मिथ्यादृष्टियों को ध्यान की सिद्धि नहीं होती है - 'ध्यानसिद्धिर्यतित्वेऽपि न स्यात्पाषण्डिनां क्वचित्।'⁶ उक्त दोनों कथनों की आचार्यश्री ने अनेक दृष्टान्तों/ तर्कों के साथ सिद्धि की है।

ध्येय विषय का विवेचन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र स्पष्ट करते हैं कि निर्मल वस्तु ध्येय है, अवस्तु ध्येय नहीं है। ध्येय दो प्रकार का है- चेतन और अचेतन। चेतन तो जीव है और अचेतन पञ्च द्रव्य है। ये सर्वथा नित्य या अनित्य नहीं हैं। इनमें मूर्तिक भी हैं और अमूर्तिक भी हैं। चैतन्य ध्येय सकल एवं निकल परमात्मा अर्थात् अरहन्त भगवान् एवं सिद्ध भगवान् हैं। वे लिखते हैं -

‘शुद्धध्यानविशीर्णकर्मकवचो देवश्च मुक्तेर्वरः।
सर्वज्ञः सकलः शिवः स भगवान् सिद्धः परो निष्कलः॥’⁷

जो चेतन या अचेतन जिस रूप में अवस्थित है, उसका वही रूप ध्येय है। कहा भी है-

‘अमी जीवादयो भावाश्चिदचिल्लक्षणलाञ्छिताः।
तत्स्वरूपाविरोधेन ध्येया धर्मे मनीषिभिः॥’⁸

ध्यान का फल दो प्रकार कहा गया है - लौकिक और पारमार्थिक। लौकिक फल वाले सभी ध्यान अप्रशस्त कहे गये हैं, अतः वे कुध्यान हैं। तत्त्वानुशासन में तो स्पष्टतया कहा गया है कि लौकिक फल को चाहने वालों को जो ध्यान होता है, वह या तो आर्तध्यान या रौद्रध्यान⁹ ये दोनों ही ध्यान अप्रशस्त होते हैं।

यहाँ यह अवधेय है कि अन्य परम्परा में ध्यान की सिद्धि के लिए जो अष्टांग योग का विवेचन किया गया है अथवा यम, नियम को छोड़कर आसान, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि इन छह अंगों का विवेचन किया गया है, वह मन की स्थिरता और शुद्धता के लिए है। इनका जानना भी योग्य है। कहा भी गया है -

‘अंगान्यष्टावपि प्रायः प्रयोजनवशात्क्वचित्।
उक्तान्यत्रैव तान्युच्चैर्विद्वान्कुर्वन्तु योगिनः॥’¹⁰

ध्यान और भावना

ध्यान एवं भावना का सूक्ष्म अन्तर स्पष्ट करते हुए आचार्य शुभचन्द्र कहते हैं -

‘एकाचिन्तानिरोधो यस्तद्ध्यानं भावना परा।
अनुप्रेक्षार्थचिन्ता वा तज्ज्ञैरभ्युपगम्यते॥’¹¹

अर्थात् जो एक विषय या ज्ञेय में चित्त ठहरा हुआ है, वह तो ध्यान है और इससे भिन्न है सो भावना है। इसे ध्यान के जानकारों ने अनुप्रेक्षा या अर्थचिन्ता कहा है।

ध्यान और ज्ञान

यद्यपि ध्यान ज्ञान की ही पर्याय है तथापि ध्यान में अन्तःकरण के संकोच के कारण कथंचित् भिन्नता भी कही गई है।¹²

ध्यान के भेद

सामान्यतया ध्यान के दो भेद किये जाते हैं - प्रशस्त ध्यान और अप्रशस्त ध्यान। ज्ञानार्णव में जीव के आशय के आधार पर ध्यान के तीन भेद किये हैं - प्रशस्त ध्यान, अप्रशस्त ध्यान और शुद्ध ध्यान। पुण्य रूप आशय के वश से तथा शुद्ध लेश्या के अवलंबन से और वस्तु के यथार्थ स्वरूप के चिन्तन से जो ध्यान उत्पन्न होता है, वह प्रशस्त कहलाता है। जीवों के पाप रूप आशय के वश से तथा मोह, मिथ्यात्व, कषाय एवं तत्त्वों के अयथार्थ चिन्तन से जो ध्यान उत्पन्न होता है, वह अप्रशस्त कहलाता है। रागादि की सन्तान के क्षीण होने पर अन्तरंग आत्मा के प्रसन्न होने से जो अपने स्वरूप की प्राप्ति होती है, उसे शुद्ध ध्यान कहते हैं। शुभ ध्यान के फल से मनुष्य को स्वर्ग एवं क्रम से मोक्ष की प्राप्ति होती है। अशुभ ध्यान या दुर्ध्यान से दुर्गति की प्राप्ति होती है तथा प्रयासपूर्वक भी अशुभ कर्म का क्षय नहीं होता है। शुद्ध ध्यान से जीवों को केवलज्ञान की प्राप्ति होती है।¹³ वास्तव में प्रशस्त ध्यान पुण्यबन्ध, अप्रशस्त ध्यान पापबन्ध तथा शुद्धध्यान मोक्षप्राप्ति का कारण है।

श्री शुभचन्द्राचार्य ने अन्यत्र ध्यान के प्रशस्त एवं अप्रशस्त दो भेद भी किये हैं। वे कहते हैं कि ये इष्ट एवं अनिष्टफल की प्राप्ति के कारण भूत हैं। जिस ध्यान में मुनि वीतराग होकर वस्तु स्वरूप का चिन्तन करे वह ध्यान प्रशस्त एवं मोही जीव वस्तु का अयथार्थ चिन्तन करे वह ध्यान अप्रशस्त है। अप्रशस्त ध्यान जीवों के अनादि वासनाजन्य है तथा उपदेश के बिना स्वयमेव होता है। अप्रशस्तध्यान आर्त एवं रौद्र के भेद से दो प्रकार का तथा प्रशस्त ध्यान धर्म एवं शुक्ल के भेद से दो प्रकार का होता है। इनमें आर्त एवं रौद्र नामक अप्रशस्त ध्यान अत्यन्त दुःखदायी हैं तथा धर्म एवं शुक्ल नामक प्रशस्त ध्यान कर्मों का नाश करने में समर्थ है।¹⁴ तत्त्वार्थसूत्र में 'आर्तरौद्रधर्म्यशुक्लानि'¹⁵ कहकर आर्त, रौद्र, धर्म, शुक्ल ध्यानों का विवेचन किया गया है, वे अप्रशस्त एवं प्रशस्त दो ध्यानों में अन्तर्भूत हैं।

१. आर्त ध्यान - आर्त शब्द की निरुक्ति करते हुए आचार्य पूज्यपाद ने लिखा है कि 'ऋतं दुःखम् अर्दनमर्तिर्वा तत्र भवमार्तम्।'¹⁶ अर्थात् आर्त शब्द ऋत अथवा अर्ति से बना है। इनका अर्थ दुःख है। इनमें जो होता है, वह आर्तध्यान है। संसारी जीव के हर समय कलुषित परिणाम रहते हैं। आर्तध्यान का विवेचन करते हुए ज्ञानार्णव में कहा गया है -

'ऋते भवमथार्तं स्याद् असद्ध्यानं शरीरिणाम्।
द्वदिग्मोहान्मत्ततातुल्यमविद्यावासनावशात्॥'¹⁷

ऋत अर्थात् पीड़ा में जो उत्पन्न होता है, वह आर्तध्यान है, यह अप्रशस्त है। जैसे किसी प्राणी के दिशाओं के भूल जाने से उन्मत्तता होती है, यह ध्यान उसके समान है। यह ध्यान अविद्या की वासना से उत्पन्न होता है।

आर्तध्यान के भेद

आर्तध्यान चार प्रकार का होता है - अनिष्टसंयोगज, इष्टवियोगज, रोगप्रकोपज या वेदनाजन्य और निदानजन्य।¹⁸ इनका स्वरूप नाम से ही स्पष्ट है। मनुष्यों के इष्ट भोगादिक की सिद्धि के लिए तथा शत्रु के घात के लिए अथवा उच्च पद की प्राप्ति के लिए जो वांछा है या पूजा-प्रतिष्ठा की याचना के लिए जो चिन्तन है, वह निदानजन्य आर्तध्यान है।

आर्तध्यान के स्वामी

यह आर्तध्यान छठे गुणस्थान तक हो सकता है। पाँचवें गुणस्थान तक तो यह चारों प्रकार का होता है किन्तु छठे गुणस्थानवर्ती मुनि के निदानजन्य आर्तध्यान को छोड़कर शेष तीन प्रकार का ही होता है। यह आर्तध्यान कृष्ण, नील और कापोत लेश्याओं के बल से प्रकट होता है तथा यह पाप रूपी दावाग्नि को उत्पन्न करने वाला है।

आर्तध्यान का फल

आर्तध्यान से तिर्यचगति की प्राप्ति होती है। यह क्षायोपशमिक भाव है तथा एक विषय पर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त ही रहता है। शंका, भय, प्रमाद, असावधानी, कलह चित्तभ्रम, भ्रान्ति, विषय भोग की उत्कण्ठा, निद्रागमन, मूर्च्छा आदि इसके चिह्न हैं।¹²⁰

२. रौद्र ध्यान - आचार्य पूज्यपाद ने रौद्र शब्द की निरुक्ति इस प्रकार की है - 'रुद्रः क्रूराशयस्तस्य कर्म तत्र भवं वा रौद्रम्।'²¹ अर्थात् रुद्र का अर्थ क्रूर आशय है, इसका कर्म या इसमें होने वाला भाव रौद्र है। इसी को ज्ञानार्णव में इस प्रकार कहा गया है-

‘रुद्रः क्रूराशयः प्राणी प्रणीतस्तत्त्वदर्शिभिः।

रुद्रस्य कर्म भावो वा रौद्रमित्यभिधीयते॥’²²

तत्त्वदृष्टाओं ने क्रूर आशय वाले प्राणी को रुद्र कहा है। उस रुद्र प्राणी के कार्य अथवा भाव को रौद्र कहते हैं। हिंसा आदि पाप कार्य करके विकत्थना - डींगें मारने का भाव रौद्र ध्यान कहलाता है।

रौद्रध्यान के भेद

रुद्र आशय से उत्पन्न हुआ भयानक रौद्र ध्यान चार प्रकार का कहा गया है- हिंसानन्द, मृषानन्द, चौर्यानन्द और विषयसंरक्षणानन्द।²³ इनका स्वरूप नाम से ही स्पष्ट है।

रौद्रध्यान के स्वामी

रौद्रध्यान पञ्चम गुणस्थान तक हो सकता है। यह छठे गुणस्थानवर्ती साधु को कदापि संभव नहीं है। रौद्र ध्यान के स्वामी का वर्णन करते हुए आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है कि कृष्ण लेश्या के बल से युक्त, नरकपात रूप फल वाला यह रौद्रध्यान पंचम गुणस्थान तक की भूमिका में होता है।²⁴

यहाँ यह अवधेय है कि पंचम गुणस्थान में कृष्ण लेश्या तो होती नहीं है और न नरकायु का बंध है, अतः पंचम गुणस्थान में रौद्रध्यान गृहकार्य के संस्कार से लेशमात्र समझना चाहिए।

रौद्रध्यान का फल

रौद्र ध्यान से नरक गति की प्राप्ति होती है। इसे शुभचन्द्राचार्य ने ‘श्वप्नपातफलांकितम्’ कहकर स्पष्ट किया है। क्रूरता, दण्ड की कठोरता, वंचकता, निर्दयता, इसके अन्तरंग तथा नेत्रों की लालिमा, भ्रुकुटियों का टेढ़ापन, भयानक आकृति, देह का कांपना एवं पसीना आना बाह्य चिह्न है।²⁵

३. धर्मध्यान - साधक साम्यभाव का अभ्यास करने के लिए जब एकाग्र होकर किसी इष्ट पदार्थ को निरन्तर ध्याता है, उसका ध्यान धर्मध्यान कहलाता है। शुभचन्द्राचार्य का कथन है कि प्रशमता का अवलंबन करके अपने मन को वश में करके विषयसेवन से विरक्त होकर धर्म ध्यान होता है।²⁶

धर्मध्यान के ध्याता में ज्ञानवैराग्यसम्पन्नता, संसार से विरक्तता, हृदय की दृढ़ता, मोक्ष की इच्छा, शान्त परिणाम तथा धैर्य का होना आवश्यक है। धर्म ध्यान की सिद्धि तभी होती है, जब ध्याता के हृदय में मैत्री, प्रमोद, कारुण्य एवं माध्यस्थ भाव हो।²⁷

धर्मध्यान के भेद - धर्मध्यान के भेदों का कथन करते हुए ज्ञानार्णव में कहा गया है -

“आज्ञापायविपाकानां क्रमशः संस्थितेस्तथा।

विचयो य पृथक् तद्धि धर्मध्यानं चतुर्विधम्॥”²⁸

अर्थात् आज्ञा, अपाय, विपाक और संस्थिति या संस्थान का जो विचार-चिन्तन (विचय) है, इन चारों नाम वाले चार प्रकार के धर्मध्यान हैं। अर्थात् धर्मध्यान के चार भेद हैं - आज्ञाविचय, अपायविचय, विपाकविचय और संस्थानविचय। भगवान् की आज्ञा का चिन्तन आज्ञाविचय धर्मध्यान है। कर्मों के उपाय-नाश का चिन्तन अपायविचय कहलाता है। कर्मोदय या कर्म के फल के उदय चिन्तन विपाकविचय धर्मध्यान है। विपाक का अर्थ फल है। लोक के आकार आदि का चिन्तन संस्थानविचय नामक धर्म ध्यान कहलाता है।

धर्मध्यान के स्वामी

धर्मध्यान सम्यग्दर्शनपूर्वक होता है अतः वह चतुर्थ, पंचम, षष्ठ एवं सप्तम गुणस्थानों में होता है। यह श्रेणी आरोहण के पहले होता है। तत्त्वार्थाधिगमभाष्य में धर्मध्यान केवल अप्रमत्तसंयम नामक सप्तम गुणस्थान में कहा गया है, जो ठीक प्रतीत नहीं होता है। आगे श्रेणी आरोहण में शुक्ल ध्यान ही माना गया है।²⁹ धर्मध्यान की स्थिति अन्तर्मुहूर्त है। धर्म ध्यान वाले के क्षायोपशमिक भाव और शुक्ल लेश्या होती है।

धर्मध्यान का फल

श्री शुभचन्द्राचार्य ने धर्मध्यान के फल का विस्तृत विवेचन किया है। धर्मध्यान के प्रभाव से जीव वैभवशाली कल्पवासी देव, ग्रैवेयक, अनुत्तर विमान तथा सर्वार्थसिद्धि के देव बनते हैं। उसके बाद मनुष्य भव पाकर शुक्लध्यान धारण कर समस्त कर्मों का नाशकर अविनाशी मोक्ष पद को प्राप्त होते हैं।³¹ इस प्रकार धर्मध्यान का फल परम्परया मोक्षप्राप्ति कही गई है। इन्द्रियों में मलंपटता का भाव, आरोग्य, मन की अचंचलता, निष्ठुरता का न होना, शरीर में सुगन्धित, मल-मूत्र की अल्पता, शरीर की कान्ति, प्रसन्नता, सुस्वरता आदि धर्मध्यानी के चिन्ह कहे गये हैं। धर्मध्यान से 4-5-6-7 गुणस्थानों में आगे-आगे असंख्यातगुणी कर्मों की निर्जरा होती है।³²

पञ्चमकाल में भी धर्मध्यान

पञ्चम काल में शुक्ल ध्यान नहीं हो सकता है, अतः इस काल में साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति संभव नहीं है। कुछ लोग ऐसा कहते हैं कि जब इस पंचम काल में मोक्ष नहीं है तो ध्यान करने से क्या लाभ है? उन्हें यह समझने की आवश्यकता है कि यद्यपि पंचम काल में शुक्ल ध्यान न होने से साक्षात् मोक्ष नहीं है, किन्तु मोक्ष के परम्परा साधक धर्मध्यान का अभाव नहीं है। शुभचन्द्राचार्य लिखते हैं -

‘दुःषमत्वादयं कालः कार्यसिद्धेर्न साधकम्।

इत्युक्त्वा स्वस्य चान्येषां कैश्चिद्ध्यानं निषिध्यते॥”³³

अर्थात् कोई-कोई ऐसा कहकर अपने तथा पर के ध्यान का निषेध करते हैं कि दुःखम् काल होने से इस काल में ध्यान की योग्यता नहीं है। ऐसा कहने वालों को ध्यान कैसे हो सकता

है ? अर्थात् नहीं हो सकता। वस्तुतः धर्म ध्यान साक्षात् नहीं परम्परा से मोक्ष का कारण है। कहा भी है-

‘शुभध्यानफलोद्भूतां श्रियं त्रिदशसंभवाम्।
निर्विशन्ति नराः नाके क्रमाद् यान्ति परं पदम्॥’³⁴

४. शुक्ल ध्यान - शुक्लध्यान के स्वरूप का विवेचन करते हुए भी शुभचन्द्राचार्य ने कहा है-

‘निष्क्रियं करणातीतं ध्यानधारणवर्जितम्।
अन्तर्मुखं च यच्चित्तं तच्छुक्लमिति पठ्यते॥’³⁵

जो निष्क्रिय अर्थात् क्रिया रहित है, इन्द्रियातीत है, और ध्यान की धारणा से रहित है अर्थात् ‘मैं इसका ध्यान करूँ’ ऐसी इच्छा से रहित है और जिसमें चित्त अन्तर्मुख अर्थात् अपने स्वरूप के ही सन्मुख है, उस ध्यान को शुक्ल ध्यान कहते हैं। इस ध्यान के शुक्ल नामकरण के सम्बन्ध में ज्ञानार्णव में एक आर्या को उद्धृत किया गया है-

‘शुचिगुणयोगाच्छुक्लं कषायरजसः क्षयादुपशमाद् वा।
वैडूर्यमणिशिखामिव सुनिर्मलं निष्प्रकम्पं च॥’³⁶

अर्थात् आत्मा के शुचि गुण के सम्बन्ध से इसका नाम शुक्ल पड़ा है। कषाय रूपी राज के क्षय से अथवा उपशम से आत्मा के अत्यन्त निर्मल परिणाम होते हैं, वही शुचि गुण का योग है। यह शुक्ल ध्यान वैडूर्य मणि की शिखा के समान सुनिर्मल एवं निष्कम्प है।

शुक्लध्यान के भेद

शुक्ल ध्यान के चार भेद हैं - पृथक्त्ववर्तिकवीचार, एकत्ववितर्क अवीचार, सूक्ष्मक्रियाप्रतिपाति और व्युपरतक्रियानिवृत्ति। इनमें प्रथम शुक्ल ध्यान वर्तिक, वीचार एवं पृथक्त्व सहित है। द्वितीय एकत्व एवं वितर्क सहित है, किन्तु वीचार रहित है। तृतीय शुक्ल ध्यान में उपयोग की क्रिया नहीं है किन्तु काय की क्रिया अत्यन्त सूक्ष्म है, अतः इसकी सूक्ष्म क्रिया अप्रतिपाति ऐसा सार्थक नाम है। चतुर्थ शुक्ल ध्यान में काय की क्रिया भी बिल्कुल नष्ट हो जाती है, अतः इसे अन्वर्थ व्युपरतक्रियानिवृत्ति या समुच्छिन्नक्रिया नाम से कहा जाता है। वर्तिक श्रुत को कहते हैं तथा वीचार का अर्थ संक्रमण है। संक्रमण एक पदार्थ से अन्य पदार्थ में, एक व्यंजन से अन्य व्यंजन में तथा एक योग से अन्य योग में होता है।³⁷ कहा भी गया है-

‘अर्थादर्थं वचः शब्दं योगाद्योगं समाश्रयेत्।
पर्यायादपि पर्यायं द्रव्याणोश्चिन्तयेदणुम्॥’³⁸

अर्थात् एक अर्थ से अन्य अर्थ का, एक शब्द से अन्य शब्द का, एक योग से अन्य योग का, एक पर्याय से अन्य पर्याय का और एक द्रव्याणु से अन्य द्रव्याणु का चिन्तन करे।

शुक्ल ध्यान के स्वामी

प्रथम पृथक्त्ववर्तिकवीचार नामक प्रथम शुक्ल ध्यान मन, वचन, काय तीनों योगों वाले मुनियों के होता है। द्वितीय एकत्ववर्तिक-अवीचार तीनों में से किसी एक योग से ही होता है। तृतीय सूक्ष्मक्रियाऽप्रतिपाति शुक्ल ध्यान केवल काय योग वाले के ही होता है तथा चतुर्थ व्युपरतक्रियानिवृत्ति नामक चतुर्थ शुक्ल ध्यान योगों से सर्वथा रहित अयोगकेवली के होता है।³⁹

ये चारों प्रकार के शुक्लध्यान वज्रवृषभनाराच संहनन के धारी, १४पूर्वों के ज्ञाता एवं निर्मल चारित्र के धारक के ही होते हैं।

शुक्ल ध्यान का फल

शुक्ल ध्यान का फल साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति है। तृतीय शुक्ल ध्यान के अनन्तर अयोग गुणस्थान के उपान्त्य भाग में मुक्ति की प्रतिबन्धक ७२ कर्म प्रकृतियों का नाश हो जाता है तथा चतुर्थ शुक्ल ध्यान प्रकट हो जाता है। तदन्तर अयोग गुणस्थान के अन्त में शेष बची १३ कर्मप्रवृत्तियां भी नष्ट हो जाती हैं तथा मुक्ति की प्राप्ति हो जाती है।⁴¹

चतुर्विध ध्यानों में हेयोपादेयता

उपर्युक्त चतुर्विध ध्यानों में आदि के दो आर्त और रौद्र ध्यान त्याज्य हैं, क्योंकि वे छोटे हैं तथा संसार को बढ़ाने वाले हैं तथा अन्त के दो धर्म और शुक्ल ध्यान ग्राह्य हैं, क्योंकि वे परम्परया या साक्षात् मोक्ष के साधक हैं। ऐहिक फल वाले जो भी ध्यान हैं वे सब अप्रशस्त हैं तथा उनका समावेश आर्त या रौद्र के अन्तर्गत होता है। ज्ञानी मुनियों ने विद्यानुवाद पूर्व से असंख्यात प्रकार के विद्वेषण, उच्चाटन आदि कर्म प्रकट किये हैं, परन्तु वे सब कुमार्ग एवं कुध्यान हैं। शुभचन्द्राचार्य का कहना है -

‘स्वप्नेपि कौतुकेनापि नासद्ध्यानानि योगिभिः।
सेव्यानि यान्ति बीजत्वं यतः सन्मार्गहानये॥’⁴²

अर्थात् योगी मुनियों को चाहिए कि अप्रशस्त ध्यानों को वे कौतुक से स्वप्न में भी न विचारें। क्योंकि अप्रशस्त ध्यान सन्मार्ग की हानि के लिए कारण है।

छोटे ध्यान के कारण सन्मार्ग से विचलित हुए चित्त को कोई सैकड़ों वर्षों में भी सन्मार्ग में लाने में समर्थ नहीं हो सकता है, इस कारण छोटा ध्यान कदापि नहीं करना चाहिए। छोटे ध्यान कुतूहल में भी किये जाने पर अपने ही नाश के कारण बनते हैं। जो लोग रागाग्नि से प्रज्वलित होकर मुद्रा, मंडल, यन्त्र, मन्त्र आदि साधनों के द्वारा कामी-क्रोधी कुदेवों का आदर से समाराधन करते हैं, वे दुष्ट आशा से पीड़ित तथा भोगों की पीड़ा से वंचित होकर नरक में पड़ते हैं। अतः वही ध्यान उपादेय है जो कर्मों का नाश करने में समर्थ है।⁴³

यद्यपि यह सत्य है कि अप्रशस्त ध्यानों से भी अनेकों लौकिक प्रयोजनों की सिद्धि हो जाती है, ऐसे मन्त्रादि का भी विस्तृत विवेचन हुआ है, तथापि ऐसे ध्यान करणीय नहीं है। क्योंकि ध्यान करने वाला योगी वीतराग का ध्यान करता हुआ वीतराग होकर कर्मों से छूट जाता है और रागी का अवलंबन करके ध्यान करने से रागी होकर क्रूर कर्मों के आश्रित हो जाता है अर्थात् अशुभ कर्मों से बंध जाता है।⁴⁴ लौकिक ध्यानों का निर्देश मात्र ध्यान की शक्ति को दिखाने के लिए किया गया है, अन्य कोई इसका प्रयोजन नहीं है। ज्ञानार्णव में कहा गया है कि अनेक प्रकार की विक्रिया रूप असार ध्यान मार्ग का आश्रय लेने वाले क्रोधी तक को ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिसका देवता भी चिंतन नहीं कर सकते हैं। फिर स्वभाव से अनन्त और जगत्प्रसिद्ध प्रभाव का धारक यह आत्मा यदि समाधि में जोड़ा जाये तो समस्त जगत को अपने चरणों में लीन कर लेता है अर्थात् केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है।⁴⁵

अरहंत का ध्यान करने वाला योगी स्वयं अरहंत बन जाता है, ऐसी ध्यान में अप्रतिम शक्ति है। अभ्यास के सामर्थ्य से मुनि को सर्वज्ञ के स्वरूप से तन्मयता हो जाती है तथा वह मुनि ऐसा मानने लगता है कि यह आत्मा वही सर्वज्ञ देव है, अन्य नहीं है।⁴⁶

तत्त्वानुशासन में इसी तथ्य को इस प्रकार प्रकट किया गया है -

‘परिणमते येनात्मा भावेन स तेन तन्मयो भवति।

अर्हद्धान्याविष्टो भावार्हन्स्यात् स्वयं तस्मात्॥’⁴⁷

अर्थात् जो आत्मा जिस भाव रूप परिणमन करता है, वह उस भाव के साथ तन्मय होता है। अतः अरहन्त के ध्यान से व्याप्त आत्मा स्वयं भाव अरहन्त होता है।

ध्यान के अयोग्य साधुओं की पहिचान

आत्मा का हित ध्यान में ही है। इस कारण जो कर्मों से मुक्त होने के इच्छुक साधु हैं, उन्हें कषायों की मन्दता के लिए तत्पर होकर कर्मों का नाश करने के लिए ध्यान ही एकमात्र अवलम्बन है।⁴⁸ किन्तु सिद्धान्त में ध्यान केवल मिथ्यादृष्टियों को ही नहीं, अपितु जिनेन्द्र- आज्ञा के प्रतिकूल चलित चित्त वाले साधुओं को भी निषिद्ध कहा गया है। जिनमें मुनि अवस्था में भी ध्यान की योग्यता नहीं है, श्री शुभचन्द्राचार्य ने उनकी पहिचान इस प्रकार बतलाई है -

१. मन-वचन-कर्म में भिन्नता वाले मायाचारी।
२. निर्ग्रन्थ होकर भी परिग्रह रखने वाले।
३. संयमधारी होने पर भी धैर्य से रहित।
४. कीर्ति, प्रतिष्ठा और अभिमान में आसक्त।
५. मिथ्यात्व के कारण तत्त्वों को प्रमाण रूप न मानने वाले।
६. न्य सिद्धान्तों से ठगी गई बुद्धि वाले।
७. नास्तिक वादियों की कृत्युक्तियों से प्रभावित चित्त वाले।
८. रागरंजित कान्दर्पी, कैल्विषी, आभियोगिकी, आसुरी एवं सम्मोहिनी भावनाओं वाले।
९. भेद विज्ञान से रहित।
१०. सुख, अणिमा-महिमादि ऋद्धि एवं रसीले भोजनांक्षी।
११. पापाभिचार छोटे कर्मों में रत।
१२. धनोपार्जन में संलग्न आदि अनेकविध कार्यों में रत मुनियों को ध्यान के अयोग्य कहा है।⁴⁹ धनोपार्जन करने वाले साधु के लिए कहा गया है कि जैसे कोई अपनी माता को वेश्या बनाकर उससे धनोपार्जन करता है, वैसे ही जो मुनि होकर उस मुनि दीक्षा को जीवन का उपाय बनाते हैं और उसके धनोपार्जन करते हैं, वे अत्यन्त निर्लज्ज हैं।⁵⁰

संदर्भ -

१. पंचाध्यायी उत्तरार्ध, ८४२	२. ज्ञानार्णव, सर्ग २५, कारिका १६
३. सर्वार्थसिद्धि, ९/२७	४. ज्ञानार्णव, सर्ग ४, कारिका ५
५. वही, ४/९	६. वही, ४/१९
७. वही, ३१/१७ का उत्तरार्ध	८. ज्ञानार्णव, ३१/१८
९. तत्त्वानुशासन, २२०	१०. ज्ञानार्णव, २२/४

११. वही, २५/१६	१२. आदिपुराण, २१/१५-१६
१३. ज्ञानार्णव, ३/२८-३४	१४. वही, २५/१७-२१
१५. तत्त्वार्थसूत्र, ९/२८	१६. सर्वार्थसिद्धि, ९/२२८
१७. ज्ञानार्णव, २५/२३	१८. वही, २५/४
१९. वही, २५/३८-४०	२०. वही, २५/४१-४३
२१. सर्वार्थसिद्धि, ९/२८	२२. ज्ञानार्णव, २६/२
२३. वही, २६/३	२४. वही, २६/३६
२५. वही, २६/३७-३८	२६. ज्ञानार्णव, २७/१
२७. वही, २७/३-४	२८. वही, ३३/५
२९. द्रष्टव्य- तत्त्वार्थवार्तिक ९/३६-३७	
३०. ज्ञानार्णव, ४१/१४	३१. वही, ४१/१६-२७
३२. ज्ञानार्णव ४१/१५ के पश्चात् 'उक्तं च' कहकर प्रदत्त श्लोक का भाव तथा ४१/१२-१३	
३३. वही, ४/३७	३४. वही, ३/३२
३५. ज्ञानार्णव, ४२/४	३६. वही, ४२/५ के पश्चात् उद्धृत श्लोक
३७. वही, ४२/१३-१७	३८. वही, ४२/१७ के पश्चात् उद्धृत श्लोक
३९. ज्ञानार्णव, ४२/१२	४०. वही, ४२/५
४१. वही, ४२/५२-५४	४२. वही, ४०/६
४३. ज्ञानार्णव, ४०/६-१०	४४. वही, ४०/१
४५. वही, ४०/३,५	४६. द्रष्टव्य- ज्ञानार्णव, ३९/४१-४३
४७. तत्त्वानुशासन, १९०	४८. ज्ञानार्णव, ३/१४
४९. वही, ४/३२-५५	५०. वही, ४/५६

- उपाचार्य एवं अध्यक्ष,
संस्कृत एस.डी. कालेज, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

नाट्यशास्त्र में प्राकृत व्याकरण के नियम

-प्रो.कमलेशकुमारजैन

भारतीय परम्परा में भरतमुनि द्वारा लिखा गया नाट्यशास्त्र एक बहुचर्चित एवं प्रतिष्ठित ग्रन्थ है। इसमें अनेक विषयों को समाहित किया गया है। नाट्यविद्या का तो यह आकर ग्रन्थ ही है। अतः नाट्य प्रयोगों के लिए परवर्ती नाट्याचार्यों ने प्रायः इसी ग्रन्थ का अनुसरण किया है। फलस्वरूप सभी नाट्याचार्य जहाँ आचार्य भरतमुनि के अनुयायी हैं, वहीं वे उनके ऋणी भी हैं।

रंगमंचों की शोभा रूपकों से होती है। दशरूपककार ने रूपकों के दश भेदों का निरूपण किया है। परवर्ती आचार्य रामचन्द्र-गुणभद्र ने रूपक के बारह भेदों का उल्लेख किया है। इन रूपकों में संस्कृत नाटक सर्वोपरि है।

आचार्य भरतमुनि ने संस्कृत रूपकों में प्रयुक्त होने वाली भाषाओं के चार भेद किये हैं :- अतिभाषा, आर्यभाषा, जातिभाषा और योन्यन्तरी भाषा। इनमें वैदिक शब्द बहुल भाषा को अतिभाषा, श्रेष्ठजन की भाषा आर्यभाषा और मनुष्येत्तर अथवा पशु-पक्षियों की भाषा योन्यन्तरी भाषा है। जातिभाषा के दो भेद हैं - संस्कृत और प्राकृत। इन दोनों भाषाओं का प्रयोग रूपकों किंवा संस्कृत नाटकों में पात्रों के अनुसार किया जाता है।

इन रूपकों अथवा संस्कृत नाटकों में भी मात्रा की दृष्टि से देखा जाये तो संस्कृत की अपेक्षा प्राकृत भाषा का प्रयोग प्रचुर मात्रा में पाया जाता है। अतः प्राकृत भाषा बहुल होने के कारण इन्हें भाषा की दृष्टि से प्राकृत नाटक कहा जा सकता है, किन्तु इनकी प्रकृति संस्कृत नाटकानुरूप है। अतएव इन्हें संस्कृत नाटक कहना ही उचित है। संस्कृत नाटककारों ने स्वतंत्र रूप से प्राकृत भाषा में लिखे गये रूपकों की एक विधा को सट्टक के नाम से स्वीकार किया है। कर्पूर मञ्जरी विलासवती, चंदलेहा, आनन्दसुंदरी, सिंगारमंजरी और रम्भामंजरी आदि रूपक ग्रन्थ सट्टक के रूप में प्रसिद्ध हैं।

आचार्य भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में प्राकृत भाषा के जिन सात भेदों का उल्लेख किया है, वे हैं- १. मागधी, २. अवन्तिजा, ३. प्राच्या, ४. शौरसेनी, ५. अर्धमागधी, ६. बाह्लीका और ७. दाक्षिणात्या। ये प्राकृत भाषाएँ प्रायः क्षेत्रीय भाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इनके अतिरिक्त शकार, आभीर, चाण्डाल, शबर, द्रविड़ और वनेचरों आदि की भाषाएँ भी हैं, जो देश, काल और पात्रों के अनुरूप संस्कृत रूपकों अथवा नाटकों में प्रयुक्त की गई हैं।

मुखसुख की दृष्टि से भाषाएँ सदैव प्रवहमान रही हैं। इनके रूप देश, काल और व्यक्ति के आधार पर बदलते रहे हैं। अतः भाषाशास्त्रियों ने इन्हें बोलचाल की भाषा अथवा बोली के रूप में प्रतिष्ठित किया है। किन्तु जब ये बोलियाँ साहित्य का रूप धारण कर लेती हैं और लिखित रूप में आ जाती हैं तो इन्हें कुछ विशेष नियमों में जकड़ दिया जाता है, जिससे आगामी पीढ़ी उन्हीं शब्दों का प्रयोग करे जो पूर्व में प्रतिष्ठित हो गये हैं। इससे अर्थ में प्रायः एकरूपता बनी रहती है। पूर्वापर शब्द रूपों में एकता बनाये रखने के लिये जिन विशेष नियमों को विद्वज्जन स्थापित करते हैं, वे ही नियम कालान्तर में व्याकरण का रूप धारण कर लेते हैं।

व्याकरण के कठोर नियमों में बँध जाने के कारण संस्कृत भाषा उत्तर-दक्षिण, पूर्व-पश्चिम एवं विदेशों में भी एकरूपता धारण किये हुए हैं। अतः किसी भी देश अथवा किसी भी काल में प्रयुक्त संस्कृत भाषा एक ही अर्थ को व्यक्त करती है। हजारों वर्ष पूर्व संस्कृत में लिखे गये शिलालेखों अथवा संस्कृत-ग्रन्थों में आज भी संस्कृत व्याकरण की कठोरता के कारण एकरूपता है। अर्थात् एक ही अर्थ को व्यक्त करते हैं।

प्राकृत भाषा को भी जब व्याकरण के नियमों में जकड़ दिया गया तो प्राकृत भाषा भी देश-काल की परिधि से बाहर निकल गई और उसमें भी पूर्वापर शब्द प्रयोगों में एकरूपता आ गई। यतः प्राकृत भाषा जनसामान्य की भाषा है, बोलचाल की भाषा है, अतः इसमें नित्य परिवर्तन होते गये और आचार्य भरतमुनि ने भी उन परिवर्तनों को देश-काल के अनुरूप स्वीकार कर उसके पूर्वोक्त सात भेदों का निरूपण किया है।

जैसे बाँध हमेशा पानी को आगे बढ़ने से रोकता है और उसे स्थिर कर देता है वैसे ही व्याकरण हमेशा भाषा के विकास को रोक देती है और उसे स्थिर करने का प्रयास करती है। यद्यपि प्राकृत भाषा को समय-समय पर व्याकरण के कठोर नियमों से बाँधा अवश्य गया है, किन्तु उसका प्रवाह रोकने में वैयाकरण पूर्णतः सफल नहीं हो सके हैं और यदि वे सफल भी हुये हैं तो उनकी सीमा साहित्यारुढ़ प्राकृत भाषा तक ही रही है। बोलचाल के रूप में प्रयुक्त प्राकृत भाषा आज भी प्रवहमान है। यतः प्राकृत भाषा आज भी प्राकृत भाषा ही है। अथवा प्राकृत भाषा का विकास है। आज जिन भी भारतीय आर्यभाषाओं का विकास हुआ है, वह प्राकृत भाषा से ही हुआ है।

प्राकृत भाषा के विविध रूपों को समेटना एक मुश्किल कार्य है, अतः संस्कृतज्ञों ने संस्कृत भाषा की तरह प्राकृत भाषा के विकास को रोकने के लिये प्राकृत सम्बन्धी व्याकरण शास्त्रों की रचना की है। यतः संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त होने वाली प्राकृत भाषा से जो संस्कृतज्ञ अनभिज्ञ थे और संस्कृत रूपक अथवा नाटक लिखना चाहते थे, उनके लिये भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में यह बतलाने का प्रयास किया है कि जो भी संस्कृतज्ञ प्राकृतभाषा से अपरिचित हैं और संस्कृत नाटकों के लेखन में अभिरूचि रखते हैं, वे संस्कृत नाटकों में प्रयुक्त अधम एवं स्त्रीपात्रों के मुख से बोले जाने वाले संवाद तदनुकूल प्राकृत भाषा में ही लिखें, इसके लिए भरतमुनि ने संस्कृत भाषा में चिन्तित संवादों को प्राकृत भाषा में कैसे परिवर्तित करें ? इसके कुछ नियम बनाये हैं, जिनका विवेचन इस प्रकार है :-

सर्वप्रथम यहाँ यह ज्ञातव्य है कि भरतमुनि ने प्राकृत भाषा को 'संस्कारगुणवर्जित' विशेषण से अभिहित किया है।¹³ इसका सामान्य अर्थ यह है कि जो भाषा संस्कार गुणों से सम्पन्न है अर्थात् संस्कारित है, वह भाषा संस्कृत है और उससे इतर प्राकृत भाषा संस्कार गुणों से रहित है।

संस्कृत नाटकों में प्राकृत भाषा के तीन रूप दिखलाई देते हैं- तत्सम, तद्भव और देशज।¹⁴ कमल, अमल, रेणु, तरंग, लोल, सलिल आदि शब्द रूप तत्सम हैं।¹⁵ क्योंकि ये शब्द संस्कृत भाषा और प्राकृत भाषा में समान रूप धारण करते हैं।

प्राकृत भाषा में किन-किन वर्णों का प्रयोग होता है और किन-किन वर्णों का प्रयोग नहीं होता है? इसका भी उल्लेख भरतमुनि ने किया है। वे लिखते हैं कि- संस्कृत भाषा में प्रयुक्त ए और ओ स्वर के पश्चात् परिगणित ऐ और औ तथा अनुस्वार (ँ) के पश्चात् प्रयुक्त होने वाले विसर्ग (:) का प्राकृत भाषा में प्रयोग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार ऋ, ॠ, लृ और लधु - इन

चार वर्णों तथा व और स के मध्य रहने वाले श और ष का, साथ ही कवर्ग, चवर्ग और तवर्ग के अन्तिम वर्णों अर्थात् ड., ज और न - इन तीन वर्णों का प्रयोग नहीं होता है।⁹ अर्थात् भरतमुनि के अनुसार प्राकृत भाषा में ऐ, औ, विसर्ग (:), ऋ, ॠ, लृ, लृ, श, ष, ड., ज और न - इन बारह वर्णों का प्रयोग नहीं होता है।

प्राकृत भाषा में, क, ख, ग, त, द, य और व का लोप हो जाता है और उक्त वर्णों का लोप होने के पश्चात् उन वर्णों के जो स्वर शेष रहते हैं, उनसे वही अर्थ निकलता है, जो उन वर्णों के रहने पर निकलता था। ख, घ, थ, ध और भ को ह आदेश होता है। यहाँ पर भी इस आदेश अथवा परिवर्तन के कारण अर्थ में कोई परिवर्तन नहीं होता।⁷ प्राकृत भाषा में वर्ण के ऊपर स्थित अर्थ रकार अथवा रेफ, या वर्ण के नीचे प्रयुक्त द का प्रयोग नहीं होता है। किन्तु यह नियम मद्र, वोद्रह, हृद, चंद्र और धात्री में लागू नहीं होता है।⁸

प्राकृत भाषा में ख, घ, थ, ध और भ को हकारादेश होने पर मुख का मुह, मेघ का मेह, कथा का कहा, वधू का बहु, प्रभूत का पहुँ हो जाता है। इसी प्रकार क, ग, द और व- इन चार वर्णों के प्रतिनिधि द्वितीय स्वर के रूप में रहते हैं।⁹ षट्पद आदि में रहने वाले मूर्धन्य षकार को नित्य छकार आदेश होता है और उसका प्राकृत रूप बनता है- छतपद। किल के ल को र होकर किर बनता है। कु को खु (खकार आदेश) हो जाता है।¹⁰ इसी प्रकार टकार को डकार हो जाता है, अतः भट, कुटी और तट के क्रमशः भद्र, कुडी और तड रूप बनते हैं। श और ष के स्थान पर सर्वत्र सकारा हो जाता है, अतः विष को विस और शंका का संका रूप बनता है।¹¹ शब्द के प्रारंभ में स्थित न रहने वाले इतर आदि शब्दों में स्थित तकार को दकार हो जाता है। नडवा और तडाग में स्थित डकार को लकार हो जाता है और उनके क्रमशः रूप बनते हैं बलवा और तलाग।¹² धकार को ढकार हो जाता है। सभी प्रयोगों में नकार के स्थान पर णकार हो जाता है। जैसे आपान को आवाण।¹³ इसी प्रकार पकार को वकार हो जाता है, जैसे आपान को आवाण। यथा और तथा शब्दों में प्रयुक्त यकार को छोड़कर शेष सभी स्थानों पर यकार को धकार हो जाता है।¹⁴ पकार को फकार आदेश भी होता है, जैसे परुसं का फरुसं। मृग और मृत - इन दोनों शब्दों का प्राकृत में मओ रूप बनता है।¹⁵ औषध आदि के औ का ओकार हो जाता है तथा औषध का प्राकृत रूप बनता है ओसढ। प्रचय, अचिर और अचल शब्दों में स्थित चकार का यकार हो जाता है और उनके क्रमशः रूप बनेंगे - पयय, अयिर और अयल।¹⁶

यहाँ तक भरतमुनि ने असंयुक्त वर्णों का प्राकृत भाषा में कैसे परिवर्तन होता है, यह बतलाया है। अब आगे संयुक्त वर्णों में किस प्रकार का परिवर्तन होता है, इसका विवेचन किया है, जो इस प्रकार है -

श्च, प्स, त्थ और थ्य को छकार, भ्य, हच और ध्य को झकार आदेश होता है। ष्ट को ट्ट, स्त को त्थय, ष्य को म्ह, क्षण को ण्ह, ण्ण को प्ह, ण्ह, क्ष को रुख रूप बनता है।¹⁷

इन नियमों को ध्यान में रखकर जो रूप बनते हैं- आश्चर्य को अच्छरियं, निश्चय को णिच्छय, वत्सं को बच्छं अप्सरसं को अच्छरअं उत्साह को अच्छाह और पथ्य को प्रच्छ।¹⁸

इसी प्रकार तुभ्यं को तुज्झं, महयं को मज्झं, विन्ध्य को बिंज्झ दष्ट को दट्ट, और हस्त को हत्थ रूप बनता है।¹⁹

ग्रीष्म को गिम्ह, श्लक्ष्ण को सण्ह, उण्ण को उण्ह, कृष्ण को कण्ह यक्ष को जक्ख तथा पर्यङ्क को पल्लंक् रूप बनता है।²⁰

ब्रह्मा आदि शब्दों में ह और म के योग में ये दोनों वर्ण परस्पर एक दूसरे का स्थान ग्रहण कर लेते हैं। फलस्वरूप ब्रह्मा का बम्हा रूप बनता है। बृहस्पति शब्द में पकार का फकार होकर बुहप्फई रूप बनता है। इसी प्रकार यज्ञ का जण्ह, भीष्म को भिम्ह रूप बनता है।²¹

जब क किसी वर्ण के साथ संयुक्त हो या वर्ण ऊपर रेफ आदि अन्य वर्ण हो तो उच्चारण के क्रम में इनका रूप संयोग रहित होता है, जैसे शक्र को सक्क और अर्क को अक्क आदि।²²

संस्कृत रूपकों अथवा नाटकों में प्रयुक्त होने वाली जिन चार भाषाओं का प्रारंभ में उल्लेख किया गया है, उनमें देवगण की भाषा अतिभाषा, राजाओं अथवा शिष्ट जन की भाषा आर्यभाषा होती है। जाति भाषा के दो भेद हैं - अनार्य और म्लेच्छ।²³

भरतमुनि का मत है कि नाटकों में जात्यन्तरी भाषा का प्रयोग ग्राम तथा जंगल में रहने वाले पशु-पक्षियों के मुख से बुलवाने में करना चाहिए।²⁴

भरतमुनि के अनुसार सामान्य रूप से धीरोद्धत, धीरललित, धीरोदात्त ओर धीरप्रशान्त- इन चार प्रकार के नायकों के मुख से संस्कृत भाषा का ही प्रयोग करना चाहिये, किन्तु आवश्यकतानुसार प्राकृत भाषा का भी प्रयोग किया जा सकता है। विशेषकर उस परिस्थिति में जब कोई राजा आदि उत्तम पात्र ऐश्वर्य पाकर मदोन्मत्त हो जाये अथवा दारिद्र्य से ग्रस्त हो जाये। जो पात्र किसी कारण विशेष से साधु- सन्यासी का वेष धारण करते हैं अथवा वाजीगर के रूप में संस्कृत नाटकों में अपनी भूमिका निभाते हैं, अथवा बालक हैं, भूत-पिशाच से ग्रस्त हैं, स्त्री प्रकृति के पुरुष हैं, नीच जाति के पुरुष हैं, कफनी-झोलाधारी पाखण्डी साधु हैं तो इनके मुख से भी प्राकृत भाषा में संवाद प्रस्तुत करना चाहिये।²⁵

आचार्य भरतमुनि के अनुसार संस्कृत नाटकों में अप्सराओं आदि के संवाद सामान्यतः संस्कृत भाषा में रखने का विधान है, किन्तु जब वे अप्सराएँ आदि पृथिवी पर विचरण कर रही हों तो उनके संवाद स्वाभाविक या स्वेच्छापूर्वक प्राकृतभाषा में ही रखना चाहिये। हाँ ? जब ये किसी मानव की पत्नी के रूप में रहें तब अवसरानुकूल संस्कृत अथवा प्राकृत भाषा में संवाद रखना चाहिए।²⁶

बर्बर, किरात, आन्ध्र और द्रविड़ जाति से सम्बन्धित पात्रों के मुख से केवल शौरसेनी प्राकृत से मिलती-जुलती भाषा का ही प्रयोग करना चाहिये।²⁷

प्राकृत भाषा के जिन सात भेदों की चर्चा प्रारंभ में की गई है, उनमें से राजा के अन्तःपुर के रक्षक और सेवक मागधी प्राकृत तथा राजपुत्र, चेट और श्रेष्ठिजन के मुख से अर्धमागधी प्राकृतभाषा का प्रयोग कराने का विधान है।²⁸

विदूषक और उनके जैसे अन्य पात्रों की भाषा प्राच्या, धूर्तवृत्ति के पात्रों की भाषा अवन्ती रखी जाये। यदि कोई दिक्कत न हो तो नायिका और उनकी सखियों की भाषा में शौरसेनी प्राकृत भाषा का प्रयोग किया जाये।²⁹

सैनिकों, जुआरियों और नगर के उत्तरभाग में रहने वाले खसों अर्थात् पहाड़ी प्रदेश के निवासी लोगों की अपनी देशभाषा बाह्लीकी प्राकृत रखी जाये।³⁰

संस्कृत नाटकों में शकार, शक और शबर जाति के या उनके अनुरूप स्वभाव वाले लोगों की भाषा शाकारी रखना उचित है।³¹

उदाहरण के लिये आप देखें कि नाटयशास्त्र के नियमों को आधार बनाकर मृच्छकटिक में शूद्रक ने शकार के मुख से शाकारी भाषा का ही प्रयोग कराया है।³²

पुल्कस-डोम और उसके समान अन्य नीच जातियों के लोगों की भाषा चाण्डाली रखनी चाहिये।³³

कोयले के व्यवसायी, बहेलिया (व्याध), लकड़ी और पत्तों को जंगल में ढोकर अपनी आजीविका चलाने वाले श्रमिकों तथा जंगल के निवासी लोगों की भाषा शकार भाषा होनी चाहिये। जहाँ सभी, घोड़े, बकरे, भेड़, ऊँट, बैल अथवा गायों को बाँधा जाये अथवा रखा जाये, उन स्थानों के निवासियों की भाषा आभीरी अथवा शाबरी भाषा रखी जाये। द्रविड़ आदि देशों के व्यक्तियों या वनवासियों की भाषा द्राविड़ी भाषा रखी जाये। सुरंग आदि खोदने वाले मजदूर, जेलों के पहरेदार, घोड़ों के सईस (या ऊँटों के रेवारी) या आपत्ति में पड़ा नायक, या उसके सदृश जो भी अन्य पात्र हैं, वे अपने स्वरूप के दक्षणार्थ अथवा अपने स्वरूप को छिपाने के लिये उनके मुख से मागधी प्राकृत में संवाद प्रस्तुत किये जायें।³⁴

भारत की गंगा नदी और सागर के मध्यवर्ती प्रदेशों की भाषा एकार बहुला, विन्ध्याचल और सागर के मध्यवर्ती पात्रों की भाषा नकार बहुला, वेत्रवती नदी के उत्तरवर्ती प्रदेशों तथा सौराष्ट्र एवं अवन्ती देशों की भाषा चकार बहुला, हिमाचल पर्वत, सिन्धु तथा सौवीर देश के समीपवर्ती रहने वाले पात्रों की भाषा उकार बहुला, चम्बल नदी के उस पार अरावली पर्वत अर्थात् मेवाड़ और मारवाड़ आदि प्रदेशों से संबन्धित पात्रों की भाषा ओकार (या तकार) बहुला भाषा रखने का विधान है।³⁵

ये सभी भाषा रूप विविध प्राकृत भाषाओं के ही रूप हैं। उपर्युक्त के अतिरिक्त भरतमुनि का मत है कि- भाषागत जो बातें उक्त नियमों में संकलित न हो पाई हों, उन्हें पात्रानुसार लोकाचार अथवा सामान्य व्यवहार से संग्रहीत कर लेना चाहिये। यहाँ भी सामान्य लोगों की भाषा अर्थात् प्राकृत भाषा के संवाद रखने का विधान है।³⁶

इस प्रकार हम देखते हैं कि आचार्य भरतमुनि ने संस्कृत रूपकों अथवा नाटकों में प्रयुक्त होनी वाली विविध प्राकृत भाषाओं का विधान किया है और अन्त में यह भी लिख दिया है कि जिन भाषागत नियमों का उपर्युक्त नियमों में समावेश न हुआ हो उन्हें लोकाचार अथवा सामान्य रूप से व्यवहार में प्रयुक्त होने वाली भाषा को आधार बनाकर तत् तत् पात्रों के संवादों का संयोजन करना चाहिये।

आचार्य भरतमुनि के अनुसार संस्कृत रूपकों अथवा नाटकों में प्रयुक्त होने वाली उपर्युक्त प्राकृत भाषाओं के संदर्भ में विचार करने पर दो बातें बहुत स्पष्ट होती हैं। प्रथम यह कि संस्कृत रूपकों अथवा नाटकों में प्राकृत भाषा का समावेश अवश्यम्भावी है। क्योंकि प्रायः सामान्यजन एवं स्त्री पात्र सुसंस्कृत न होने से संस्कृत नाटकों में भी अपनी स्वाभाविक बोलचाल की भाषा प्राकृत ही बोलेंगे। अतः उन्होंने संस्कृत नाटककारों को पहले ही सावधान कर दिया है कि नाटकों में संवाद लिखते समय पात्रों की योग्यता का परीक्षण अवश्यम्भावी है। द्वितीय यह कि जो भी नाटक लिखे जाते हैं उनका एक उद्देश्य दृश्य काव्य के रूप में जन सामान्य के समक्ष प्रस्तुत करके रसास्वादन कराना भी है। अतः ऐसे प्रसंगों में सामान्य मजदूर आदि लोगों के संवाद भी यदि संस्कृत भाषा में रखे जायेंगे तो वे संवाद स्वाभाविक न होकर कृत्रिम प्रतीत होंगे और कृत्रिम

प्रतीत होने पर सामान्य दर्शक को जो रसास्वादन होना चाहिये, वह न हो सकेगा। इन सबके अतिरिक्त जो पात्र जिस भाषा का ज्ञाता होता है, उसी भाषा का समावेश संस्कृत नाटककारों को उनके संवादों में करना चाहिये। जिससे दृश्यकाव्यों में स्वाभाविकता बनी रहे।

जब कोई भी संस्कृत नाटककार संस्कृत नाटकों की रचना करेगा तो वह एक ही स्थान पर बैठकर करेगा, न कि नाटक में प्रयुक्त तत् तत् स्थानों पर जाकर करेगा। अतः आचार्य भरतमुनि ने उन उन पात्रों द्वारा प्रयुक्त भाषा का निर्माण कैसे किया जाये, उसका उल्लेख अपने नाट्यशास्त्र में किया है।

यतः संस्कृत नाटक देश-कालातीत हैं, अतः उनकी प्राकृत भाषा भी एकसूत्र में बँधी रहे, इसके लिये भरतमुनि ने प्राकृत भाषा के व्याकरण सम्बन्धी नियमों का उल्लेख किया है। इससे अर्थों में एकरूपता बनाये रखने में सुविधा रहेगी।

संदर्भ :-

1. नाट्यशास्त्रम् (द्वितीयो भागः) श्री बाबूलाल शुक्ल शास्त्री, प्रका. चौखम्भा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, प्रथम संस्करण, वि.सं. 2035, अध्याय 18/26
2. नाट्यशास्त्रम् 18/47
3. नाट्यशास्त्रम् 18/2
4. वही, 18/3
5. वही, 18/4
6. वही, 18/6
7. वही, 18/7
8. वही, 18/8
9. वही, 18/9
10. वही, 18/10
11. वही, 18/11
12. वही, 18/12
13. वही, 18/13
14. वही, 18/14
15. वही, 18/15
16. वही, 18/16
17. वही, 18/18
18. वही, 18/19
19. वही, 18/20
20. वही, 18/21
21. वही, 18/22
22. वही, 18/23
23. वही, 18/28
24. वही, 18/29
25. वही, 18/31/35
26. वही, 18/43
27. वही, 18/45
28. वही, 18/49
29. वही, 18/50
30. वही, 18/51
31. वही, 18/52
32. वही, 18/52 की टिप्पणी
33. वही, 18/52
34. वही, 18/53/54
35. वही, 18/56/60
36. वही, 18/61

- रवीन्द्रपुरी, वाराणसी (उ.प्र.)

जैन शिल्प विधान का स्वरूप

-डॉ. मुक्तिपाराशर

प्राचीन कलाओं में भारत में मूर्तिकला सर्वाधिक लोकप्रिय थी। यह मानव जीवन के अभिन्न अंग के रूप में लौकिक परम्पराओं में व्याप्त थी। भारतीय जीवन के विभिन्न आदर्शों की प्रगति ही मूर्तिकला का उद्देश्य रहा है। मूर्तिकला में हमारी धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक परम्पराएँ समाहित हैं। धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष का समन्वय ही भारतीय मूर्तिकला का आदर्श है। भारतीय कला विशेषकर धर्म से ज्यादा प्रभावित रही है और वैष्णव, बौद्ध, शाक्त्य जैनधर्म आदि धर्मों ने इसे विषय प्रदान किये और इसने भी इनके प्रचार-प्रसार में अपना सहयोग दिया।

भारतीय मूर्तिकला विशेषतः काम साध्य है। मूर्तिकला अपनी विविध रूपों से मानव को आह्लादित कर उसमें स्वस्थ मानसिकता का विकास करती है। कला में इच्छा का अपना महत्व है। मूर्तिकला हो या चित्रकला - मनु ने कहा था कि कामाभाव में कोई कर्मसंभव नहीं है। व्यक्ति जो भी कर्म करता है वह इच्छा से ही प्रेरित होता है।

अकामस्य क्रिया काचिदृष्यते नेह कश्चिचित्।

यद्धपि कुरुते किञ्चित्तता चेष्टितम्॥

काम से ही बौद्धिक प्रगति होती है और कल्पनाएँ साकार रूप लेती हैं। सर्वप्रथम इस बात पर ध्यान दें कि मूर्ति निर्माण के दो उद्देश्य रहे हैं - (१) अतीत का संरक्षण अर्थात् स्मृति को जीवित रखने की (२) अव्यक्त की मूर्त अभिव्यक्ति के लिए।

कला सामान्यतः व्यंग्यात्मक होती है। कृत्रिमरूप की रचना करना मानवोचित स्वभाव सा है। वृक्ष की एक टहनी को वृक्ष मान लेना, पत्ते का बैल बनाकर आनन्द मनाना, पत्र की नाव बनाकर, उसे पानी में बहाकर तालीपीटना आदि। यही व्यंग्य आध्यात्मिक और धार्मिक भावनाओं के उच्च स्तर का आश्रय लेकर मन्दिर और मूर्ति को पूज्यता प्रदान करने तथा उसमें देवताओं की प्रतिष्ठा करने का प्रधान कारण होती है।^१ अ भारतीय मूर्ति में व्यंजना की अद्भुत क्षमता है। यहाँ के कलाकारों ने मूर्ति को अत्याधिक शालीन रूप में प्रस्तुत किया है। सैन्धव काल से वर्तमान काल तक की अवधि में देशकाल परिस्थिति के अनुसार मूर्तिकला ने अनेक शैलियों में जन्म लिया है। मूर्ति की शैली में जब-जब परिवर्तन हुआ वह एक युग विशेष की पहचान हो गई। यहाँ, पत्थर का तक्षण करके, धातु को ठालकर, ठप्पा लगाकर, हाथ से बनी मिट्टी की मूर्तियाँ मिलती हैं।

भारतीय कला में जैन धर्म का विशेष प्रभाव रहा है चाहे चित्रकला हो, चाहे मूर्तिकला जैन दर्शन ने कलाकार की अभिव्यक्ति के लिए उसे अनुभूति के दर्शन का विषय दिया है। मानसिक, इन्द्र, कल्पनाओं एवं अनुभूतियों को जब वह साकार करता है तो निश्चय ही वह दर्शक को कुछ उत्कृष्टता सिद्धि प्रदान करना चाहता है। जैन मूर्तिकला में वास्तव में आध्यात्मिक भावना मूर्ति के अन्तः से झाँकती रहती है, इसलिए यह मूर्तिकला विचार या भाव प्रदान मानी गई है।

जैन धर्म की आत्मा उसकी मूर्तिकला में स्पष्ट झलकती है। जैन धर्म में जैन स्थल, मन्दिर, मूर्तियाँ, उपासनास्थल या तो पर्वतों की चोटियों पर होते हैं अथवा शान्त, सुरम्य, हरे-भरे स्थलों में स्थित होते हैं। मूलतः यह भाव एकाग्र, ध्यान और आध्यात्मिक चिन्तन में सहायक होता है।¹²

इन्हीं स्थानों पर मन्दिरों की स्थापत्य कला और सबसे अधिक मूर्तिमान तीर्थङ्कर मूर्तियाँ व अन्य जैन धर्म की मूर्तियाँ अपनी शांति, एकाग्रता, तप व वीतराग के भाव का परम आनन्द प्रदान करती हैं। जैनधर्म की मूर्तियाँ जैन दर्शन के साथ-साथ उनके निर्माणकर्ताओं की कलासाधना को भी दर्शाती हैं। विभिन्न क्षेत्रों से प्राप्त कलात्मक मूर्तियों में जैनकला का वैशिष्ट्य देखने में आता है। तीर्थङ्कर भगवतों के दोनों पार्श्व में यक्ष-यक्षिणियों की युगल मूर्तियाँ मुख्यतः जैन तीर्थङ्करों तथा कला शिल्पियों के लोकजीवन के प्रति अनुराग की प्रतीक हैं।¹³

जैन धर्म से सम्बन्धित कई ग्रन्थ हैं जिनमें इन मूर्ति के शास्त्रीय नियमों का ज्ञान प्राप्त होता है। निर्वाण कलिका, प्रतिष्ठा सारोद्धार, अभिज्ञान चिन्तामणि, वास्तुसार प्रकरण, मानसार, अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन, देवतामूर्तिप्रकरण आदि। इन ग्रन्थों में मूर्ति, वास्तु व स्थापत्य का विवरण दिया गया है।

जैन धर्म के आद्य पर्वतक भगवान ऋषभदेव के सम्बन्ध में प्रमाणित विवरण सर्वप्रथम ऋग्वेद में मिलता है। यहाँ उनका उल्लेख अपने अधीनस्थों को समृद्धि प्रदान करने वाले राजा के रूप में किया गया है। उस समय अधिकांश जैन तीर्थकर क्षत्रिय थे और राजवंशों से सम्बन्धित थे।¹⁴

वैदिक साहित्य में जैनधर्म को स्वतंत्र अस्तित्व के रूप में निश्चित संकेत नहीं है। वैदिक काल के उपरान्त पौराणिक काल में आकर भी जैन तीर्थङ्कर स्वयं को ब्राह्मण देवताओं से पूर्णतया पृथक् नहीं कर पाये थे। शिव पुराण में ऋषभदेव को शिव के योगावतारों में एक कहा गया है।¹⁵ तथा इसी पुराण में एक अन्य स्थान पर पुनः शिव के ऋषभावतार का उल्लेख है।¹⁶ भागवत और गरुड़ पुराण में भी ऋषभदेव की गणना वैष्णव अवतारों के अन्तर्गत की गई है तथा ऋषभदेव की उत्पत्ति से संबंधित कथाएँ भागवत पुराण, महापुराण और आदि पुराण में उपलब्ध हैं।¹⁷

जैन तीर्थङ्करों को विष्णु का अवतार बताने की परम्परा मध्यकाल तक चलती रही है - अपराजितपृच्छा में एक स्थान पर स्पष्ट कहा गया है कि - कलियुग आने पर विष्णु समुद्र और विजया के पुत्र नेमिनाथ नामक बाइसवें तीर्थकर के रूप में गिरिमस्तक पर जन्म लेंगे। अतः यह भी कहा गया है कि - इस बुद्धयुक्त कलियुग में दिगंबर, श्वेताम्बर और केवलिन भी होंगे। इन ऋषभादि तीर्थङ्करों की संख्या २४ होगी, इतनी ही संख्या में उनके शासन देवता और यक्ष तथा प्रत्येक के अलग-अलग आठ प्रातिहार भी होंगे।¹⁸

अपराजितपृच्छा ग्रन्थ में जिनेन्द्र मूर्तिलक्षण-सम्बन्धी विवरण भी वैष्णव धर्म के एक अंग रूप में ही है। रूपमण्डन, अपराजित पृच्छा ग्रन्थों में जैन तीर्थङ्करों एवं उनकी यक्ष-यक्षिणियों (शासक देवता) को सुनियोजित विवरण प्रस्तुत है। जैन तीर्थङ्करों के यक्ष व यक्षिणी (शासन देवताओं) के निम्न नामों से जाना जाता है। जैसे -

तीर्थकर	यक्ष	यक्षिणी
(१) ऋषभदेव	गोमुख	चक्रेश्वरी
(२) अजितनाथ	महायक्ष	अजितबला, रोहिणी
(६) पद्मनाभ	कुसुम	मनोवेगा, श्यामा

(१४) अनन्तनाथ	पाताल	अंकुशी, अनन्तमति
(१५) धर्मनाथ	किन्नर	पद्मावती
(२३) पार्श्वनाथ	पार्श्व	पद्मावती
(२४) महावीर	मातंग	सिद्धायिका

सभी प्राचीन शास्त्रों में जैन तीर्थङ्करों को सामान्यतया अजानुलम्बबाहु, श्रीवत्स से युक्त, प्रशान्त, दिगम्बर, तरुण, रूपवान तथा कायोत्सर्ग अथवा पद्मासन मुद्रा में स्थित निर्मित करने का निर्देश दिया गया है। जैन तीर्थकर प्रतिमा चामर, तीन छत्र, अशोक वृक्ष, पुष्पवृष्टि, दिव्य ध्वनि, यक्ष-यक्षिणियों तथा अपने लाँछनों (चिन्हों) से युक्त होना चाहिए। जिन मूर्ति तीन छत्रों से युक्त एवं त्रिरथ प्रकार की होनी चाहिए। अशोक वृक्ष के पत्ते, देव दुन्दुभिवादक, सिंहासन, असुर, गज व सिंहों से विभूषित हो। प्रतिमाओं के मध्य में धर्मचक्र एवं आस-पास यक्षिणियाँ निर्मित हो। ऊपर तोरण हो और प्रतिमा के बाह्य पक्ष में गौसिंहादि से अलंकृत वाहिकायें, विभिन्न देवताओं से युक्त द्वारशाखायें तथा ब्राह्म, विठ्ठल, चन्द्रिका, जिन, गौरी एवं गणेश से युक्त रथिकायें हो। रूपमण्डन में आदिनाथ के कैलाश, नेमि के सोमशरण, पार्श्व का सिद्धिवर्ति एवं महावीर के सदाशिव सिंहासनों का उल्लेख है। इन तीर्थङ्करों के साथ धर्मचक्र एवं छत्र निर्मित करने का निर्देश दिया गया है। तीर्थकरों के रंग व उनके ध्वजचिन्ह (लाञ्छन) का भी निर्देश है। इनकी सूची लगभग ८ वीं - ९ वीं ई. में बनी

जैसे - तीर्थकर	वर्ण	लाञ्छन
(१) ऋषभनाथ	सुवर्णवत्	वृषभ
(२) अजितनाथ	सुवर्णवत्	गज
(३) सम्भवनाथ	सुवर्णवत्	अश्व
(७) सुपार्श्वनाथ	हरित	स्वास्तिक
(२१) नमिनाथ	सुवर्णवत्	नीलोत्पल
(२२) नेमिनाथ	श्याम	शंख
(२३) पार्श्वनाथ	हरित्	सर्प, फणी
(२४) महावीर	सुवर्णवत्	सिंह ^{१०}

भारतीय शिल्प में तीर्थङ्कर प्रतिमायें कुषाण काल से सर्वप्रथम प्राप्त होकर मध्ययुग तक मिलती हैं। जैन शिल्प मथुरा, लखनऊ, इलाहाबाद, पटना, भरतपुर, कोटा, जयपुर, दिल्ली, वाराणसी, खजुराहो, बम्बई, नागपुर, श्रीनगर, लंदन आदि संग्रहालयों में सुरक्षित हैं। ये तीन प्रकार की प्रतिमायें हैं - कायोत्सर्ग प्रतिमायें, आसन प्रतिमायें तथा सर्वतोभद्रिका प्रतिमायें। इनमें कायोत्सर्ग या खड़ी मुद्रा की प्रतिमाओं में तीर्थङ्कर के हाथों को नीचे सीधे लटकाकर बनाया गया है। आसन प्रतिमाओं में तीर्थङ्कर पद्मासन मुद्रा में बैठे हैं। तथा सर्वतोभद्रिका प्रतिमाओं में चार तीर्थकरों को चार दिशाओं की ओर मुख करके स्थानक अथवा आसन-मुद्रा में निर्मित किया गया है।

कुषाणकालीन जैन तीर्थङ्करों की प्रतिमाओं को लाँछन रहित बनाया है। इनमें ऋषभनाथ को जटाधारी, सुपार्श्वनाथ को एक, पाँच व नौ सर्पफणों तथा पार्श्वनाथ को तीन, सात अथवा ग्यारह फणों व नेमिनाथ को कृष्ण व बलराम से घिरा हुआ बनाया गया है। गुप्तकाल में भी लाञ्छन

युक्त प्रतिमायें कम हैं। किन्तु गुप्तोत्तरकाल में प्रत्येक तीर्थकरों के पादपीठ पर लाछन मिलने लगता है। इन सभी मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवत्स चिन्ह है।

प्रारम्भ में पादपीठ पर केवल धर्मचक्र, सिंहयुग्म और पूजकों को मूर्तियों के साथ बनाया गया है किन्तु बाद के समय में तीन छत्र, दुन्दुभिवादकों यक्ष-यक्षणियों, गजयुग्म, वृषयुग्म, मृगयुग्म आदि का अंकन भी है। २४ तीर्थकरों में से ज्यादातर प्रतिमाएँ पार्श्वनाथ, शान्तिनाथ, नेमिनाथ तथा महावीर की मिलती है।

यह माना जा सकता है कि २४ तीर्थङ्करों की मूर्तभावना ईस्वी पूर्व के प्रारम्भ के कुछ पूर्व ही सूची निर्धारित हुई थी। ये सूचियाँ ४७३ ई. से मिलती है। ११ जैनमूर्ति का उत्कीर्णन प्रथमतया लगभग दूसरी सदी ई.पू. में प्रारम्भ हुआ था जिसका प्राचीनतम उदाहरण पटना के समीप लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन जैन मूर्ति है। १२

इसके बाद की मूर्ति ऋषभनाथ की शाहाबाद के चौसा नामक स्थान से प्राप्त हुई जो अब पटना संग्रहालय में है। इसमें तीर्थङ्कर एक ऊँची चौकी पर पद्मासन में विराजमान है। उनके सिर के पीछे पद्माकृत प्रभामण्डल है तथा कन्धों पर लगती जटाएँ हैं, यह कांस्य प्रतिमा एक मूर्ति ऋषभनाथ की गया जिले से मिली है जो कायोत्सर्ग मुद्रा में है। अण्डाकार प्रभामण्डल, कन्धों तक जटायें हैं। पादपीठ पर वृक्ष लाछन, सिंह युग्म व कई पूजक आकृतियाँ हैं। यह पत्थर की मूर्ति है। दोनों ओर छोटी स्थानक मूर्तियाँ भी बनी हैं। एक अन्य मूर्ति कांस्य की कायोत्सर्ग मुद्रा में है। ऐसी कई मूर्तियाँ तीर्थङ्करों की प्राप्त होती हैं जो लाछन युक्त व पादपीठ युक्त हैं।

राजस्थान और गुजरात में जैन धर्म का व्यापक प्रभाव था तथा जैनमन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण भी अधिक हुए। एक मूर्ति महावीर की है जो कांस्य प्रतिमा है व महाराष्ट्र में प्रिंस ऑफ वेल्स म्यूजियम बम्बई में है। इसमें श्वेताम्बर महावीर कायोत्सर्ग मुद्रा में खड़े हैं। वे अधोवस्त्र धारण किये हैं। सिर के पीछे वृत्ताकार प्रभामण्डल है। मूर्ति के शीर्ष पर तीन छत्र हैं तथा परिकर में पद्मासन मुद्रा में २३ तीर्थकरों, वादकों, विद्याधरों एवं चावरधारियों को उत्कीर्ण किया है। इनके वामपार्श्व में यक्षणि सिद्धायिका, दक्षिण पार्श्व में यक्ष मातंग तथा पादपीठ के नीचे सिंह लाछन भी बनाया गया है। शास्त्रों में केवल २४ तीर्थकरों के ही नहीं वरन् उनके साथ यक्ष व यक्षिणियों की प्रतिमाओं के भी निश्चित लक्षण हैं। इनमें कुछ यक्ष व यक्षिणियों का विवेचन निम्नासुर है-

यक्ष :-

- (१) गोमुख - अलग-अलग जैन ग्रन्थों में इसका विवरण भिन्न है किन्तु फिर भी रूपमण्डन के अनुसार गोमुख की गजमुख व हेमवर्ण कहा गया है। इनके हाथ क्रमशः वरद मुद्रा, अक्षसूत्र, पाश एवं बीजपूरक युक्त बनाये गये हैं।
- (२) मतायक्ष - इसका वर्ण श्याम, गज पर आसीन, अष्टभुज, हाथ क्रमशः वरदमुद्रा, अभयमुद्रा मुद्गर, अक्ष, धाश, अंकुश, शक्ति एवं मातुलिंग से युक्त हो। इसको प्रायः अजितनाथ के पार्श्व में ही बनाया गया है।
- (३) त्रिमुख - यह मयूरस्थ, त्रिनेत्र, त्रिवक्त्र, श्याम वर्ण एवं षड्भुज हो और उनके हाथ क्रमशः पशु, अक्ष, गदा, चक्र, शंख एवं वरद मुद्रा युक्त हो। ऐसे ही चतुरानन्द, तुम्बरू, कुसुम, मातंग, विजय, जय, ब्रह्म, यक्षेत्, कुमार, षण्मुख, पाताल, किन्तेश,

गरुड़, गन्धर्व, यक्षेत्, कुबे वरूण, भृकुटि, गोमेध, पार्श्व व मातंग का निर्माण उनकी विशेषताओं के साथ है ताकि उन के भेद आसानी से किया जा सके।

इसी तरह कुछ शासन देवता (यक्षिणी) का विवरण निम्नांकित है -

- (१) चक्रेश्वरी - यह प्रथम जैन तीर्थङ्कर ऋषभदेव की यक्षिणी है। इसका वर्ण सुवर्ण के समान है, वे पद्मासन मुद्रा में गरुड़ पर बैठी हो तथा उनके छह पैर एवं १२ भुजाएँ हो, जिनमें आठ हाथों में चक्र, दो में वज्र धारण किये हो और शेष २ में मातुलिंग एवं अभय मुद्रा युक्त हो।¹³ मूर्तिकला में यक्षिणी चक्रेश्वरी की मूर्तियाँ प्रचुर संख्या में उपलब्ध हैं। ऐसी मूर्ति चित्तौड़गढ़ में पद्मिनी महत्व के निकट बने जलाशय की दीवार पर उत्कीर्ण देखी जा सकती है।
- (२) रोहिणी - इसका उल्लेख अपराजिता नाम से भी हुआ है। वर्ण गीता और वाहन गोधा हो, उनके चारों हाथ वरदमुद्रा, पाश, अंकुश एवं बीजपूरक से युक्त हो।¹⁴
- (३) कालिका (शांता) - यह सुपार्श्वनाथ की यक्षिणी है। कालिका कृष्णवर्ण, अष्टभुज, और महिष पर विराजमान हो। इनके हाथ क्रमशः त्रिशूल, पाश, अंकुश, धनुष, बाण, चक्र व अभयमुद्रा युक्त हो।¹⁵
- (४) अम्बिका - नेमिनाथ की यक्षिणी जिसकी दो भुजाएँ हो वर्ण हरित हो, वे सिंह पर आसीन हो उनकी दोनों हाथ फल व वरद मुद्रा से युक्त हो। क्रोड़ में एक शिशु उपासना करता उपस्थित हो।¹⁶
- (५) पद्मावती - पार्श्वनाथ की यक्षिणी रक्तवर्णी चतुर्भुजी, पद्मासना और कुवकुतस्या युक्त हो। हाथ क्रमशः पाशे अंकुश पदम और वरदमुद्रा युक्त हो। ऐसी मूर्ति देवगढ़ की बाह्य भित्ति पर उत्कीर्ण देखी जा सकती है। यह लक्ष्मी के रूप में बनाई गई है। इनके अलावा अन्य यक्षिणीयाँ हैं जिनके नाम :- प्रज्ञावती, वज्रशृङ्खला (कालिका), नरक्षता (मताकाली), मनोवेगा (श्यामा), भृकुटी (डवालामालिनी), महाकाली (सुताइका), मानवी (अशोका), गौरी (मानवी), (गान्धारी चण्डी), विराटा (विदिता), अनन्तमति, मानसी, निर्वाणी, जया (बला), विजया, अपराजिता (धरणाप्रिया), बहुरूपा, चामुण्डा (गन्धर्वा), सिद्धायिका है। इनके भी विशेष लक्षण बताये गये हैं। जिनके आधार पर भारतीय मूर्तिकला में इनकी प्रतिमायें बनाई गई हैं। यक्ष-यक्षिणियों के अतिरिक्त जैन प्रातिहारों, इन्द्र, इन्द्रजय, महेन्द्र, विजय, धरणेन्द्र, पद्मक, सुनाभ और सुरदुन्दुभि के निर्माण प्रतीक का भी संकेत शास्त्रों में निहित है जिसके आधार पर इनकी भी प्रतिमाएँ बनी हैं।¹⁷ विभिन्न प्रातिहार मूर्तियाँ सतनीस देवरी नामक जैन मन्दिर के प्रवेश द्वारों पर तथा दो जैनकीर्तिस्तम्भ के निकट स्थित महावीर मन्दिर के प्रवेश द्वार पर हैं।¹⁸

जैन देव परिवार में तीर्थङ्करों के रक्षक के रूप में जो यक्ष-यक्षिणी या देव तथा देवी आकृतियाँ बनी हैं वह लक्षणों में हिन्दू देवी-देवताओं की प्रतिलिपि प्रतीत होती हैं। इनके अतिरिक्त जैन धर्म

में १६ श्रुत देवता या विद्या देवियाँ है जिनकी अधिष्ठात्री देवी सरस्वती है। जैन-सरस्वती का पाषाण में प्रारम्भिक मूर्त रूपांकन विक्रम संवत् ५४ (तीसरी ईस्वी पूर्व)मथुरा से प्राप्त होता है। १९

भारतीय मूर्तिकला में जैन धर्म की प्रतिमाओं को शास्त्रों के अनुसार बनाया गया। भारत के विभिन्न स्थानों पर विशेषकर राजस्थान में जैन मंदिर व इससे सम्बन्धित मूर्तियोंकी अधिकता है। कोटा के संदर्भ में देखें तो - कोटा संग्रहालय में राजस्थान की सम्पन्न मूर्तिकला का एक बड़ा केन्द्र है। यहाँ लगभग सभी विषयों की लगभग ८४० मूर्तियों का संग्रह है। यहाँ पर एक जैन मूर्ति संग्रह हेतु जैन कलादीर्घा का निर्माण किया गया है जहाँ कई अमूल्य व दुर्लभ जैन मूर्तियों का बड़ा ही रोचक संग्रह है। यहाँ के हिन्दूशासक अन्यधर्मों के प्रति आदरभाव रखते थे। इसी कारण ८वीं शताब्दी से १३वीं शताब्दी तक काकूनी, अटरू, केशोरायपाटन, झालरापाटन, विलास, रामगढ़ आदि स्थल जैन धर्म, स्थापत्य एवं प्रतिमा शिल्प के प्रमुख केन्द्र बने। यहाँ जैन प्रतिमा कक्ष में जैन तीर्थंकरों ऋषभनाथ, अजितनाथ, विमलनाथ, शान्तिनाथ, मल्लिनाथ, पार्श्वनाथ, महावीर आदि की प्रतिमाएँ, जैन मंदिरों के स्तम्भ आदि का संकलन व्यवस्थित रूप में देखा जा सकता है। संग्रहालय में आधा दर्जन से अधिक धातु की जैन प्रतिमाएँ भी संरक्षित है। चेचट से प्राप्त मिश्रित धातु की, अजितनाथ की श्वेताम्बर प्रतिमा में तीर्थंकर सौम्य एवं प्रशान्त मुद्रा में लंगोट धारण किये पद्मासन एवं बद्धपद्मांजलि मुद्रा में पीठिका पर विराजमान है। प्रतिमा में कुंचित केश, वक्षस्थल पर श्रीवत्स का चिन्ह लम्बी भुजाएँ एवं कर्ण, चांदी के पच्चिकारी युक्त खुले नेत्र अत्यन्त आकर्षक है। ऐसी कई प्रतिमायें इस संग्रहालय में देखी जा सकती हैं।

अतः भारतीय मूर्तिकला में जैन धर्म का भी समन्वित व क्रियान्वित रूप हम देख सकते हैं।

संदर्भ :-

1. भारतीय मूर्तिकला पृ. - 96
2. (अ) प्राचीन भारतीय साहित्य की सांस्कृतिक भूमिका, पृ. - 101
(ब) झालावाड़ की मूर्तिकला परम्परा, ललित शर्मा पृ. - 117
3. वैभव और वैराग्य, पाण्डेय राकेश - पृ. - 193
4. (The Jain Iconography by - B.C. Bhattachaya, Shama B.N.)
हिन्दु तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, डॉ. पंकजलता श्रीवास्तव, पृ. - 357
5. The Jain Iconography 4 - B.C. Bhatta chaya P.g. 2, 3, 5 -
6. शिव पुराण 7, 9, 317
7. हिन्दु तथा जैन प्रतिमा विज्ञान, डॉ. पंकजलता श्रीवास्तव पृ. - 357
8. रूपमण्डन, श्रीवास्तव बलराम भूमिका - पृ. - 100
9. हिन्दु तथा जैन प्रतिमा विज्ञान डॉ. पंकजलता श्रीवास्तव पृ. - 358, 359
10. हिन्दु तथा जैन प्रतिमा विज्ञान डॉ. पंकजलता श्रीवास्तव पृ. - 360
11. मध्यकालीन माण्डप्रतिमालपण मारूतिनंदन तिवारी-कमलगिरि, पृ. 264
12. झालावाड़ की मूर्तिकला परम्परा ललित शर्मा पेज नं. 119

13. अपराजित पृच्छा - आचार्य भुवनदेव, पेज - 221, 225, 226
14. देवता मूर्ति प्रकरण मण्डन - पृ. - 7, 21
15. अपराजित पृच्छा पृ. - 221, 36
16. अपराजित पृच्छा पृ. - 221, 36
17. अपराजित पृच्छा पृ. - 220, 33, 34
18. हिन्दु तथा जैन प्रतिमा विज्ञान डॉ. पंकजलता पृ. - 392
19. दि जैन स्तूप अदर एण्टीक्विटीज, द्वितीय संस्करण, बी.ए. स्मिथ, पृ. - 19, 56

-164, आर्य समाज रोड, रामपुरा,
कोटा - ३२४००६ (राजस्थान)



श्रद्धाञ्जलि
श्री मल्लिनाथ जैन,
सर्वप्रिय विहार नई दिल्ली।

श्री मल्लिनाथ जैन सेवानिवृत्त चीफ इंजीनियर (जल) आपूर्ति का देहावसान २ दिसम्बर, २०१२ को ८९ वर्ष की आयु में एक अल्प बीमारी के पश्चात समता भाव पूर्वक हो गया। यह हमारे लिए एक दुःखद समाचार है। आप सादा जीवन और उच्च विचारों के अनुपालक रहे। आप वीर सेवा मन्दिर के पूर्व कार्यकारिणी-सदस्य एवं पूर्व अध्यक्ष भी रहे। आप 'यूनाइटेड नेशन्स' एवं जलापूर्ति के क्षेत्र में सुलभ-इन्टरनेशनल के सलाहकार के रूप में रहे। शिक्षा के लिए समर्पित आपका जीवन दूसरों की सदैव मदद करने और धार्मिक सेवायें देने में अग्रणी रहा। आप अपने पीछे धर्मपत्नी (श्रीमती रूपवती) दो पुत्र और एक पुत्री का भरापूरा परिवार छोड़ गये हैं। वीर सेवा मन्दिर परिवार - दिवंगत आत्मा की अक्षय शांति एवं सद्गति के लिए मंगल कामना करता है।

...

मूलाचार में दिगम्बर जैन मुनियों का अर्थशास्त्र

-श्रीमतीउर्मिलाचौकसे

संसार के समस्त साधुओं में दिगम्बर जैन साधुओं का महत्त्वपूर्ण स्थान है क्योंकि वे ही एक ऐसे हैं जो यथाजात रूप को धारण करते हैं। स्वावलम्बन का जीवन जीते हैं। उनके आचार, विचार, आहार, व्यवहार में जो विशिष्टता है वह अन्यत्र देखने में नहीं मिलती। हिन्दुओं में भी नागा साधु होते हैं जो नग्न रहते हैं किन्तु उनके आचार, आहार पर प्रश्न चिन्ह लगते हैं इसके अतिरिक्त दिगम्बर मुनि को जो महत्त्वपूर्ण बनाती है वह है उनकी अयाचक वृत्ति एवं उनकी अर्थ के प्रति उपेक्षा। धर्म के प्रति अगाध श्रद्धा उन्हें जन-जन का पूज्य बनाती है। नीतिकार कहते हैं कि -

गुरुवो बहवः सन्ति शिष्यवित्तापहारकाः।

गुरुवो विरलाः सन्ति शिष्यहृदितापहारकाः॥

अर्थात् शिष्यों के धन का अपहरण करने वाले गुरु बहुत से हैं किन्तु शिष्य के हृदय के ताप का हरण करने वाले गुरु बिरले ही होते हैं।

संसार में भक्ति, व्रत एवं धर्म का प्रयोजन एक ही होता है और वह है- जन्म-जरा-मरण का क्षय। मुनि रामसिंह विरचित अपभ्रंश भाषा की अनुपम कृति 'पाहुडोहा' में आया है कि -

अंतो णत्थि सुईण कालो थोओ वयं च दुम्मेहा।

तं णवरि सिक्खियव्वं जं जरमरणक्खयं कुणदि॥'

अर्थात् शास्त्रों का अन्त नहीं है समय थोड़ा है और हम दुर्बुद्धि हैं, अतः केवल वही सीखना चाहिए, जिससे जन्म-मरण का क्षय हो।

जन्म - मरण के क्षय के लिए संसार से विरक्ति आवश्यक है। संसार में रहते हुए संसार को छोड़ने का भाव बना रहे जिससे मुक्ति मिले; यह आवश्यक है। संसार में दो शास्त्रों की मुख्यतः है, अनिवार्यता है और आवश्यकता है। इनमें से एक धर्मशास्त्र और दूसरा है अर्थशास्त्र। इनमें धर्मशास्त्र जीवन को स्वेच्छाचारिता से नियंत्रित करता है तो दूसरा अर्थशास्त्र जीवन जीने में सहायक बनता है, साधक बनता है। धर्मशास्त्र सब कुछ है जबकि अर्थशास्त्र कुछ कुछ है। इसीलिए जहाँ धर्मशास्त्र को सब मान्यता देते हैं, मानते हैं वहीं अर्थशास्त्र की भी साधन के रूप में अनिवार्यता होने पर भी उसकी कटु आलोचना भी करते हैं। ऐसे आलोचक कहते हैं कि-

१. अर्थ अनर्थ करता और कराता है।
२. रस्किन (Raskin) और कार्लाइल अर्थशास्त्र को कुबेर की विद्या, घृणित विज्ञान कहते हैं।
३. चार्ल्स डिकिन्स अर्थशास्त्र को 'रोटी मक्खन का विज्ञान' कहते हैं।

४. मार्शल (Marshal) ने कहा कि धन तो केवल साधन मात्र है साध्य तो मानव कल्याण है। धन मनुष्य के लिए है, मनुष्य धन के लिए नहीं। इनके अनुसार-"Economics is a study of mankind in the ordinary business of life; it examines that part of individual and social action which is most closely concerned with the attainment and use of the material requisities of well being. Thus it is on the one side a study of wealth; and on the other, and more important side, a part of the study of man."²

अर्थात् अर्थशास्त्र जीवन के साधारण व्यवसाय में मानव जाति का अध्ययन है। इसमें व्यक्तिगत तथा सामाजिक क्रियाओं के उस भाग की जाँच की जाती है जिसका भौतिक सुख के साधनों की प्राप्ति और उनके उपयोग से बहुत ही घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस प्रकार यह एक ओर तो धन का अध्ययन है और दूसरी ओर जो अधिक महत्वपूर्ण है, मनुष्य के अध्ययन का एक भाग है।

५. रोशे (Roscher) ने अर्थशास्त्र का उद्देश्य और प्रारंभ मनुष्य माना है। इसके विपरीत लियोनेल रोबिन्स (Lionel Robbins) ने अपनी पुस्तक 'An Essay on the Nature and Significance of Economics Science' में लिखा कि-"Economics is the science which studies human behaviour as a relationship between ends and scarce means which have alternative uses"³ अर्थात् अर्थशास्त्र वह विज्ञान है जो मनुष्य के व्यवहार का अध्ययन सीमित साधनों जिनके वैकल्पिक उपयोग हो सकते हैं तथा लक्ष्यों के सम्बन्ध के रूप में करता है।

अर्थशास्त्र भी कहीं न कहीं धर्मशास्त्र से नियंत्रित होना चाहिए; यह माँग सदा से उठती रही है और वर्तमान में तो अत्यन्त प्रासंगिक हो गयी है। श्रीमती वूटन (Mrs. Wootan) के अनुसार-"एक अर्थशास्त्री के लिए यह अत्यन्त कठिन है कि वह अपनी विवेचना को नैतिकता से पूर्णरूप से वंचित कर दे।" वास्तव में अर्थशास्त्र अर्थ के उत्पादन, संचयन, वितरण के अध्ययन तक ही सीमित नहीं है अपितु वह उसके साध्य की प्राप्ति में सहायक साधन के रूप में भी अपनी भूमिका निभाता है।

प्रो. सेम्युलसन के अनुसार-"अर्थशास्त्र में इस बात का अध्ययन किया जाता है कि समाज में लोग मुद्रा का प्रयोग करके अथवा बिना प्रयोग किये हुए, किस प्रकार विभिन्न वस्तुओं के उत्पादन के लिए उत्पत्ति के दुर्लभ साधनों का प्रयोग करते हैं और इन वस्तुओं को किस प्रकार उपभोग के लिए वर्तमान तथा भविष्य के बीच और समाज के विभिन्न व्यक्तियों तथा समूहों के मध्य वितरित करते हैं।"

फ्रेजर (Fraser) कहते हैं कि-"एक अर्थशास्त्री जो केवल अर्थशास्त्री है; एक महत्वहीन प्राणी है।" यहाँ कहने का तात्पर्य यह है कि उसे अर्थ से आगे बढ़कर अर्थ के सदुपयोग एवं हित पर भी विचार करना चाहिए। ए.सी. पीगू (A.C. Pigou) का मत है कि-"मेरा विचार है कि हम

सब यह स्वीकार करेंगे कि मानव समाज के विज्ञानों में बल उनके प्रकाशदायक पक्ष पर उतना नहीं रहा जितना कि उनके फलदायक पक्ष पर यह 'फल' का आश्वासन है न कि 'प्रकाश' का जिस पर हमें अधिक ध्यान देना आवश्यक है।⁶

प्रो. जे.के. मेहता एक नया विचार प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि मानव जीवन का सर्वोच्च उद्देश्य परम आनन्द की प्राप्ति है वे सुख (Pleasure) दुःख (Pain) और परमानन्द ;ध्वचपदमेद्ध के बीच भेद करते हैं। उनके अनुसार- “मानव मस्तिष्क असन्तुलन को नापसन्द करता है और इसलिए सन्तुलन की अवस्था प्राप्त करने का प्रयत्न करता है।.....असन्तुलन की दशा की अनुभूति दुःख कहलाती है, जबकि इस बात की अनुभूति कि असन्तुलन घट रहा है अथवा सन्तुलन स्थापित हो रहा है, सुख कहलाती है। इस प्रकार सुख केवल दुःख का निवारण है।... आवश्यकता और दुःख दोनों का सह अस्तित्व होता है जब तक कोई अपूर्ण आवश्यकता उपस्थित रहती है, दुःख बना रहता है और इसके परित्याग या इसकी सन्तुष्टि की प्रक्रिया सुख प्रदान करती है। जैसे ही कोई आवश्यकता पूर्णतया सन्तुष्ट हो जाती है या उसे छोड़ दिया जाता है, दुःख समाप्त हो जाता है, और साथ ही अधिक सुख प्राप्त करने की संभावना भी समाप्त हो जाती है। इस दशा में मानसिक स्थिति साम्य की स्थिति होती है, जिसमें न तो दुःख है और न सुख, बल्कि आनन्द होता है।⁷

यह तो सर्वविदित ही है कि जैनधर्म में चार पुरुषार्थ माने गये हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। तीर्थंकर पुरुषार्थ चतुष्टय के धारक होते हैं। 'मूलाचार की टीका में आचार्य श्री वसुनन्दि ने लिखा कि-“मूलगुणादिस्वरूपावगमनं प्रयोजनम्। ननु पुरुषार्थो हि प्रयोजनं न च मूलगुणादि स्वरूपावगमनं, पुरुषार्थस्य धर्मार्थकाममोक्षरूपत्वात्, यद्येवं सुष्ठु मूलगुणस्वरूपावगमनं प्रयोजनं यतस्तेनैव ते धर्मादयो लभ्यन्ते इति।”⁸ अर्थात् मूलगुण आदि के स्वरूप को जान लेना ही इस ग्रंथ का प्रयोजन है।

शंका- पुरुषार्थ ही प्रयोजन है न कि मूलगुण आदि के स्वरूप का जानना; क्योंकि पुरुषार्थ धर्म, अर्थ, काम और मोक्षरूप है।

समाधान- यदि ऐसी बात है तो मूलगुणों के स्वरूप का जान लेना; यह प्रयोजन ठीक ही है क्योंकि उस ज्ञान से ही तो वे धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष रूप पुरुषार्थ प्राप्त होते हैं। 'मूलाचार' मुनियों के आचरण, विचार एवं व्यवहार (समाचार) का प्रतिपादक शास्त्र है जिसका अर्थ (प्रयोजन) उत्कृष्ट मुनि के स्वरूप का निर्धारण और उनके मोक्ष का पथ प्रशस्त करना है। इसलिए 'मूलाचार' में 'अर्थशास्त्र' के बीज खोजना कठिन है किन्तु इसमें 'अर्थ' से सम्बन्ध हो ही न; ऐसा भी नहीं है।

जैन साधु (मुनि) के लिए कहा जाता है कि “अर्थमनर्थं भावय नित्यं” अर्थात् अर्थ की अनर्थता (अनित्यता) का नित्य विचार करो। जैन मुनि (दिगम्बर) बनने के लिए आवश्यक- अट्ठाईस मूलगुणों में से चार मूलगुणों का सम्बन्ध कमोवेश अर्थशास्त्र से है जो इस प्रकार हैं-

- (१) अचौर्य महाव्रत (२) परिग्रहत्याग महाव्रत (३) अचेलकत्व (नाग्न्य व्रत)
(४) स्थिति भोजन (आहारचर्या)

अचौर्य महाव्रत- अदत्त का वर्जन करना अचौर्यव्रत है। चूंकि अदत्त का ग्रहण चोरी है, ऐसा सूत्रकार का कथन है। आचार्य श्री वट्टकेर के अनुसार-

गामादिसु पडिदाइं अप्पप्पहुदिं परेण संगहिदं।
णादाणं परदव्वं अदत्तपरिवज्जणं तं तु।^{१०}

अर्थात् ग्राम आदि में गिरी हुई, भूली हुई इत्यादि जो कुछ भी छोटी-बड़ी वस्तु है और जो पर के द्वारा संगृहीत है ऐसे परद्रव्य को ग्रहण नहीं करना सो अदत्त परित्याग (अचौर्य) नाम का महाव्रत है। तात्पर्य यह है कि गिरी हुई, भूली हुई, रखी हुई और बिना पूछे ग्रहण की हुई वस्तु अदत्त शब्द से कही जाती है। ऐसी अदत्त वस्तुओं का ग्रहण अदत्तादान है और इनका त्याग करना अचौर्य व्रत कहलाता है।

परिग्रह त्याग महाव्रत

परिग्रह के मूल में विशेष रूप से अर्थ की भूमिका होती है। जब दिगम्बर मुनि पद धारण किया जाता है तब परिग्रह त्याग की अनिवार्य शर्त होती है। मूलाचार में परिग्रहत्याग महाव्रत का स्वरूप इस प्रकार बताया है-

जीवणिबद्धाऽबद्धा परिग्रहा जीव संभवा चेल।
तेसिं सक्कच्चागो इयरम्हि य णिम्ममोऽसंगो।^{११}

अर्थात् जीव से सम्बन्धित, जीव से असम्बन्धित और जीव से उत्पन्न हुए ऐसे ये तीन प्रकार के परिग्रह हैं। इनका शक्ति से त्याग करना और इतर परिग्रह में (शरीर, उपकरण आदि में) निर्मम होना यह असंग अर्थात् अपरिग्रह नाम का पाँचवा व्रत है।

इसकी आचार्यवृत्ति में आचार्य वसुनन्दि ने लिखा है कि- मिथ्यात्व, वेद, राग, हास्य, रति, अरति, शोक, भय, जुगुप्सा, क्रोध, मान, माया और लोभ आदि अथवा दासी, दास, गो, अश्व आदि ये जीवन से निबद्ध अर्थात् जीव के आश्रित परिग्रह हैं। जीव से पृथग्भूत क्षेत्र, वास्तु, धन, धान्य आदि जीव से अप्रतिबद्ध, जीव से अनाश्रित, परिग्रह हैं। जीवों से उत्पत्ति है जिनकी ऐसे मोती, शंख, सीप, चर्म, दाँत, कम्बल आदि अथवा श्रमणपने के अयोग्य क्रोध आदि परिग्रह जीवसम्भव कहलाते हैं। सब तरफ से ग्रहण करने रूप मूर्च्छा परिणाम को परिग्रह कहते हैं। इन सभी प्रकार के परिग्रहों का शक्तिपूर्वक त्याग करना, सर्वात्मस्वरूप से इनकी अभिलाषा नहीं करना अर्थात् सर्वथा इनका परिहार करना, अथवा 'तेसिं संगच्चागो' ऐसा पाठान्तर होने से उसका यह अर्थ है-इन संग (परिग्रहों) का त्याग करना, और इतर अर्थात् संयम, ज्ञान तथा शौच के उपकरण में ममत्व रहित होना यह असंगव्रत अर्थात् अपरिग्रहव्रत कहलाता है।

तात्पर्य यह है कि जो जीव के आश्रित परिग्रह हैं, जो जीव से अनाश्रित क्षेत्र आदि परिग्रह हैं और जो जीव से संभव परिग्रह हैं उन सबका मन, वचन, काय से सर्वथा त्याग करना और इतर संयम आदि के उपकरणों में आसक्ति नहीं रखना, अति मूर्च्छा से रहित होना, इस प्रकार का यह परिग्रहत्याग महाव्रत है।^{११}

आचार्य वसुनन्दि के अनुसार-बाह्य और अभ्यन्तर परिग्रह की विमुक्ति, संगविमुक्ति है। अर्थात् श्रमण के अयोग्य सर्ववस्तु का त्याग करना और परिग्रह में आसक्ति का अभाव होना ही परिग्रह त्याग महाव्रत है।¹²

सामायिक अवस्था में बाह्य-आभ्यन्तर परिग्रह का त्याग करना अनिवार्य है।¹³

अचेलकत्व

मूलाचार में अचेलकत्व को मुनि का मूलगुण माना है। उसे परिभाषित करते हुए आचार्य श्री वट्टकेर ने लिखा है कि-

वत्थाजिणवक्केणय अहवा पत्ताइणा असंवरणं।

णिब्भूसण णिगंथं अचेलकं जगदि पूज्जं॥¹⁴

अर्थात् वस्त्र, चर्म और वल्कलों से अथवा पत्ते आदिकों से शरीर को नहीं ढकना, भूषण अलंकार से और परिग्रह से रहित निर्ग्रन्थ वेष जगत में पूज्य अचेलकत्व नाम का मूलगुण है। जब मुनि दीक्षा होती है तो उसे अचेलकत्व स्वीकार करना होता है। मूलाचार में आचार्य वसुनन्दि ने कहा कि-“आचेलकं-चेलं वस्त्रं, उपलक्षणमात्रमेतत्, तेन सर्वपरिग्रहः श्रामण्ययोग्यः चेलशब्देनोच्यते न विद्यते चेलं सस्यासावचेलकः अचेलकस्य भावोऽचेलकत्वं वस्त्रभरणादि परित्यागः।”¹⁵ अर्थात् चेल यह शब्द उपलक्षण मात्र है, इससे श्रमण अवस्था के अयोग्य सम्पूर्ण परिग्रह को चेल शब्द से कहा गया है। नहीं है चेल जिनके, वे अचेलक हैं, अचेलक का भाव अचेलकत्व है अर्थात् सम्पूर्ण वस्त्र आभरण आदि का परित्याग करना आचेलक्य व्रत है।

आचेलक्य व्रत के मूल में अर्थ और अर्थ के उपजीव्य पदार्थों का त्याग प्रमुख है। अर्थात् अर्थ के विसर्जन से ही मुनित्व के सर्जन की प्रक्रिया प्रारंभ होती है।

स्थिति भोजन :- मूलाचार के अनुसार -

अंजलिपुडेण ठिच्चा कुड्डाइ विवज्जणेण समपाय।

पडिसुद्धे भूमितिए असणं ठिदिभोयणं णाम॥¹⁶

अर्थात् दीवाल आदि का सहारा न लेकर जीव-जन्तु से रहित तीन स्थान की भूमि में समान पैर रखकर खड़े होकर दोनों हाथ की अंजली बनाकर भोजन करना स्थिति भोजन नाम का व्रत है।

ऊपर देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि स्थिति भोजन नामक मूलगुण का अर्थ या अर्थशास्त्र से कोई संबंध नहीं है। किन्तु ऐसा है नहीं। क्योंकि साधु (मुनि) भोजन करने से पहले भोजन के मूल में गर्भित अर्थ के विषय में विचार करता है। मुनि भोज्य वस्तु के उद्गम, उत्पादन, अशन (भोग), संयोजना (मिलावट), प्रमाण (सही मात्रा का अभाव) आदि दोषों से रहित आहार करता है। इन सभी का संबंध अर्थशास्त्र से है। अर्थशास्त्र भी वस्तु के उद्गम, उत्पादन, भोग, वस्तु के क्रय-विक्रय में सही-सही मात्रा का निर्धारण आदि देखता है और इनसे संतुष्ट होने पर ही वह अपने अर्थशास्त्र का कार्य सम्पन्न होना मानता है।

मुनि आहार के समय विचार करते हैं कि-

१. आहार दाता का धन; जिससे आहार बना है वह न्यायोपार्जित होना चाहिए। प्रासुक द्रव्य होना चाहिए।¹⁷
२. आहार दाता का धन, जिससे आहार बना है वह दाता का स्वयं का होना चाहिए।
३. आहार दाता का धन, जिससे आहार बना है वह कर्ज रूप में नहीं लिया गया हो। यहाँ तक कि भोज्य वस्तु भी उधार की नहीं हो। मूलाचार में इसे प्रामृष्य दोष के अन्तर्गत लिया है। मूलाचार के अनुसार-

डहरियरिणं तु भणियं पामिच्छं ओदणादिअण्णदरं।
तं पुण दुविहं भणिदं सवड्ढियमवड्ढियं चावि॥¹⁸

अर्थात्- भात आदि कोई वस्तु कर्ज रूप में दूसरे के यहाँ से लाकर देना लघुऋण कहलाता है। इसके दो भेद हैं-ब्याज सहित और ब्याज रहित।

आचार्य वसुनन्दि के अनुसार- लघु ऋण अर्थात् स्तोक ऋण। ओदन आदि भोजन तथा मण्डक-रोटी आदि अन्य वस्तुओं को प्रामृष्य कहते हैं। इस ऋण दोष के वृद्धि सहित और वृद्धि रहित की अपेक्षा दो भेद हो जाते हैं। जब मुनि आहार के लिए आते हैं उस समय दाता श्रावक अन्य किसी के घर जाकर भक्ति से उससे भात आदि माँगता है और कहता है कि मैं आपको इससे अधिक भोजन दे दूँगा या इतना ही भोजन वापस दे दूँगा। ऐसा कहकर पुनः उसके यहाँ से लाकर यदि श्रावक मुनि को आहार देता है तो वह ऋण सहित प्रामृष्य दोष कहलाता है। इसमें दाता को क्लेश और परिश्रम आदि करना पड़ता है अतः यह दोष है।¹⁹

४. आहार योग्य वस्तु में मिलावट नहीं होना चाहिए। मुनि को देखकर पकते हुए चावल आदि में और अधिक मिला देना अध्यधिदोष है। अप्रासुक और प्रासुक वस्तु का सहेतुक मिश्रण करना यह पूतिदोष है। अर्थशास्त्र भी मिलावट को स्वीकार नहीं करता। मुनि संयोजना और प्रमाणदोष से रहित आहार लेते हैं।²⁰ यह मिलावट से संबंधित दोष है।
५. अर्थशास्त्र कहता है कि किसी को कष्ट देकर धन कमाना उचित नहीं। दिगम्बर मुनिराज भी आहार करते समय विचार करते हैं कि यह भोजन छह काय के जीवों की विराधना और मारण आदि से बनाया हुआ अपने निमित्त स्व या पर से किया गया जो आहार है वह अधःकर्मदोष से दूषित है।²¹ अतः मेरे योग्य नहीं है।
६. अर्थशास्त्र कहता है कि दूसरे के अधिकार की वस्तु पर स्वयं अधिकार कर लेना उचित नहीं है। दिगम्बर मुनि भी दूसरे के लिए बनाये गये आहार को ग्रहण नहीं करते हैं। उसे औद्देशिक मान कर त्याग करते हैं।²²
७. अर्थशास्त्र कहता है कि जो धन दूसरे के अधिकार का है उस पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं। दिगम्बर मुनि भी जिस दान का स्वामी दाता स्वयं नहीं होता है; ऐसा

आहार ग्रहण नहीं करते हैं। उसे अनीशार्थदोष मानते हैं।²³ जिस तरह चाणक्य ने कहा था कि -

“सुखस्य मूलं धर्मः। धर्मस्य मूलं अर्थः।
अर्थस्य मूलं राज्यं। राज्यस्य मूलं इन्द्रियजयः।”

अर्थात् सुख का मूल धर्म है। धर्म का मूल अर्थ है। अर्थ का मूल राज्य है। राज्य का मूल इन्द्रिय जय है। उसी तरह अर्थशास्त्र भी सुख का मूल अर्थ मानता है और अर्थ के इर्द-गिर्द सभी उपलब्धियों को स्वीकार करता है। अर्थशास्त्र भी मांग और पूर्ति तथा उपयोगिता और हास के नियम को स्वीकार करता है। जैन धर्म-शास्त्र भी अर्थ की महत्ता को स्वीकार करते हैं किन्तु गृहस्थ के लिए ही। मुनि के लिए अर्थ अनर्थकारी है। गृहस्थों को अर्थ की मांग रहती है इसलिए जैनाचार्यों ने कहा कि तुम न्यायोपात्त धन ग्रहण करो और जब तुम्हारी आर्थिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाए तब उसका हास करो अर्थात् लोभ छोड़ो और दान करो। जब गृहस्थ मुनि बन जाए तब उसके लिए कहा कि अब न तुम अर्थ की मांग करोगे और न उसकी पूर्ति के लिए प्रयास करोगे। बल्कि तुम अर्थ का पूरी तरह मन-वचन-काय से, कृत-कारित-अनुमोदना से त्याग करो। यह त्याग तुम्हें अपरिग्रह महाव्रती बनायेगा।

इस तरह हम देखते हैं कि मूलाचार भले ही मुनि के लिए अर्थ संचय का पक्षधर न हो किन्तु अर्थ के परित्याग को तो विषय बनाता ही है और यह अर्थ का परित्याग उनके अर्थ (मोक्ष प्राप्ति रूप प्रयोजन) की सिद्धि में सहायक है अतः मूलाचार और अर्थशास्त्र कहीं न कहीं एक दूसरे से संबन्धित अवश्य दिखाई देते हैं। वैसे भी मुनि के द्वारा सदुपदेश पाकर ही गृहस्थजन नैतिक तरीके से अर्थार्जन करते हैं और अर्जित अर्थ को जिनायतनों के निर्माण, मुनि आदि अतिथियों के सत्कार (आहारदान, शास्त्रदान, उपकरणदान) आदि में उपयोग करते हैं। अतः धर्मशास्त्र के साथ-साथ अर्थशास्त्र की भी उपयोगिता है। मूलाचार के मूल में अट्ठार्हस मूलगुण हैं। इसी प्रकार धर्म के मूल में अर्थ है; इससे इंकार नहीं किया जा सकता है।

संदर्भ :

१. पाहुडदोहा - १९
२. Alfred Marshall : Principles of Economics, P.1
(बृहत् आर्थिक विश्लेषण : विजयेन्द्रपालसिंह, पृ.१०)
३. Lionel Robbins "An Essay on the nature on the Nature and Significance of
Economic Science (1952) P.16 (बृहत् आर्थिक विश्लेषण, पृ.१३)
४. Samuelson % Fundamentals of Economics Analysis, P.9
५. A.C. Pigou : Economics of welfare, P.4
६. Cairncross : Introduction to Economics (1944), P.9
७. J. K. Mehta : Advanced Economic theory, P.1-2
८. मूलाचार (पूर्वार्द्ध) गाथा-१, वसुनन्दि टीका पृ.४
९. वही, गाथा - ७,

१०. वही, गाथा-९,
११. मूलाचार (पूर्वाद्ध) गाथा-१, वसुनन्दि टीका पृ.१५-१६
१२. वही, पृष्ठ-९
१३. मूलाचार (पूर्वाद्ध), गाथा-४०
१४. वही, गाथा-३०
१५. मूलाचार (पूर्वाद्ध), आचार्य वसुनन्दि टीका, पृ.७ (गाथा-३)
१६. मूलाचार (पूर्वाद्ध), गाथा-३४
१७. वही, गाथा-४८५
१८. वही, गाथा-४३६
१९. वही, आचार्य वसुनन्दि टीका, पृ.३४२
२०. मूलाचार (पूर्वाद्ध), गाथा-४७६
२१. वही, गाथा-४२४
२२. वही, गाथा-४२४-४२६
२३. वही, गाथा-४४४

- सहायक प्राध्यापक, अर्थशास्त्र सेवासदन महाविद्यालय,
बुरहानपुर (म.प्र.)

समणसुत्तं में प्रतिपादित ज्ञान-मीमांसा

-प्रो. फूलचन्द जैन प्रेमी

तीर्थंकर महावीर के २५००वें निर्वाण वर्ष की अनेक उपलब्धियों में 'समणसुत्तं' जैसा आगम शास्त्र एक स्थायी सर्वमान्य महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है। दिगम्बर-श्वेताम्बर दोनों ही परम्पराओं के प्राकृत आगमों से विषयानुसार गाथायें चयनकर इसे पूज्य जिनेन्द्र वर्णी जी ने भूदान और गांधीवादी एवं सर्वोदयी चिंतनधारा के लिये समर्पित राष्ट्रसंत विनोबा भावे की प्रेरणा से प्रस्तुत ग्रंथ का यह स्वरूप प्रदान किया।

समणसुत्तं के चार खण्डों में मोक्षमार्ग नामक द्वितीय खण्ड में जहाँ रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र का विवेचन है, उसमें सम्यग्ज्ञान की अच्छी मीमांसा की गई है।

वस्तुतः समणसुत्तं में प्रतिपादित जैनधर्म-दर्शन के सभी सैद्धान्तिक पक्षों का अपना स्वतंत्र, मौलिक, वैज्ञानिक एवं अविवादित सार्वजनीय वैशिष्ट्य है। इसके अपने विशिष्ट परिभाषिक शब्द भी हैं। ज्ञान विषयक चिंतन के क्षेत्र में, तो इसका वैशिष्ट्य देखते ही बनता है। सम्यग्ज्ञान के मतिज्ञान, श्रुतज्ञान, अवधिज्ञान, मनःपर्ययज्ञान और केवलज्ञान- इन पांच भेदों का अपना महत्त्व है। इसी तरह सम्यग्दर्शन की प्राप्ति हेतु जीव, अजीव, आश्रव, बन्ध, संवर, निर्जरा और मोक्ष इन सात तत्त्वों का श्रद्धान आवश्यक है। इनमें भी जहाँ मोक्ष तत्त्व अन्तिम लक्ष्य है, वहीं धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष-इन चार पुरुषार्थों में भी अन्तिम पुरुषार्थ मोक्ष ही है। इसीलिए जहाँ तत्त्वार्थसूत्रकार आचार्य उमास्वामी ने "सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्राणि मोक्षमार्ग" - कहकर सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र - इस रत्नत्रय के एकत्ररूप को मोक्षमार्ग का साधक बतलाया है, वही समणसुत्तं में भी कहा है कि-

दंसणणाण चरित्ताणि, मोक्खमग्गो त्ति सेविदव्वाणि।

साधूहि इदं भणिदं तेहिं दु बंधो व मोक्खो वा॥१९३॥

अर्थात् जिनेन्द्रदेव ने सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र को मोक्ष का मार्ग बतलाया है। साधुओं को इनका आचरण करना चाहिए। यदि वे स्वाश्रित होते हैं तो इनसे मोक्ष प्राप्त होता है। और यदि वे पराश्रित होते हैं तो बन्ध होता है। वस्तुतः ये रत्नत्रय परस्पर एक-दूसरे के पूरक हैं। इसीलिए कहा है-

नाणं चरित्तहीणं, लिंगगहणं च दंसणविहीणं।

संजमहीणं च तवं जो चरइ निरत्थयं तस्स॥२१०॥

अर्थात् सम्यक्चारित्र के बिना सम्यग्ज्ञान, सम्यग्दर्शन के बिना मुनिलिंग का ग्रहण और संयमविहीन तप का आचरण करना निरर्थक है। क्योंकि आगे कहा है कि -

ना दंसणिस्स नाणं, नाणेण विणा न हुन्ति चरणगुणा।

अगुणिस्स नत्थि मोक्खो, नत्थि अमोक्खस्स निव्वाणं॥२११॥

अर्थात् सम्यग्दर्शन के बिना ज्ञान नहीं होता। ज्ञान के बिना चारित्र गुण नहीं होता। चारित्रगुण

के बिना कर्मक्षय रूप मोक्ष नहीं होता और मोक्ष के बिना अनंत चतुष्टय रूप निर्वाण नहीं होता। कहा भी है-

अप्पा अप्पम्मि रओ, सम्माइट्ठी हवेइ फुडु जीवो।
जाणइ तं सण्णाणं चारदिह चारित्तमग्गु त्ति॥२१७॥

अर्थात् आत्मा में लीन आत्मा ही सम्यग्दृष्टि होता है। जो आत्मा को यथार्थ रूप में जानता है, वही सम्यग्ज्ञान है और आत्मा में स्थित रहना ही सम्यक्चारित्र है। इस तरह से रत्नत्रय परस्पर एक दूसरे के पूरक हैं। किसी एक से मोक्षमार्ग की सिद्धि नहीं होती, किन्तु इनमें भी सम्यग्ज्ञान का अपना ही वैशिष्ट्य है। क्योंकि रत्नत्रय के मध्य में इसी का क्रम है।

आचार्य कुंदकुंददेव ने रत्नत्रय रूप इन तीनों की परिभाषा बड़ी ही कुशलता से मात्र एक गाथा में करते हुए कहा है-

जीवादि सद्दहणं सम्मतं तेसिमधिगमो णाणं।
रायादि परिहरणं चरणं एसो दु मोक्खपहो॥समयसार १५५॥

अर्थात् जीवादि तत्त्वों का श्रद्धान सम्यक्त्व (सम्यग्दर्शन) है, उन्हें यथार्थरूप में जानना सम्यग्ज्ञान है और राग-द्वेषादि का त्याग करना सम्यक् चारित्र है। यही रत्नत्रय स्वरूप सम्यग्दर्शन-ज्ञान और चारित्र मोक्ष का मार्ग है।

ज्ञान का स्वरूप और महत्त्व -

सामान्यतः “जो जाणदि सो णाणं” (प्रवचनसार गाथा 35) अर्थात् जो जानता है, वही ज्ञान है। आचार्य वीरसेन स्वामी के अनुसार “भूतार्थ प्रकाशनं ज्ञानम्” (धवला 1/143) अर्थात् सत्यार्थ का प्रकाश करने वाली शक्ति विशेष ज्ञान है। सर्वार्थसिद्धि (1/6) में आचार्य पूज्यपाद कहते हैं- “जानाति ज्ञायतेऽनेन ज्ञातिमात्रं वा ज्ञानम्”- अर्थात् जो जानता है, वह ज्ञान है (कर्तृसाधन), जिसके द्वारा जाना जाये, वह ज्ञान है, (करण साधन), अथवा जानना मात्र ज्ञान है (भावसाधन)।

इस प्रकार “येन-येन प्रकारेण जीवादयः पदार्था व्यवस्थितास्तेन तेनावगमः सम्यग्ज्ञानम् (सर्वार्थसिद्धि 1/5) अर्थात् जिस-जिस तरह से जीव-अजीव आदि पदार्थ अवस्थित है, उस उस प्रकार से उनका जानना सम्यग्ज्ञान है। ज्ञान के पहले ‘सम्यक् विशेषण संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय (विमोह) जैसे मिथ्या ज्ञानों का निराकरण करने हेतु रखा गया है। आचार्य अकलंकदेव ने तत्त्वार्थवार्तिक (1/1/2) में ‘नयप्रमाणविकल्पपूर्वको जीवाद्यर्थ याथात्म्यावगमः सम्यग्ज्ञानम्’ - अर्थात् नय और प्रमाणों के द्वारा जीवादि तत्त्वों का संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय रहित यथार्थ बोध सम्यग्ज्ञान कहा है और आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने “णाणं णरस्स सारो” कहकर ऐसे ही सम्यग्ज्ञान को मनुष्यों के लिए सारभूत बतलाया है। क्योंकि ज्ञान ही हेय और उपादेय को जानता है।

वस्तुतः समणसुत्तं में प्रतिपादित ज्ञानमीमांसा उस सम्यग्ज्ञान की विवेचना और महत्ता का दिग्दर्शन कराती है, जो सम्यग्दर्शन और सम्यक्चारित्र के साथ मिलकर या एकरूप होकर मोक्षमार्ग प्रशस्त करती है। इसीलिए जिनशासन में ज्ञान किसे कहते हैं? अनेक दृष्टियों से इसका विवेचन करते हुए कहा है-

तेण तच्चं विबुज्जेज्ज, जेण चित्तं णिरुज्झदि।
जेण अत्ता विसुज्जेज्ज, तं णाणं जिणसासणे॥२५२॥

अर्थात् जिससे तत्त्व का ज्ञान होता है, चित्त का निरोध होता है तथा आत्मा विशुद्ध होती है, उसी को जिनशासन में ज्ञान कहा है। आगे कहा है-

जेण रागा विरज्जेज्ज, जेण सेएसु रज्जदि।
जेण मित्ती प्रभावेज्ज, तं णाणं जिणसासणे॥२५३॥

अर्थात् जिससे जीव राग विमुख से होता है, श्रेय में अनुरक्त होता है और जिससे मैत्रीभाव प्रभावित होता (बढ़ता) है, उसी को जिनशासन में ज्ञान कहा गया है। इसीलिए आचार्यदेव कहते हैं

एदम्हि रदो णिच्चं संतुट्ठो होहि णिच्चमेदम्हि।
एदेण होहि तित्तो होहिदि तुह उत्तमं सोक्खं॥२५९॥

अर्थात् इसीलिए हे भव्यजीव! तू इसी ज्ञान में ही सदा लीन रह। इसी में सदा संतुष्ट रहा। इसी से तृप्त हो। इसीसे तुझे उत्तमसुख (परमसुख) प्राप्त होगा। क्योंकि सम्यक्त्वरूपी रत्न से शून्य अनेक प्रकार के शास्त्रों के ज्ञाता व्यक्ति भी आराधना विहीन होने से संसार में अर्थात् नरकादिक गतियों में भ्रमण करते रहते हैं॥२५९॥ जैसे कोई व्यक्ति निधि प्राप्त होने पर उसका उपभोग स्वजनों के बीच करता है, वैसे ही ज्ञानीजन प्राप्त ज्ञान निधि का उपभोग परद्रव्यों से विलग होकर अपने में ही करता है ॥ गाथा २६१॥ इसीलिए ज्ञान, ध्यान और तपोबल से इन्द्रिय-विषयों और क्रोध, मान, माया एवं लोभ-इन कषायों को बलपूर्वक रोकना चाहिए। जैसे कि लगाम के द्वारा घोड़ों को बलपूर्वक रोका जाता है। समणसुत्त में ज्ञानवान् होने की सार्थकता अहिंसा में प्रतिपादित करते हुए कहा है-

एयं खु नाणिणो सारं, जं न हिंसइ कंचण।
अहिंसा समयं चेव, एतावंते वियाणिया॥१४७॥

अर्थात् ज्ञानी होने का सार यही है कि वह ज्ञानी किसी भी प्राणी की हिंसा न करे। इतना जानना ही पर्याप्त है कि अहिंसामूलक समता ही धर्म है अथवा यही अहिंसा का विज्ञान है। इस संबन्ध में समणसुत्त में आगे बताया कि चूंकि ज्ञानी कर्मक्षय के लिए उद्यत हुआ है, हिंसा के लिए नहीं। जो निश्चलभाव से अहिंसा के लिए प्रयत्नशील रहता है, वह अप्रमत्त मुनि अहिंसक होता है॥१५६७॥

वस्तुतः शास्त्रों का अध्ययन करके मोक्षमार्ग का ज्ञान हो जाने पर भी सत्क्रिया से रहित ज्ञान इष्ट लक्ष्य को प्राप्त नहीं करा सकता। जैसे किसी गन्तव्य तक पहुँचने के मार्ग का ज्ञान होने पर भी समुचित प्रयत्न न करने से कोई भी जीव अपने गन्तव्य तक नहीं पहुँच सकता अथवा अनुकूल वायु की प्रेरणा के अभाव में जलयान (जहाज) इच्छित स्थान तक नहीं पहुँच सकता॥२६५॥ इसी तरह चारित्रशून्य पुरुष का विपुल शास्त्रों का अध्ययन भी व्यर्थ ही है। जैसे कि अन्धे के आगे लाखों-करोड़ों दीपक जलाना व्यर्थ है॥२६६॥ अतः सम्यग्ज्ञान के प्रकाशन से, अज्ञान और मोह के परिहार से तथा रागद्वेष के पूर्णक्षय से जीव एकान्त सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त करता है॥२८९॥ अतः जो आत्मा को इस अपवित्र शरीर से तत्त्वतः भिन्न तथा ज्ञायक भावरूप जानता है, वही समस्त शास्त्रों को जानता है॥२५५॥ इसीलिए कहा है-

“जे एगं जाणइ, से सव्वं जाणइ। जे सव्वं जाणइ, से एगं जाणइ॥२५८॥

अर्थात् जो एक (आत्मा) को जानता है, वह सब (जगत्) को जानता है और जो सबको जानता है वह एक को जानता है। इस प्रकार समणसुत्त में ज्ञान का महत्व प्रतिपादित किया गया है। आगे ज्ञान के भेदों की चर्चा करते हुए ज्ञान की सूक्ष्म विवेचना प्रस्तुत है-

ज्ञान के भेद -

आत्मा में अनन्तगुण हैं, किन्तु इन अनन्त गुणों में एक “ज्ञान” गुण ही ऐसा है, जो “स्व पर” प्रकाशक है। जैसे दीपक अपने को भी प्रकाशित करता है और अन्य पदार्थों को भी प्रकाशित करता है। उसी प्रकार ज्ञान अपने को भी जानता है और अन्य पदार्थों को भी जानता है। यदि ज्ञानगुण न हो तो वस्तु को जानने का दूसरा कोई उपाय नहीं है। इसीलिए ज्ञान की उपमा प्रकाश से दी जाती है- “णाणं पयासयं”। आत्मा का गुण तो ज्ञान है ही, किन्तु वह सम्यक् भी होता है और मिथ्या भी होता है। संशय, विपर्यय और अनध्यवसाय को मिथ्याज्ञान कहते हैं। इसीलिए समणसुत्त में कहा है-

संसयविमोह-विब्भय विवज्जियं अप्परसरूवस्स।

ग्रहणं सम्मं णाणं सायारमणेयभेयं तु॥६७४॥

अर्थात् संशय, विमोह (विपर्यय) और विभ्रम (अनध्यवसाय) - इन तीन मिथ्याज्ञानों से रहित अपने और पर के स्वरूप का ग्रहण करना सम्यग्ज्ञान है। यह सम्यग्ज्ञान वस्तुस्वरूप का यथार्थ निश्चय कराता है, अतएव इसे साकार अर्थात् सविकल्पक (निश्चयात्मक) कहा गया है। इसके अनेक भेद हैं। जैसा कि इस लेख के प्रारम्भ में ही ज्ञान के पाँच भेद बतलाये गये हैं। समणसुत्त में भी कहा है-

तत्थ पंचविहं नाणं, सुयं आभिनिबोहियं।

ओहिनाणं तु तइयं मणनाणं च केवलं॥६७५॥

अर्थात् वह ज्ञान पाँच प्रकार का है - १. आभिनिबोधिक (मतिज्ञान), २. श्रुतज्ञान ३. अवधिज्ञान, ४. मनःपर्ययज्ञान और ५. केवलज्ञान।

इन पाँच ज्ञानों में आरम्भ के चार ज्ञान क्षायोपशमिक होने के कारण अपूर्ण हैं। पंचम केवलज्ञान संपूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न होने के कारण परिपूर्ण है। इन्हीं पाँच ज्ञानों का प्रत्यक्ष और परोक्ष - इन दो प्रमाणों के रूप में विभाजन किया गया है। मतिज्ञान और श्रुतज्ञान - ये परोक्ष हैं। क्योंकि ये इन्द्रिय और मन की सहायता से होते हैं। शेष तीन ज्ञान प्रत्यक्ष हैं। इनमें भी अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान ये दो देश प्रत्यक्ष हैं तथा एकमात्र केवलज्ञान सकल प्रत्यक्ष है।

समणसुत्त में गाथा संख्या ६७७ से ६८४ तक आठ गाथाओं में ज्ञान के इन पाँच भेदों का स्वरूप विवेचन किया गया है। अतः क्रमशः प्रस्तुत है -

१. मतिज्ञान - सामान्यतः “तदिन्द्रियाज्जिन्द्रिय निमित्तम्” (तत्त्वार्थसूत्र अध्याय.१.) अर्थात् इन्द्रिय और मन की सहायता से जो ज्ञान पदार्थों को जानता है, वह मतिज्ञान है। दर्शनपूर्वक अवग्रह, ईहा, अवाय और धारणा के क्रम से मतिज्ञान होता है। समणसुत्त में इसे आभिनिबोधिक नाम से कहा गया है। कहा भी है -

ईहा अपोह मीमांसा, मग्गाण य गवेसणा।

सण्णा सती मती पण्णा सव्वं आभिणिबोधियं॥६७७॥

अर्थात् ईहा, अपोह, मीमांसा, मार्गणा, गवेसणा, संज्ञा, शक्ति, मति और प्रज्ञा- ये सब आभिनिबोधिक या मतिज्ञान है।

२. श्रुतज्ञान - श्रुतज्ञ के विषय में कहा है-

अत्थाओ अत्थंतर-मुवलंभे तं भणंति सुयणाणं।

आभिणिबोहियपुव्वं णियमेण य सद्दयं मूलं॥६७८॥

अर्थात् अनुमान की तरह अर्थ (शब्द) को जानकर उस पर से अर्थान्तर (वाच्यार्थ) को ग्रहण करना श्रुतज्ञान कहलाता है। यह नियमतः आभिनिबोधिकज्ञानपूर्वक होता है। इसके लिंगजन्य और शब्दजन्य - ये दो भेद हैं। धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान होना लिंगज है और वाचक के शब्द सुनकर या स्वयं पढ़कर होने वाला ज्ञान शब्दज है। आगम में शब्दजन्य श्रुतज्ञान का ही प्राधान्य है।

३. अवधिज्ञान - “अवधीयते इति अवधिः-” अर्थात् द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव की मर्यादापूर्वक रूपी पदार्थों को एकदेश जानने वाले ज्ञान को अवधिज्ञान कहते हैं। आगमों में इसे “सीमाज्ञान” भी कहा है। इसके दो भेद हैं - भवप्रत्यय और गुणप्रत्यय। (गाथा सं. ६८१)

४. मनःपर्ययज्ञान - जो ज्ञान मनुष्यलोक में स्थित जीव के चिन्तित, अचिन्तित, अर्धचिन्तित आदि अनेक प्रकार के अर्थ से मन को प्रत्यक्ष जानता है, वह मनःपर्ययज्ञान है॥६८२॥

५. केवलज्ञान - समस्त पदार्थों की त्रिकालवर्ती पर्यायों को युगपत् जानने वाला केवलज्ञान है। कहा भी है कि केवलज्ञान लोक और अलोक को सर्वतः परिपूर्ण रूप से जानता है। भूत, भविष्य और वर्तमान में से ऐसा कुछ भी नहीं है, जिसे केवलज्ञान नहीं जानता हो॥६८४॥

केवलज्ञान की विशेषताओं के विषय में समणसुत्त में कहा है -

केवलमेगं सुद्धं सगलमसाहारणं अणंतं च।

पायं च नाणसद्दो, नामसमाणाहिगरणोऽयं॥६८२॥

अर्थात् “केवल” इस शब्द के एक, शुद्ध, सकल, असाधारण और अनन्त आदि अर्थ हैं। इसीलिए केवलज्ञान “एक” है। इन्द्रियादि की सहायता से रहित है और इसके होने पर अन्य सभी ज्ञान निवृत्त हो जाते हैं - इसीलिए यह “एकाकी” है। मलकलंक रहित होने से ‘शुद्ध’ है। सम्पूर्ण ज्ञेयों का ग्राहक होने से “सकल” है। इसके समान और कोई ज्ञान नहीं है, अतः “असाधारण” है। इसका कभी अन्त नहीं होता, अतः अनन्त है। ये सब केवलज्ञान की विशेषतायें हैं।

प्रश्न होता है कि इन पाँच ज्ञानों में एक साथ किसी भी जीव को कितने ज्ञान हो सकते हैं ? आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र (१/३०) में कहा है - “एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः” - अर्थात् एक जीव में एक साथ एक से लेकर चार ज्ञान तक ही हो सकते हैं, इससे अधिक नहीं। जीव को यदि एक ज्ञान होगा तो मात्र “केवलज्ञान”। क्योंकि यह निरावरण और क्षायिक है। अर्थात् समस्त ज्ञानावरण कर्म के क्षय से यह होता है। इसीलिए असहाय (अकेला) होता है। इसके साथ अन्य क्षायोपशमिक ज्ञान नहीं रह सकते।

ज्ञान के सम्बन्ध में जैनधर्म की यह मान्यता भी विशेष महत्त्व रखती है कि यहाँ ज्ञान के अभाव को तो अज्ञान कहा ही है, मिथ्याज्ञान को भी अज्ञान माना है। यहाँ इन दोनों में यह अन्तर विशेष दृष्टव्य है कि जीव एकबार सम्यग्दर्शन रहित तो हो सकता है, किन्तु ज्ञान रहित नहीं हो सकता। किसी न किसी प्रकार का ज्ञान जीव में अवश्य रहता है। वही ज्ञान सम्यक्त्व का आभिर्भाव होते ही सम्यग्ज्ञान कहलाने लगता है।

इस प्रकार जैनधर्म में द्रव्यानुयोग के अनेक विशिष्ट ग्रंथों की अपेक्षा समणसुत्त में यद्यपि ज्ञान का स्वरूप - विवेचन सामान्य होते हुये भी सम्पूर्ण है। ज्ञानविषयक इन गाथाओं की यदि विस्तृत व्याख्या की जाए तो काफी सूक्ष्म विवेचना सामने आती है। इसलिए रत्नत्रय में सम्यग्ज्ञान का अपना विशेष महत्त्व है। क्योंकि ज्ञानरूपी प्रकाश ही ऐसा उत्कृष्ट प्रकाश है, जो समस्त जगत् को प्रकाशित करता है। इसीलिए इसे द्रव्य स्वभाव का प्रकाशक कहा गया है। सम्यग्ज्ञान से तत्त्वज्ञान, चित्त का निरोध तथा आत्मविशुद्धि प्राप्त होती है। ऐसे ही ज्ञान से जीव राग से विमुख तथा श्रेय में अनुरक्त होकर मैत्रीभाव से प्रभावित होता है। भगवती आराधना गाथा (७७१) में कहा है कि ज्ञानरूपी प्रकाश के बिना मोक्ष का उपायभूत चारित्र, तप, संयम आदि की प्राप्ति की इच्छा करना व्यर्थ है।

अब ज्ञान की महिमा को बतलाने वाली समणसुत्त की निम्नलिखित गाथा प्रस्तुत करते हुये इस आलेख को पूर्ण मानता हूँ -

सूई जहा ससुत्ता, न नस्सई कयवरम्मि पडिआ वि।
जीवो वि तह ससुत्तो, न नस्सइ गओ वि संसारे॥२४८॥

अर्थात् धागा पिरोई हुई सूई कचरे में गिर जाने पर भी खोती नहीं है, वैसे ही ससूत्र अर्थात् शास्त्रज्ञान युक्त जीव संसार में पड़कर भी नष्ट नहीं होता। अतः मैं अपने प्रति यह कामना करता हूँ कि ऐसे ही सम्यग्ज्ञान को मेरी आत्मा प्राप्त करे, ताकि यह मनुष्य जन्म सफल हो जाए।

निदेशक, बी.एल.इंस्टीट्यूट ऑफ इण्डोलॉजी,
20वाँ किमी. जी.टी.करनाल रोड,
पो. अलीपुर, दिल्ली-110036

मंगल एवं मंगलाचरण का विश्लेषणात्मक अध्ययन

-डॉ. बसन्तलाल जैन

‘मंगल’ शब्द कल्याणकारी एवं शुभ सूचक शब्द है। किसी भी शुभकार्य के प्रारंभ में मंगलरूप आचरण करना मंगलाचरण है। ग्रंथ जन हितार्थ लिखा एवं पढ़ा जाता है। अतः उसको प्रारम्भ करते समय मंगलाचरण का निर्वाह किया जाता है। मंगलाचरण में अपने इष्टदेव को याद कर उनको प्रणाम किया जाता है।

मंगलाचरण में प्रायः पंचपरमेष्ठी या रत्नत्रय प्रदाता देव, शास्त्र और गुरु के गुणों की स्तुति की जाती है। इससे कषायों की मन्दता होती है और शुभ राग एवं पुण्य प्राप्त होता है। मंगलाचरण करने से परिणामों में निर्मलता आती है। मंगल आचरण करने से सारे पाप दूर होते हैं। इसलिए आचार्यों ने कहा है कि -

अपराजित - मंत्रोऽयं, सर्व-विघ्न-विनाशनः।

मंगलेषु च सर्वेषु, प्रथमं मंगलं मतः॥

एसो पंच-णमोयारो, सव्व-पावप्पणा-सणो।

मंगलाणं च सव्वेसिं, पढमं होई मंगलं॥

विघ्नौघाः प्रलयं यान्ति, शाकिनी-भूत-पन्नगाः।

विषं निर्विषतां याति, स्तूयमाने जिनेश्वरे॥१

अर्थात् यह पंच नमस्कार मंत्र अजेय है, सब विघ्नों का विनाश करने वाला है यह पंच नमस्कार मंत्र सब पापों का नाश करने वाला है और सर्व मंगलों में प्रथम मंगल है। मंगलाचरण में अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु - इन पांच परमेष्ठी, भगवान का स्तवन करने से विघ्नसमूह नष्ट हो जाते हैं एवं शाकिनी, डाकनि, भूत, पिशाच, सर्प, सिंह अग्नि आदि का भय नहीं रहता और हलाहल विष भी अपना असर त्याग देते हैं।

धवला ग्रन्थ के अनुसार मंगल का विवेचन -

(क) धवला टीका में आचार्य वीरसेन स्वामी जी ने मंगल का विवेचन धातु, निक्षेप, नय, एकार्थ, निरुक्ति और अनुयोग^२ के द्वारा किया है।

१. ‘धातु’ या व्याकरण की अपेक्षा मंगल का कथन - ‘धातु’ से ही शब्दों की निष्पत्ति मानी गयी है अथवा शब्दों के मूल कारणभूत धातु है। ‘मगि’ धातु से ‘अलच्’ प्रत्यय करने पर ‘मंगल’ शब्द की निष्पत्ति हुई है। जिसका अर्थ है - सुख को लाने वाला।^३
२. ‘मंगल’ के एकार्थवाची शब्द - धवला ग्रंथ में आचार्य ने इस प्रकार बताये हैं - मंगल, पुण्य, पूत, पवित्र, शिव, शुभ, कल्याण, भद्र, सौख्य इत्यादि^४

३. 'मंगल' शब्द की निरुक्ति पूर्वक कथन - आचार्य वीरसेन स्वामी जी ने मंगल शब्द की निरुक्ति करते हुए लिखा है-

मंग-शब्दोऽयमुद्दिष्टः पुण्यार्थ-स्याभि-धायकः।

तल्ला-तीत्युच्यते सदिभ-मंगलं मंगलार्थिभिः॥

पापं मलमिति प्रोक्त-मुपचारः समाश्रितः।

तद्धि गालयती - त्युक्तं मंगलं पण्डितैर्जनैः॥^६

अर्थात् 'मंग' शब्द पुण्य रूप अर्थ का प्रतिपादक है, जो पुण्य को लाता है, उसे मंगल के इच्छुक सत्पुरुष मंगल कहते हैं। अथवा उपचार से पाप को मल भी कहा जाता है, इसलिए जो उस पाप का गालन करे अर्थात् नाश करे उसको भी पण्डितजनों ने मंगल कहा है।

४. निक्षेप की अपेक्षा मंगल का कथन - नामादि के द्वारा वस्तु में भेद करने के उपाय को न्यास या निक्षेप कहा जाता है। प्रमाण और नय के अनुसार प्रचलित हुए लोक-व्यवहार को निक्षेप कहते हैं। अनिर्णित वस्तु को निर्णित करने वाला निक्षेप कहलाता है। निक्षेप के छह भेद हैं - नाम, स्थापना, द्रव्य क्षेत्र, काल और भाव।^६ इन छह निक्षेप की अपेक्षा मंगल का कथन इस प्रकार है -

नाम मंगल - जाति द्रव्य गुण और क्रिया के बिना किसी वस्तु का या मनुष्य का 'मंगल' इस नाम के निश्चित करने को नाम मंगल कहते हैं, जैसे किसी बालक का नाम - मंगलराम या मंगलदास रख दिया जाय तो वह नाम मंगल है।

स्थापना मंगल - लेखनी आदि से लिखित चित्र में, निर्मित मूर्ति में अथवा अन्य किसी वस्तु में बुद्धि से उसमें मंगल रूप जीव के, महात्मा या परमात्मा की "यही वही है" इस प्रकार की स्थापना करना स्थापना मंगल है, जैसे भगवान् महावीर की मूर्ति में भगवान् महावीर की स्थापना कर नमस्कार करना स्थापना मंगल है।

द्रव्य मंगल - भविष्य में पूर्ण ज्ञान के अतिशय को या मुक्तिदशा को प्राप्त होने के लिए सन्मुख महात्मा को अथवा भूतकाल में मुक्ति प्राप्त जीव को या पूर्ण ज्ञान प्राप्त पुरुष महात्मा को वर्तमान में नमस्कार करना द्रव्यमंगल कहा जाता है। इस भेद में भूतकाल और भविष्यकाल की मुख्यता लेकर उस पूज्य आत्मा को नमस्कार किया जाता है।

क्षेत्र मंगल - गुण परिणत आसन क्षेत्र अर्थात्, जहाँ पर योगासन, वीरासन आदि अनेक आसनों से तदनुकूल अनेक प्रकार के योगाभ्यास जितेन्द्रियता आदि गुण प्राप्त किये गये हों, ऐसा क्षेत्र परिनिष्क्रमण क्षेत्र अर्थात् जहाँ तीर्थंकर आदि महापुरुषों ने दीक्षा ली है ऐसा क्षेत्र, केवलज्ञानोत्पत्ति क्षेत्र और निर्वाण क्षेत्र को क्षेत्र मंगल कहते हैं। जैसे- सम्मेदशिखर, गिरनार पर्वत, चम्पापुर पावापुर आदि।

काल मंगल - जिस काल में जीव केवलज्ञानादि अवस्थाओं को प्राप्त होता है, उसे पापरूपी मल गलाने वाला होने के कारण काल मंगल कहते हैं। दीक्षा, केवलज्ञान, निर्वाण प्राप्ति दिवस आदि काल मंगल कहे जाते हैं। जैसे- पर्युषण पर्व, श्रुतपंचमी, मोक्षसप्तमी, महावीर जयंती आदि।

भाव मंगल - केवल ज्ञान प्राप्त अथवा मुक्ति दशा को प्राप्त वर्तमान पर्याय के सहित अरहन्त, एवं सिद्ध की आत्मा को भाव निक्षेप मंगल कहते हैं। अर्थात् वर्तमान में काल में मंगल पर्यायों से परिणत जो शुद्ध जीव है (पंच परमेष्ठियों की आत्मा) हैं, वे भाव मंगल है। सातिशय पुण्य के कारण भूत परिणाम या मोक्ष के साक्षात् हेतु भूत भाव भी भावमंगल है। जैसे- पूजा-भक्ति, ध्यान के परिणाम।

५. नय की अपेक्षा मंगल का कथन - नय के मूलरूप से दो भेद हैं -

१. द्रव्यार्थिकनय, २. पर्यायार्थिक नय। तीर्थकरों के वचन सामान्य प्रस्तार का मूल व्याख्यान करने वाला द्रव्यार्थिक नय है और उन्हीं वचनों के विशेष प्रस्तार का मूल व्याख्याता पर्यायार्थिक नय है। अथवा द्रव्य की मुख्यता से पंचपरमेष्ठी की आत्मा और पर्याय की दृष्टि से उनकी वर्तमान पर्याय मंगल है। शेष सभी नय इन दोनों के भेद हैं।

६. अनुयोग की अपेक्षा मंगल का कथन - इस अनुयोग में मंगल क्या है? मंगल किसका ? किसके द्वारा मंगल किया जाता है? मंगल कहाँ होता है? कितने समय तक मंगल रहता है? मंगल कितने प्रकार का है ? - इन सभी प्रश्नों का उत्तर - समाधान किया गया है।^{१६}

मंगल क्या है? - जीव द्रव्य मंगल है।

मंगल किसका है? - जीव द्रव्य का मंगल है।

किसके द्वारा मंगल किया जाता है? - औदयिक भावों के द्वारा मंगल किया जाता है अर्थात् पूजा-भक्ति अणुव्रत-महाव्रत आदि प्रशस्त रागरूप औदयिक भाव-परिणाम भी मंगल में कारण होते हैं।

मंगल कहाँ होता है - जीव में मंगल होता है।

कितने समय तक मंगल रहता है? - नाना जीवों की अपेक्षा हमेशा मंगल रहता है और एक जीव की अपेक्षा अनादि अनन्त, और सादि-सान्त तक मंगल रहता है।

मंगल कितने प्रकार का है ?- मंगल सामान्य की अपेक्षा एक प्रकार का है। मुख्य, गौण की अपेक्षा मंगल दो प्रकार का है। द्रव्य मंगल और भाव मंगल दो प्रकार का है। लौकिक और पारमार्थिक की अपेक्षा मंगल के दो प्रकार हैं। निश्चय व व्यवहार की अपेक्षा मंगल के दो प्रकार हैं। सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र के भेद से तीन प्रकार का मंगल है। अरिहंत, सिद्ध, साधु और अर्हन्त के भेद से मंगल चार प्रकार का है। सम्यक्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और तीन गुप्ति के भेद से पांच प्रकार का है। नाम, स्थापना, द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव की अपेक्षा मंगल के छह भेद हैं। पंचपरमेष्ठी की अपेक्षा मंगल पांच प्रकार का कहा जा सकता है। नवदेवता की अपेक्षा मंगल नव प्रकार का सिद्ध होता है। अथवा जिनेन्द्र देव को नमस्कार करने की जितनी पद्धतियाँ हैं, मंगल के उतने भेद हो सकते हैं।

(ख) मंगल के छह अधिकारों का कथन -

मंगल के विषय में छह अधिकारों द्वारा दंडक का कथन करना चाहिए। दण्डक के छह नाम इस प्रकार हैं - मंगल का अर्थ मंगलकर्ता, मंगलकरणीय मंगल का उपाय, मंगल के भेद, मंगल का फल।^{१७}

१. **मंगल का अर्थ** - मंगल दो शब्दों के से बना है - मं+गल। 'मं' का अर्थ है - 'पाप' एवं 'गल' का अर्थ है - गलाना। या "मं-पापं गालयति इति मंगलम्।" अर्थात् जो पापों को नष्ट करें गला दें, वह मंगल होता है। जो संसार के समस्त दुःखों को नष्ट करने वाला तथा लौकिक सुख व आध्यात्मिक सुखों को देने के निमित्त कारण हैं वे मंगल कहलाते हैं।
२. **मंगल-कर्ता** - चौदह विद्या-स्थानों के पारगामी आचार्य परमेश्वरी मंगलकर्ता है।
३. **मंगलकरणीय** - भव्य जन मंगल करने योग्य है।
४. **मंगल का उपाय** - रत्नत्रय की साधक सामग्री मंगल का उपाय है।
५. **मंगल के भेद** - 'जिनेन्द्र देव का नमस्कार हो' इत्यादि रूप से मंगल अनेक प्रकार का है। जो श्लोकादि की रचना के बिना ही जिनेन्द्र गुण-स्तवन किया जाता है वह अनिबद्ध मंगल है तथा जो श्लोकादि की रचना रूप से ग्रंथ के आदि में ग्रंथकार के द्वारा इष्टदेवता को नमस्कार निबद्धकर किया जाता है वह निबद्ध मंगल होता है। इस प्रकार निबद्ध और अनिबद्ध के भेद से मंगल के दो रूप हैं।
६. **मंगल का फल** - अभ्युदय और मोक्ष सुख मंगल का फल है। अर्थात् जितने प्रमाण में यह जीव मंगल के साधन मिलाता है, उतने ही प्रमाण में उससे जो यथायोग्य अभ्युदय और निःश्रेयस सुख मिलता है वही उसके मंगलाचरण एवं मंगल का फल है।

मंगल एवं मंगलाचरण करने का प्रयोजन - किसी भी शुभ कार्य के आरंभ में मंगल आचरण करना मंगलाचरण कहलाता है। मंगलमय आचरण-व्यवहार क्यों करना चाहिए ? मंगलाचरण करने का क्या उपदेश है ? मंगलाचरण करने का क्या प्रतिफल है ? इन सभी प्रश्न का उत्तर यह है कि - हमारे जीवन में आध्यात्मिक साधना का जो परम लक्ष्य है वही लक्ष्य/उद्देश्य/ प्रतिफल इस स्तुति - वंदना स्वरूप मंगलाचरण का भी है।

स्तुति, वंदना स्वरूप मंगलाचरण में देव, शास्त्र, गुरु या पंचपरमेश्वरी या नव देवता या तीर्थंकर का गुणानुवाद किया जाता है। अशुभ, विकार भाव या पापों को नष्ट करने के ध्येय से पुण्यप्राप्ति या आत्मशुद्धि के लिए भी मंगलाचरण किया जाता है। पुण्यप्राप्ति, आत्मशुद्धि के अतिरिक्त मंगलाचरण के प्रयोजन १० इस प्रकार हैं -

१. परमपिता परमेश्वर मंगल स्वरूप है। उन परमात्मा को मंगलाचरण में नमोस्तु करने से हमारा उद्देश्य निर्विघ्न रूप से सम्पन्न होता है। अर्थात् मंगल स्वरूप मंगल प्रदाता परमात्मा का गुणानुवाद करने से ग्रंथ जैसे शुभकार्य की रचना निर्विघ्न रूप से पूर्ण होती है।
२. जिनेन्द्र भगवान को नमस्कार करते हुए मंगलाचरण करना शिष्टाचार का परिपालन भी है। लोक में शिष्ट एवं विशिष्ट व्यक्तियों की यह परम्परा है कि प्रतिदिन परमात्मा का दर्शन, पूजन-भक्ति करते हैं तथा प्रत्येक शुभ कार्य के शुभारम्भ में पूज्य इष्टदेव को स्मरण कर उनको नमस्कार कर मंगलाचरण करते हैं और उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए शिष्टाचार का पालन करते हैं। क्योंकि जिन परमात्मा की कृपा से श्रद्धा, ज्ञान और चरित्र रूप रत्नत्रय गुण की प्राप्ति होती है। मंगल विधि द्वारा उनके प्रति कृतज्ञता प्रकट करना शिष्टजनों का कार्य है।

३. ईश्वर की सत्ता में विश्वास करना मंगलाचरण का द्योतक है। मंगलाचरण करने से नास्तिक मत का खण्डन और आस्तिक भाव का समर्थन होता है। मंगलाचरण करने वाले भक्तपरमात्मा, पुनर्जन्म, आत्मा, स्वर्ग, मोक्ष, धर्म आदि को विश्वासपूर्वक जानता है तथा सद् आचरण करता है, वह भक्त आस्तिक कहलाता है। आस्तिक अथवा परीक्षा प्रधानी भक्त सर्वज्ञ शास्त्र, व्रत और जीवतत्त्वों में अस्तित्व बुद्धि रखने को आस्तिक्य कहते हैं। आस्तिक्य प्रयोजन के बिना किसी भी मानव का परमात्मा में भक्ति का भाव नहीं हो सकता।
४. नमस्कार पूर्वक मंगलाचरण करने से मन पवित्र-निर्मल हो जाता है। जब मनुष्य सर्वज्ञ परमात्मा के श्रेष्ठ गुणों का कीर्तन या चिंतन करता है तब वह उसमें अहित विचार दूर होकर या पापवासना का नाश होकर मन में अच्छे विचार तथा उत्साह जागृत होता है जो मन को पवित्र करता है। गुणी महापुरुष के गुणों के चिन्तन या कीर्तन के बिना हृदय की शुद्धि नहीं हो सकती। आध्यात्मिक एवं लौकिक परोपकारी कार्य को पूर्ण करने के लिए मानसिक शुद्धि आवश्यक है।
५. भगवान् की भक्ति करते समय उनको नमस्कार करने में आत्मकल्याण की भावना निहित है। आत्म-कल्याण के साथ-२ विश्व कल्याण की भावना भी इस नमस्कार सहित भक्ति में समाहित है। जो व्यक्ति आत्महित की साधना करता है उस व्यक्ति से ही विश्व का कल्याण हो सकता है। इस प्रयोजन की सिद्धि परमेष्ठी की भक्ति के बिना नहीं हो सकता। कारण कि जिस आत्मा ने मुक्ति मार्ग की साधना कर मुक्ति को प्राप्त किया है, वह आत्मा ही संसार से मुक्ति का मार्ग दिखा सकता है।
६. परमात्मा की अर्चना, भक्ति एवं साधना करते समय उनको प्रणाम किया जाता है क्योंकि ऐसा करने से परमात्मा के अन्दर विराजमान सद्गुणों की प्राप्ति होती है। परमात्मा अनन्तानन्त गुणों के स्वामी होते हैं। इसलिए उनके गुण हमें भी प्राप्त हो, इस भावना से हम उनको नमस्कार करते हैं।

जो व्यक्ति जिस गुणी पुरुष के समान गुणों को प्राप्त करना चाहता है, वह उसी गुणी पुरुष की संगति करता है, उसको आदर्श मानता है, उसको नमस्कार करता है, उसकी प्रशंसा करता है। इसलिए परमात्मा के समान श्रेष्ठ गुणों को प्राप्त करने के लिए व्यक्ति उनकी पूजा, वंदना करता है, उनको प्रणाम करके शुभ कार्य का प्रारंभ करते हैं। व्यक्ति को गुण ग्राही बनकर गुणी की पूजन वंदन अभिवंदन करना चाहिए, न कि लोक समान, धन लालसा, विषय भोग आदि के लोभ से। आचार्य पूज्यपाद स्वामी सर्वार्थसिद्धि के मंगलाचरण में लिखते हैं -

“मोक्ष मार्गस्य नेतारं, भेत्तारं कर्म भू भूताम्।
ज्ञातारं विश्वतत्त्वानां, वन्दे तद गुण लब्धये॥” ११

अर्थ-जो मोक्ष मार्ग के नेता, कर्मरूपी पर्वतों को भेदने वाले एवं विश्व के तत्त्वों को जानने वाले, ऐसे विशेषणों से सुशोभित हितोपदेशी, वीतरागी और सर्वज्ञ भगवान् को उनके श्रेष्ठ गुणों की प्राप्ति के लिए मैं उनकी वंदना करता हूँ।

७. पंचपरमेष्ठी या परमात्मा की साधना करने से जीवन का परमलक्ष्य मोक्ष-प्राप्ति होती है। परमात्मा को ध्यान में रखकर किया गया उपासना ही उपासक को मुक्ति मार्ग की प्राप्ति कराता है। आचार्य विद्यानंद स्वामी जी आप्त परीक्षा में लिखते हैं कि -

“श्रेयो मार्गस्य संसिद्धिः प्रसादात्परमेष्ठिनः।” १२

अर्थात्-परमेष्ठी- परमात्मा के प्रसाद से श्रेयोमार्ग- कल्याणकारी मार्ग अथवा मोक्षमार्ग की सिद्धि होती है। यहाँ पर प्रसाद का अर्थ है- प्रसन्नचित्त परमात्मा की उपासना-भक्ति करना। इससे जो कल्याण मार्ग की सिद्धि होती है वही यथार्थ में परमेष्ठी का प्रसाद है।

सम्यक्दर्शन और सम्यग्ज्ञान सहित सम्यक् आचरण ही मोक्षमार्ग-श्रेयमार्ग कहलाता है, १३ इस मोक्ष मार्ग की प्राप्ति निर्मल भक्ति एवं वंदना से सम्भव है। जब हम प्रभु की भक्ति-वंदना स्तुति स्वरूप मंगल आचरण का व्यवहार करते हैं तब क्या हमें श्रेयमार्ग की प्राप्ति नहीं होगी? अर्थात् होगी। अर्थात् वीतराग जिनेन्द्र देव के स्मरण, कीर्तन, गुणानुवाद, स्तुति, पूजन, प्रणाम, नमोऽस्तु मंगलरूप आचरण करने से अनंतानंत संसार की जन्म-मरण रूप परम्परा का नाश कर मुक्ति धाम की प्राप्ति होती है।

संदर्भ -

१. जिन भारती संग्रह, पृष्ठ - ६०
२. जिनेन्द्रवचनमृतसार - (डॉ. गुलाबचन्द जैन) पृष्ठ-७
३. जिनेन्द्रवचनमृतसार - (डॉ. गुलाबचन्द जैन) पृष्ठ-७
४. धवला पुस्तक १. पृष्ठ-३१
५. धवला पुस्तक १. पृष्ठ-३३-३४
६. षट्खण्डागम, खण्डे १, पुस्तक १, (टीकाकत्री- आ. ज्ञानमति माता) पृष्ठ-३०
७. षट्खण्डागम, खण्ड १, पुस्तक १, (टीकाकत्री- आ. ज्ञानमति माता) पृष्ठ-३१
८. षट्खण्डागम, खण्ड १, पुस्तक १, (टीकाकत्री- आ. ज्ञानमति माता) पृष्ठ-४०
९. धवला १/१, १.१/३६/९, जैनेन्द्र सिद्धांत कोश भाग -३, पृष्ठ-२४१
१०. (i) पंचास्तिकाय संग्रह १, आचार्य जिनसेन कृत तात्पर्यवृत्ति।
११. (ii) न्यायदीपिका- डॉ. दरबारीलाल कोठिया, पृष्ठ-१३५ (हिन्दी अनुवाद)
१२. (i) आप्तपरीक्षा - (आचार्य विद्यानंद जी)
१३. (ii) आप्तपरीक्षा - सं. न्यायाचार्य पं. दरबारीलाल कोठिया, प्रकाशक-वीर सेवा मंदिर, दिल्ली पद्य २, पृष्ठ-२
१३. ‘सम्यक् दर्शन ज्ञान चारित्राणि मोक्षमार्गः’ - तत्त्वार्थसूत्र अध्याय १, सूत्र १

- कोहड़ार,
इलाहाबाद-२१२३०१ (उ.प्र.)

कलिङ्ग चक्रवर्ती खारवेल

-डॉ.रमेशचन्द्रजैन

शुङ्ग राजवंश ने ११२ वर्ष तक राज्य किया। इसके बाद इसका अन्त हो गया। इसके बाद कलिङ्ग में एक शक्तिशाली राज्य का उदय हुआ, जिसके प्रधान नायक खारवेल माने जाते हैं। प्राचीन भारत के इतिहास और सांस्कृतिक क्षेत्र में प्रख्यात चेदि राजवंश की प्रतिष्ठा कलिङ्ग में महामेघवाहन वंश के नाम से ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी तक हो चुकी थी। बहुधा जैनधर्म के प्रधान पृष्ठ पोषक होने के कारण इस वंश के राजाओं का यश जैन साहित्य में विशेष रूप से कीर्तित हुआ है। महाभारत, बौद्ध चैतीय जातक तथा अन्य पुराणों में भी इस वंश का विवरण पाया जाता है। कलिङ्ग में खारवेल इस राजवंश के सर्वश्रेष्ठ शासक माने जाते हैं। यह भी तात्पर्य पूर्ण है कि भारतवर्ष में वे ही महाराजा पद विभूषित सर्वप्रथम सम्राट हैं और उनकी प्रथम नहिषी के मञ्जुपुरी गुफा अभिलेख में उन्हें चक्रवर्ती के रूप में अभिहित किया गया है। दस वर्ष के शासनकाल में खारवेल ने जो सामरिक सफलता पाई थी, उसके समकक्ष दृष्टान्त भारत के इतिहास में दृष्टिगोचर नहीं होता। उनके शासन काल में कलिङ्ग समस्त भारतवर्ष में अद्वितीय और अजेय शक्ति के रूप में विवेचित हुआ तथा अपने राजनैतिक प्रभाव को हिमालय से कुमारिका, पूर्वसागर से पश्चिम पयोधि तक व्याप्त कर सका था। शासक के रूप में उनकी मानवीयता, कला और संस्कृति के प्रति प्रगाढ़ अनुराग, उदार धर्मनीति और आध्यात्मिकता के कारण इतिहास में उन्हें विशिष्ट स्थान प्राप्त हुआ है।^१

चेदि राजवंश

चेदि राजवंश भारत में अति प्राचीन काल से ही प्रतिष्ठित था। जिनसेन कृत हरिवंश के उल्लेख से यह स्पष्ट प्रतिपादित होता है कि विन्ध्याचल के समीपवर्ती क्षेत्र में अभिचन्द्र ने चेदि राष्ट्र की स्थापना की थी और शुक्तिमती नदी के तट पर उनकी राजधानी थी, जिसकी शुक्तिमतीपुर के नाम से ख्याति थी-

विन्ध्यपृष्ठेऽभिचन्द्रेण चेदिराष्ट्रमधिष्ठितम्।

शुक्तिमत्यास्तटेऽध्यायि नाम्ना शुक्तिमती पुरी॥

शुक्तिमती आधुनिक उड़ीसा के बलांगीर जिले में प्रवाहित शुकतेल नदी है।^२ महामेघवाहन कलिङ्ग में चेदि राजवंश के प्रतिष्ठाता थे। फलस्वरूप कलिङ्ग मगध से स्वतंत्र हुआ और उसके गौरवमय इतिहास में नये-नये अध्याय जुड़ते गए। खारवेल कलिङ्ग में अपने वंश के तृतीय राजा थे। द्वितीय राजा अनुमानतः हाथी गुम्फा शिलालेख की आद्यपंक्ति में उल्लिखित चेतराज खारवेल के पिता हैं।

पार्जितर ने मध्यप्रदेश में बहने वाली केन नदी को शुक्तिमती कहा है। राजा शिशुपाल चेदिवंश का शासक था। उसकी राजधानी चन्देरी थी। खारवेल के पूर्वज भी मूलतः चन्देरी के आसपास स्थित चेदिदेश के ही वासी रहे होंगे।

जीवन परिचय

खारवेल पिंगलवर्ण वपुवान् रूपवंत पुरुष थे। जन्म के समय से उनके शरीर पर महामानव के लक्षणों का होना ज्ञात था। विविध क्रीडाओं के माध्यम से शिक्षारम्भ होकर पन्द्रह वर्ष की आयु तक वे लेखन (राजकीय पत्रालाप) रूप (मुद्रा विज्ञान), गणना (गणित ज्ञान) व्यवहार (न्याय), विधि (प्रशासनिक) और सभी विद्याओं में निपुण हो गए थे। हाथी गुम्फा अभिलेख से यह स्पष्ट हो जाता है कि खारवेल पन्द्रह वर्ष की अवस्था में युवराज पद पर अधिष्ठित हुए थे। परन्तु उन्हें किसने अधिष्ठित किया था, यह इस अभिलेख से ज्ञात नहीं होता है। अनुमानतः उस समय खारवेल के पिता की अकाल मृत्यु के कारण उन्हें नाबालिग अवस्था में युवराज का पद मिला था, और उन्हें दूसरों की प्रशासनिक सहायता से राज्य शासन किया था। उनकी दो रानियाँ थीं, प्रथम रानी ललार्क (हस्तीसिंह के प्रपौत्र) की दुहिता थी, यह वजिरघर रानी के नाम से प्रख्यात थी। वजिरघर को आधुनिक मध्यप्रदेश स्थित बेरागढ़ के रूप में चिन्हित किया गया है। द्वितीय महिषी सिंहपथ रानी के नाम से अभिहित थी। सिंहपथ को आधुनिक श्री काकुलम् जिला के सिंगपुरम के रूप में चिन्हित किया गया है। ई. चौथी सदी में माठर राजवंश के राजत्वकाल में सिंहपुरम ही कलिंग की राजधानी थी। दोनों रानियाँ भिन्न भिन्न अवसरों पर जनसाधारण के सम्मुख उपस्थित हुआ करती थीं।

अभिषेकोत्सव के एक वर्ष बाद कलिंग का उपकूलवर्ती क्षेत्र वातावध्वंस के कारण कलिंग नगरी के ऊँचे ऊँचे प्रासाद, गोपुर और दुर्गों के प्राचीर ढह गए थे, जिससे कलिंग की पर्याप्त हानि हुई थी। अभिषेक के तुरन्त बाद प्रथम वर्ष में ही उन्होंने राजधानी कलिंग नगरी के भग्न प्रासाद और प्राचीरों का पुनः निर्माण कराया एवं राजधानी को सुदृढ़ तथा सुशोभित किया। दुर्ग, प्राचीर और अट्टालिकाओं के संस्कार साधन के साथ साथ उन्होंने प्राचीन जलाशयों का भी जीर्णोद्धार कराया और उन्हें सुन्दर सोपान श्रेणी से सजाकर उद्यानों को नवीन रूप प्रदान किया। इस विकास कार्य के लिए पैंतीस लाख मुद्राओं का व्यय हुआ था। तीन सौ वर्ष पूर्व कलिंग में महापद्मनन्द ने जो नहर खुदवाई थी, खारवेल ने अपने शासन के पांचवें वर्ष में उसकी अभिवृद्धि की तथा उसे कलिंग नगरी तक ले आए। वह जल प्रवाह कलिंग में कृषि, स्नान, संतरण तथा पानीय के लिए अत्यन्त सहायक सिद्ध हुआ। राजत्व के छठे वर्ष में उन्होंने राजैश्वर्य का प्रदर्शन करते हुए पौर और जनपदों को कर रहित घोषित किया। उस समय वैदेशिक धनसम्पदाओं से राजकोश परिपूर्ण था। अतः उन्नयन कार्यों पर उसका कोई प्रभाव न पड़ा। राजत्व के नौवें वर्ष खारवेल ने जैनतीर्थ मथुरा को यवनों की अधीनता से मुक्त किया। तत्पश्चात् अड़तीस लाख मुद्राओं के व्यय से विजयस्मारिका के रूप में एक महाविजय प्रासाद का निर्माण किया। उसका क्रीडा संगीत और नाट्य के प्रति विशेष आकर्षण था।³

हाथी गुम्फा शिलालेख

उड़ीसा की राजधानी भुवनेश्वर के समीप उदयगिरि पर हाथी गुम्फा नामक प्राकृतिक गुम्फा की आभ्यन्तरीण छत पर खोदी हुई महाराज खारवेल की एक सुदीर्घ प्रस्तर लिपि है। यही सुप्रसिद्ध 'हाथी गुम्फा' शिलालेख है। सर्वप्रथम इसकी खोज १८२० में स्टर्लिंग सा. ने की थी तथा इसे "An account of Geographical statisfdeical and historical of Orissa or Cuttack" ग्रंथ में सन्दर्भित किया था। बाद में मार्खम किटो (M. Kittoe), प्रिसेप, अलेक्जेंडर कनिंघम, राजेन्द्रलाल मित्र, लॉक (locke) पण्डित भगवानलाल इन्द्र, ब्यूलर (Buhler) जे.बी ब्लॉक

(J.B. Block), कीलहार्न जे.एच. फ्लीट, ल्यूडर एफ. डब्ल्यू थामस (F. W. Thomas) खालदास बनर्जी, काशी प्रसाद जायसवाल, वेणीमाधव बरुआ, दिनेशचन्द्र सरकार, तथा नवीन कुमार साहू आदि ने इसके पाठोद्धार का प्रयास किया। शिलालेख का भावानुवाद इस प्रकार है -

(१) अरहन्तों को नमस्कार। सर्व सिद्धों को नमस्कार। ऐल महाराज महामेधवाहन चैतराजवंशवर्द्धन प्रशस्त शुभलक्षणसम्पन्न अखिल देशस्तम्भ, कलिङ्गाधिपति श्री खारवेल ने।

(२) पन्द्रह वर्ष तक श्री सम्पन्न और कडार (गन्दुमी) रंग वाले शरीर से कुमार क्रीडायें कीं। बाद में लेख, रूपगणना, व्यवहार विधि में उत्तम योग्यता प्राप्त कर और समस्त विद्याओं में प्रवीण होकर उसने नौ वर्ष तक युवराज की भांति शासन किया।

जब वह पूरा चौबीस वर्ष का हो चुका, तब उसने जिसका शेष यौवन विजयों से उत्तरोत्तर वृद्धिगत हुआ -

(३) कलिङ्गराजवंश में एक पुरुष युग के लिए महाराज्याभिषेक पाया। अपने अभिषेक के पहले ही वर्ष में उसने वातविहत (तूफान से बिगाड़े हुए) गोपुर (फाटक), प्राकार (चहारदीवारी) और भवनों का जीर्णोद्धार कराया, कलिङ्ग नगरी के फब्बारे के कुण्ड, दूषितल्ल (?) और तड़ागों के बांधों को बंधवाया; समस्त उद्यानों का प्रतिसंस्थापन कराया और पैंतीस लक्ष प्रजा को संतुष्ट किया।

(४) दूसरे वर्ष में सातकीर्ण की चिन्ता न करके उसने पश्चिम देश में बहुत से हाथी, घोड़ों, मनुष्यों और रथों की एक बड़ी सेना भेजी। कृष्णवेण नदी पर सेना पहुंचते ही उसने उसके द्वारा भूषिक नगर को सन्तापित किया। तीसरे वर्ष में फिर

(५) उस गन्धर्ववेद में निपुणमति ने दन्त, नृत्य, गीत, वाद्य, सान्दर्शन, उत्सव और समाज के द्वारा नगरी का मनोरंजन किया। और चौथे वर्ष में विद्याधर निवासों को जो पहले कभी नष्ट नहीं हुए थे और जो कलिङ्ग के पूर्व राजाओं के निर्माण किये हुए थे..... उनके मुकुटों को व्यर्थ करके और उनके लोहे के टोपों के दो खण्ड करके और उनके छत्र

(६) और भृंगारों को (सुवर्णकलशों को) नष्टकर तथा गिराकर और उनके समस्त बहुमूल्य पदार्थों तथा रत्नों का हरण कर समस्त राष्ट्रिकों और भोजकों से अपने चरणों की वन्दना कराई।

इसके बाद पांचवे वर्ष में उसने तनसुलिय मार्ग में नगरी में उस प्रणाली (नहर) का प्रवेश किया, जिसको नन्दराज ने तीन सौ वर्ष पहले खुदवाया था। छठे वर्ष में उसने राजसूय यज्ञ कर सब करों को क्षमाकर दिया।

(७) पौर और जानपद (संस्थाओं) पर अनेक शतसहस्र अनुग्रह वितरण किये।

सातवें वर्ष राज्य करते हुए वज्र घराने की धृष्टि नामक गृहिणी ने मातृक पद को पूर्ण करके सुकुमार

आठवें वर्ष में उसने (खारवेल) ने बड़ी दीवार वाले गोरथगिरि पर एक बड़ी सेना के द्वारा

(८) आक्रमण कर राजगृह को घेर लिया। पराक्रम के कार्यों के इस समाचार के कारण नरेन्द्र (नाम)..... अपनी धिरी हुई सेना को छुड़ाने के लिए मथुरा चला गया।

- (नवें वर्ष में) उसने दिये.....पल्लव युक्त।
- (९) कल्पवृक्ष, सारथी सहित हय-गज-रथ और सबको अग्निवेदिका सहित गृह, आवास और परिवसन सब दान को ग्रहण कराए जाने के लिए उसने ब्राह्मणों की जातिपंक्ति जातीय संस्थाओं को भूमि प्रदान की। अर्हत्....
- (१०) उसने महाविजय प्रासाद नामक राजसन्निवास, अड़तीस सहस्र की लागत का बनवाया।
- दसवें वर्ष में उसने पवित्र विधानों द्वारा युद्ध की तैयारी कर देश जीतने की इच्छा से भारतवर्ष (उत्तर भारत) को प्रस्थान किया।
- (११) (ग्यारहवें वर्ष में) पूर्व राजाओं के बनवाए हुए मण्डप में, जिसके पहिए और जिसकी लकड़ी मोटी, ऊँची और विशाल थी, जनपद से प्रतिष्ठित तेरहवें वर्ष पूर्व में विद्यमान केतुभद्र की तिक्त (नीम), काष्ठ की अमर मूर्ति को उसने उत्सव से निकाला।
- बारहवें वर्ष में..... उसने उत्तरापथ (उत्तरी पंजाब और सीमांत प्रदेश) के राजाओं में त्रास उत्पन्न किया।
- (१२) और मगध के निवासियों में विपुल भय उत्पन्न करते हुए उसने अपने हाथियों को गंगा पार कराया और मगध के राजा बृहस्पतिमित्र से अपने चरणों की वन्दना कराई।
- (वह) कलिंग जिन की मूर्ति को जिसे नन्दराज ले गया था घर लौटा लाया और अंग और मगध की अमूल्य वस्तुओं को भी ले आया।
- (१३) उसने जठरोल्लिखित (जिनके भीतर लेख खुदे हैं) उत्तम शिखर, सौ कारीगरों को भूमि प्रदान करके बनवाए और यह बड़े आश्चर्य की बात है कि वह पाण्डवराज से हस्तिनावों में भराकर श्रेष्ठहय हस्ति, माणिक और बहुत से मुक्ता और रत्न नजराने में लाया।
- (१४) फिर तेरहवें वर्ष में व्रत पूरा होने पर (खारवेल ने) उन याप ज्ञापकों को जो पूज्य कुमारी पर्वत पर, जहाँ जिन का चक्र पूर्ण रूप से स्थापित है, समाधियों पर याप और क्षेम की क्रियाओं में प्रवृत्त थे, राजभृतियों को वितरण किया। पूजा और अन्य उपासक कृत्यों के क्रम को श्री जीवदेव की भांति खारवेल ने प्रचलित रखा।
- (१५) सुविहित श्रमणों के निमित्त शास्त्र- नेत्र के धारकों, ज्ञानियों और तपोबल से पूर्ण ऋषियों के लिए (उसके द्वारा), एक संधायन (एकत्र होने का भवन) बनाया गया। अर्हत् की समाधि (निषद्या) के निकट पहाड़ की ढाल पर, बहुत योजनाओं से लाए हुए और सुन्दर खानों से निकाले हुए पत्थरों से, अपनी सिंहप्रस्थी रानी धृष्टी के निमित्त विश्रामागार बनवाया।
- (१६) और उसने पाटालिकाओं में रत्नजटित स्तम्भों को ७५ लाख पणों (मुद्राओं के व्यय से प्रतिष्ठापित किया। वह (इस समय) मुरिय काल के १६४ वें वर्ष को पूर्ण करता है। वह क्षेमराज, वर्द्धराज, भिक्षुराज, धर्मराज और कल्याण को देखता रहा है, सुनता रहा है और अनुभव करता रहा है।

(१७) गुणविशेष कुशल, सर्वमतों की पूजा (सन्मान) करने वाला, सर्व देवालयों का संस्कार कराने वाला, जिसके रथ और जिसकी सेना को कभी कोई रोक न सका, जिसका चक्र चक्रधुर (सेनापति) द्वारा सुरक्षित रहता है, जिसका चक्र प्रवृत्त है और जो राजर्षि कुल में उत्पन्न हुआ है, ऐसा महाविजयी राजा श्री खारवेल हैं।

इस शिलालेख की प्रसिद्ध घटनाओं का तिथिपत्र

ईसा पूर्व १४६० (लगभग) केतुभद्र

ईसा पूर्व ४६० (लगभग) कलिंग में नन्दशासन

ईसा पूर्व २३० अशोक की मृत्यु

ईसा पूर्व २२० (लगभग) कलिंग के तृतीय राजवंश का स्थापन

ईसा पूर्व १९७ खारवेल का जन्म

ईसा पूर्व १८८ मौर्यवंश का अन्त और पुष्यमित्र का राज्य प्राप्त करना।

ईसा पूर्व १८२ खारवेल का युवराज होना

ईसा पूर्व १८० (लगभग) सातकर्ण प्रथम का राज्य प्रारम्भ

ईसा पूर्व १७३ खारवेल का राज्याभिषेक

ईसा पूर्व १७२ मूषिक नगर पर आक्रमण

ईसा पूर्व १६९ राष्ट्रिकों और भोजकों की पराजय

ईसा पूर्व १६७ राजसूय यज्ञ

ईसा पूर्व १६५ मगध पर प्रथम आक्रमण

ईसा पूर्व १६१ उत्तरापथ और मगध पर आक्रमण, पाण्डवराज से अदेय (नजराने) की प्राप्ति ईसा पूर्व १६० शिलालेख की तिथि।^४

विजय यात्रा

अपने राजत्वकाल के दूसरे ही वर्ष में खारवेल ने राजा सातकर्ण का कोई भय न मानकर पश्चिम दिशा की ओर सैन्यदल भेजा था। यह सातकर्ण अवश्य ही आन्ध्र सातवाहन वंश के राजा होंगे।^५

हाथी गुफा के शिलालेख से ज्ञात होता है कि खारवेल ने अपने राजत्व के १२वें वर्ष में मगधाधिपति बृहस्पतिमित्र को युद्ध में परास्त किया था। कुछ लोगों के अनुसार पुष्यमित्र सुंग का ही दूसरा नाम बृहस्पति मित्र था।

खारवेल २४ वर्ष की उम्र में कलिंग के सिंहासन पर बैठा। उसके राज्य के तेरह वर्षों का वर्णन शिलालेख में है। इस अल्प समय में कलिंग के उत्तर और दक्षिण में जितने राज्य थे, सभी को उसने जीत लिया था।^६ सातकर्णी राजा आन्ध्र के सातवाहन वंश का तृतीय राजा था।^७

सातकर्णी राजा को हराने के बाद खारवेल की सेना कलिंग न लौटकर दक्षिण में कृष्णा नदी के तट पर बसे हुए अशिक नगर पर जा पहुँची। पुराण के अनुसार उस समय कृष्णा नदी के जो राजा थे, वे बड़े ही पराक्रमी और शूरवीर थे, फिर भी उनकी शक्ति खारवेल का मुकाबला करने से हार गई। अशिक राज्य पर आधिपत्य जमा खारवेल सैन्य सहित एक वर्ष तक वहीं रहा, बाद में लौटा।⁸

खारवेल तीसरे वर्ष कहीं नहीं गया। इस वर्ष उसने राजधानी में आनन्दोत्सव मनाए। चौथे वर्ष अरकडपुर में जो विद्याधरों के वास थे, उन पर अधिकार कर रथिक और भोजक लोगों पर आक्रमण शुरू किया। इन सभी को परास्त कर उसने अपने आधीन कर लिए। पांचवें वर्ष में उसने तनसुलिय - वाट - नहर को बढ़ाया। इसे नन्दराज ने बनवाया था। छठे वर्ष पौर और जानपदों को उसने विशेष अधिकार प्रदान किए। सातवें वर्ष उसका विवाह धूमधाम से हुआ। आठवें वर्ष उसने मगध पर आक्रमण किए और ससैन्य गोरथगिरि (बराबर की पहाड़ियाँ) तक पहुँच गए। उसके शौर्य की गाथा सुन यवनराज देमित्रियस मथुरा छोड़कर भाग गया।

राजधानी को लौटकर खारवेल ने अपने राजत्वकाल के ९वें वर्ष में महान् उत्सव व दान-पुण्य किया। उन्होंने सभी को किमिच्छिक दान दिया। योद्धाओं को घोड़े, हाथी, रथ भेंट किए और प्राची नदी के दोनों तटों पर विजयप्रासाद बनवाकर अपनी दिग्विजय को स्थायी बना दिया। दसवें वर्ष में अपनी सेना को उसने पुनः उत्तर की ओर भेजा एवं ग्यारहवें वर्ष उसने मगध पर आक्रमण किया। यह आक्रमण अशोक के कलिंग आक्रमण के प्रतिशोध में था। मगधनरेश बृहस्पतिमित्र खारवेल के पैरों में नतमस्तक हुए। उन्होंने अंग और मगध की मूल्यवान् भेंट लेकर राजधानी को प्रयाण किया। इस भेंट में कलिंग के राजचिन्ह और कलिंग जिन (भगवान् ऋषभदेव) की प्राचीन मूर्ति भी थी, जिसे नन्दराज मगध ले गया था। खारवेल ने उस अतिशय पूर्ण मूर्ति को कलिंग वापस लाकर बड़े उत्सव से विराजमान किया। उस घटना की स्मृति में उन्होंने विजयस्तम्भ भी बनावाया। इसी वर्ष दक्षिण के पाण्ड्यनरेश ने खारवेल का सत्कार किया और बहुमूल्य भेंट दी। बारहवें वर्ष उत्तर और दक्षिण के बड़े-बड़े नरेशों को परास्त कर वे कलिंग चक्रवर्ती सिद्ध होते हैं।

१३वें वर्ष में खारवेल राज्यलिप्सा से विरक्त हो धर्मसाधना की ओर झुकते हैं। कुमारी पर्वत पर जहाँ भगवान् महावीर ने धर्मोपदेश दिया था, वहाँ जिनमन्दिर बनवाते हैं और अर्हन्त निषधिका का उद्धार करते हैं। वे एक श्रावक के व्रतों का पालन कर आत्मोन्नति में लग जाते हैं।

खारवेल के समय का राष्ट्र जैनधर्म था। जैन साधुओं के लिए खारवेल ने अनेक गुफा बनवाई थीं। उन्होंने णमोकार मंत्र के दो पद - “नमो अरहन्तानं, नमो सव्वसिधानं” अपने शिलालेख के प्रारंभ में लिखाए थे। उसने लेख के साथ स्वस्तिक आदि जैन मांगलिक चिन्ह भी खुदवाए थे। उसके शिलालेखों में बौद्ध और आजीविकों का उल्लेख नहीं है। इससे यह द्योतित होता है कि कलिंग में ब्राह्मण और जैन दो ही प्रधान धर्म थे। उनके शासन में जैनधर्म कलिंग में उन्नति के शिखर पर पहुँचा। वे कर्मशूर होने के साथ साथ धर्मशूर थे। खारवेल जन्म से जैन थे। उन्होंने अशोक की तरह अपना धर्म परिवर्तन नहीं किया था। उनकी उपाधि खेमराजा (क्षमाशील राजा), भिक्षुराजा, धर्मराजा, वर्द्धमानराजा आदि थे। भिक्षु राजा उपाधि से यह द्योतित होता है कि उन्होंने मुनिव्रत भी धारण किए थे। खण्डगिरि की बारह गुफा में चौबीस तीर्थंकरों की मूर्तियों के अतिरिक्त पश्चिमी दीवाल के कोने में उनकी मूर्ति दिगम्बर वेष में विद्यमान है, कमण्डलु नीचे रखा है, हाथ में पिच्छ लिए ध्यानमुद्रा में खड़े हैं। इससे द्योतित होता है कि जैनधर्म के संरक्षण और सम्प्रसारण में उन्होंने अपना जीवन समर्पित कर दिया था।¹⁰

जैनधर्म ने कलिंग के निवासियों को बहुत प्रभावित किया है। यहाँ एक महिमा धर्म का उदय हुआ था। महिमा धर्म के अनुयायी साधु खण्डगिरि के आसपास आश्रम बनाकर रहते हैं। वे जैन क्षुल्लकों की तरह गेरुआ रंग की एक कौपीन और एक उतरीय धारण करते हैं। वे रात्रि भोजन नहीं करते हैं और पूर्णतया शाकाहारी हैं और दयाधर्म को पालते हैं।¹¹ आर. पी महापात्र ने Jain Monuments पृ. ४० में कहा है - "No parking of food after sunset and their practice of burning the deadbody shows the influence of Digambar Jains."

उड़ीसा में प्रारम्भ से ही जैनों का निवास था। सराक जाति प्राचीन जैनों का ही अवशेष है। संभवतः शुङ्गकाल में ये शहर छोड़कर गांव और जंगल में रहने को विवश हुए हों।

जगन्नाथ जी की रथयात्रा जैनों की रथयात्रा का अनुकरण है। नाथ सम्प्रदाय का अस्तित्व भी तीर्थकरों की विचारधारा के प्रभाव से उदय में आया। चनो मोहन गांगुली ने कहा है कि उड़ीसा में जैनधर्म की जड़ें इतनी गहरी थीं कि हम उसके चिन्ह १६वीं सदी ई. तक पाते हैं। उड़ीसा का सूर्यवंशी राजा प्रतापरुद्रदेव जैनधर्म की ओर बहुत झुका हुआ था।¹²

संदर्भ

१. श्री सदानन्द अग्रवाल : खारवेल पृ. १ (भूमिका) प्रकाशक- श्री दि. जैन समाज, कटक, महताब रोड, कटक, जनवरी १९९३
२. वही पृष्ठ ३
३. खारवेल पृ. २३-२४
४. जैन शिलालेख संग्रह - भाग- २, पृ. ४ -११
५. डॉ. लक्ष्मीनारायण साहू : उड़ीसा में जैनधर्म पृ. ४२
६. M. N. Das : Glimpses of Kalinga History P.60
७. N. K. Sahu - History of Orissa, vol.II, P.327
८. उड़ीसा में जैन धर्म पृ. ५७
९. उड़ीसा में जैनधर्म पृ. ५५-५७
१०. प्रो. लालचन्द्र जैन : उड़ीसा में जैनधर्म पृ. ३१-३२
११. वही, पृष्ठ-१३१
१२. उड़ीसा एण्ड हर रिमेन्स : एन्शाएण्ट एण्ड मेडिएवल, कलकत्ता १९१२

- द्वारा, मनोज खन्ना
मु. जाटान, बिजनौर (उ.प्र.)

Relativity and Anekant

- Dr. Samani Shashi Prajna

Acarya Sidhasena (6th-7th cent. A.D.) has supported absolute unity at the existential level where there remain no distinction, except pure existence. So Jain logicians don't agree with the statement that relativity is anekant rather they believe that relativity is the outcome of anekant philosophy. Moreover Jain logicians denote anekant with the term, 'jatyantara' i.e. it is neither relativity nor absolutes. Relativity is actually outcome of anekanta.

Nayavada is a significant contribution of the Jain logic and epistemology. It helps to understand the nature of an object in a comprehensive way. It is the basis of the principle of anekanta as already mentioned by Siddhasena Divakara in his work. Mailla Dhavala in his Nayacakra approves the very same statement with addition to an illustration. For e.g. the essence of all the scriptures is alphabet; Samyaktva (Right word view) is the basis of all the penance, the lead is the basis of all the metals likewise naya is the basis or essence of anekanta.¹ Lord Mahavira, the preceptor through his enlightenment, articulated the way of expressing the truth, which seems absolutists in appearance and non-absolutist in approach. The methodology is recognized as sevenfold dialectic through which multiple truth can be expressed. The only condition is that when one quality becomes dominant in expression, the rest would be secondary at that time.² Acarya Amrtchandra (10th cent. A.D.) who expounded anekant with a folk imagery, imaging of a seemingly common occurrence in our lives in the countryside at one time in every home and now remaining only in the romance of Lord Krishna. The imagery is how the churning process takes place. The churning process in Vrindavan, the churning process which brought the Amrt by churning the ocean. The example of milk maid given by Amrtchandra is worth quoting here. He says :

**ekenakarsayanti slattayanti vastutattvamitarena,
antena jayati jaini nitirmanthannetramiva gopi.³**

It means that the lady while churning parts one hand in front and other hand goes behind, by this constant process of the two hands one going forward and one going backward, there is the triumph of anekant.

Acarya Mahaprajna also quoted a living example to prove the arpitānarpita of the anekanta philosophy. In our daily routine we experience that when we walk, if the left foot is in front automatically the right will be behind, by this constant process of the two legs one going forward and one going backward actually motion occurs. If a person tries to keep both his legs in front, then it is obvious he will fall down. So the practical application of anekant even in motion can be observed in each step of our life.⁴ Knowledge Based On Sapatio Temporal Is Relative

All knowledge of a thing at particular spatio-temporal locus is conditional and relative to the circumstance.⁵ Radhakrishnan⁶ translate syadvada as the theory of relativity. Moreover he says, “the theory relativity cannot be logically sustained without the hypothesis of an absolute. The fact that we are conscious of our relativity means that we have to reach out to a fuller conception. It is from that higher absolute point of view that the lower relative ones can be explained.

The founder to the theory of relativity, Albert Einstein explained his relativity through an interesting story. Mrs. Einstein didn't understand her husbands theories. One day she asked, “What shall I say is relativity”. The thinker replied with an unexpected parable. “ parable, “When a man talks to a pretty girl for an hour, it seems to him only a minute but let him sit on a hot stove for only a minute and it is longer than an hour, that is relativity.”

Anything bound by time and space cannot be independent. Both are connected to our events. This is so because no event can be explained without time and space. We take the help of these two (specs) measures and explain events. Something we have to refer to the place and sometimes to the same. Where to go; Right or left. Which is right and which is left using any point as the reference we can identify left or right. Otherwise there can be no left or right. Now it is 3.30 in the afternoon in Ladnun. Is it same time in Moscow too, No it is daylight there. Day and night cannot be identified without the concept of relativity.

In this context it is relevant to say that there is misconception regarding anekant theory that is expresses only relative truth and there is nothing like an absolute truth in Jain philosophy. To this Acarya mahaprajna replied in his text ‘ Jain Darsana Aur Anekanta,’ the existence of basic five substance are absolute (nirpeksha).⁷ Moreover he says bereft of absolute how relative truth can exist. This question was raised against anekanta is also anekantic.⁸ So C.D. Sharma in his book ‘A Critical Survey

of Indian Philosophy' says, the difficulty is that the nayas have not been woven together. The no absolutism is the only thread which can weave them together. In the absence of absolute, this synthesis is an impossible for Jainism.⁹ Even Jains do accept the absolute truth, Mahaprajana says without absolute truth we cannot attain the relative truth also. But due to misunderstanding of nature of theory above statements are made.

Acarya Mahaprajna cited an example of relativity through an instance of teacher and the student. The teacher told the student shorten the line drawn on the black board without erasing any part of it. Now how is it possible to make it short and yet not rub a part of it: the student was intelligent he drew a longer line thus making the original line appear shorter. Jain philosophy contend that no philosophic proposition can be true if it is only unconditionally asserted.¹⁰

Syadvada can be explained to an ordinary person in a very simple manner. A Jain thinker in explaining syadvada raised his little finger and the next one and asked which is bigger? The right finger is bigger no doubt was the answer. He then raised only the ring and the middle finger and then asked, which is smaller? The answer was the ring finger. He then said it is syadvada. The same finger is bigger and smaller both. Thus there is nothing absolutely bigger or smaller. Everything is relatively smaller or bigger. This is the Jain theory of relativity and how this concept coincides with the views of Western Post modern thinkers is highlighted in brief from the anekantic perspective.

Overlapping Between Anekanta Philosophy and Post-modern Philosopher's Perspective

The non-relative one sided view has created many problems in the field of philosophical thought. Anekant provides a solution to those problems from the point of view of inter-culturality. Under the umbrella of anekanta, all antagonists, one-sided wiewholder come and sit together on one platform breaking the system barrier which divide the entire human race. I have clearly highlighted the doctrine of anekant as an understanding which urges individuals to study the different religions, cultures, customs, rituals, cults, schools of thought and trace out the underlying points of agreements and disagreements so that one can have an iter-cultural dialogue from the point of view of agreements rather than remain in watertight compartment of thoughts. So endeavour is made to interpret the comparative study of post western philosophers thinking with the Jain concept of naya and syada perspective.

Overlapping Between Jainism and Husserl's Philosophical Views

Husserl's (1859-1938) philosophical investigations are directed to the search for absolute or universally valid truths. He is a sharp critique of relativism. Relativism, Husserl thinks, leads to a decline in our confidence in our rational certainty. He says, "If truth is relative, being dependent on historical, cultural or psychological context or background, then it will differ with the difference of context. The ultimate results will be the difference of opinion with regard to truth. This will result in skepticism. Social discord, and turmoil will be the final outcome. This is, according to Husserl, the crisis ultimately leads us to look for truths as something context independent as a way out of this crisis.

Jainism is a philosophy of non-absolutism and relative pluralism. Jain thinkers will never agree with Husserl that relativism constitutes the crisis of the age. On the contrary, they will emphatically urge that it is rather the other way round. To them, relativism, instead of being the root cause of the crisis of man, is the way out and the only way out of all sorts of crisis that befall us. It is the absolutistic conception of truth irrespective of the consideration of view points which, the Jains will emphatically say, is at the root of all the crises of human civilization. The assertion of absolute truth in the ordinary empirical level smacks of an outlook, which is out and out dogmatic. Objects of our knowledge have, according to Jains, inexhaustible facets or aspects, and it is impossible for us, except, of course, the case of kevaljnani, to know directly all the aspects of an object. Existentialist philosopher Sartre also agreed with the same view. We cannot exhaustively express all the multi-dimensional characteristics of particular object. These are the central points of difference concerning methodology and outlook between the Jain and the Husserlian viewpoint.

Naya deals with a particular aspect of an object, which the knower has in view, it is an opinion or viewpoint expressive of a partial truth of the object i.e., jnaturabhipraya and vastvainsagrahi.¹¹ How then can one retrieve the total original awareness of object as given at the very outset in intuition? To have the total knowledge in terms of the nayas seems impossible because the nayas are not only numerous but infinite in number. There must thus be some way of abridging all these infinite viewpoints and constructing a total and compact view of reality. There must be a way of making a samksepa or samasa of the views. But a word can convey only one characteristics at a particular time and in this way words can express the characteristics of reality only successively. The full scale and simultaneous expression of all the characteristics of reality is never possible by language.¹² This view is parallel with the Jain view of avaktavya.

It is for this reason that the Jains divided nayas into dravyarthika naya (substantial naya) and paryayarthika naya (modal or modification naya). Dravyarthika naya is one which is concerned with substantial aspect of an object i.e. the generic and the permanent aspect of an object. Clay e.g. is the substance of a pot. Whatever is done to the pot, clay remains the same as something indestructible and permanent. When we consider a pot from the point of view of clay, we are availing ourselves of the substantial naya. Paryayarthika naya means that viewpoint which deals only with the modes or modifications of a thing or substance. Thus when we consider the pot from the viewpoint of its form, we consider particular modifications of clay. Hence the view point in question is modal naya. Now the arises, what, according to the Jains, are the strictly given in our knowledge? We have seen that so far the expression of intuitional awareness of an object is concerned, the strictly given is only one aspect of the object in accordance with the viewpoint or opinion of the knower, Husserl also says the same thing. When we look at an object what we get in relation to our viewpoint is only one aspect of the object. The viewpoint or the act of consciousness is called the noesis and the partial presentation of the object as revealed in the consciousness is called the noema. Therefore, Husserl's conception of noesis is strictly parallel to Jain concept of naya. Noesis has been defined as a meaning-giving intention and the Jain view of Naya has been defined as Jnaturabhipraya-i.e. abhipraya or intention of the knower. Noesis gives only a partial presentation (or noema) of the object, similar is the case with naya. Now according to Husserl, noesis with regards to an object are infinite in number so also are the cases of naya. Nayas are also infinite in number. In this respect Husserl can also say the same thing like the Jains without embracing any inconsistency viz. anantadharmakam vastu, In strict Husserlian terms this can be caught as follows : object as phenomenon has infinitely manifold noematic aspects.

Again, when Husserl says that object as a system of innumerable noemata corresponding to innumerable noesis is accessible to the knower through a noematic nucleus he merely echoes the view of the Jains in this regard. Substantial viewpoint or dravyarthika naya is thus parallel to what in Husserlian Jargon is called noematic nucleus.¹³ This, the Jains call, abhedavrtti. Further when Husserl says that noematic nucleus contains within itself in the form of horizon the hints of all the possible noemata, this also seems to be in agreement with the Jain view. A dravya contains within itself the possibility of all the paryayas. So there can be no contradiction in accepting the view that substantial view point can foreshadow the possibility of all the paryayas that a substance can assume and hence in the form of horizon, like the noematic nucleus, it implicitly contains all the paryayas. Dravyarthic naya contains all the paryaya nayas as hints.

In this respect there is the basis for a poing of identity between the different characteristics. And lastly, Husserl says nothing new when he asserts that full knowledge of reduced object as a system of infinite noemata is never possible, that each noema in its reference to other noemata gives us only an idea of the object in its totality and that the ultimate unity of perception is never a matter of experience but always remains an ideal, except the case of kevalins and not in respect of the ordinary knower. The Jain thinkers also hold the same view. We may thus conclude that the Jain thinking, when divested of its natural realistic attitude, can easily be susceptible to phenomenological interpretation and can be said to express the views very close to and almost identical with that of Husserl.

Overlapping Between Jainism and Wittgenstein an Philosophical View. This doctrine of anekant also serves as a beacon in studying the epistemological problem of the meaning. The Jain logicians, rhetoricians, grammarians and philosophers have dealt with different aspects of meaning, right from the early centuries of Christian era. For example, in the field of epistemology, the theories of nayavada, syadvad, niksepa etc. deal with the problem of meaning thoroughly. The terms sabdanaya and arthanaya are indicative of the linguistic views of the Jains reflected in epistemology.

Language Game and Forms of Life

Early Wittensteinean (1889-1951) view of 'Logico Philosophic us' where he stresses upon the meaning of any word. Later the very same view is debunked by later Wittgenstein that there is no the meaning as such, it changes according to the context and form of life.

Wittgenstein in 'Philosophical Investigations' says that words do not have round meaning as we find them in use in ordinary language. According to him language is like a game. A game is not a game unless played. A language is not a language unless used. Meanings of words are determined by the game we play, by the use we make to some purpose.

later phase of his life. In Investigations, he says, ' to imagine a language is to imagine a form of life'.¹⁷ But this does not mean that, a form of life is a language or a language is a form of life. What does follow is that, there is some logical or conceptual connection between this two notions. Actually form of life draws attention to pre-linguistic behaviour which is an essential presupposition of any language. He concluded that to know words, sentences, or their combinatorial rules are not enough to understand any language, but the form of life (the environment) in which any person is brought is alsoessential for communication, then only correct

language game can be played and day to day transactions can be carried on successfully. This view of form of life can be compared with the Jain view of dravya, ksetra kala and bhava i.e. substance, place, time and modes. As every individual is born in different place, different time and in different environment, to understand him/her and to communicate with, we need to look into the form of life for successful communication and for functional operation. For example, the word 'knight' means one like sir Gallahad when we are reading king Arthur and his knights of the Round Table. It refers to P.F. Strawson when we speak of his being knighted by the Queen in recognition not of valour but his erudition. It means a piece on a board of chess the replica of a horse with its peculiar movement on the board.¹⁸ Every word gives meaning only in a context.

By the theory of language game Wittgenstein has given a powerful blow against the traditional view of essentialism. Essentialism believes that every word has a fixed meaning. But, Wittgenstein shows that, meaning of every word is conventional, it might change from time to time according to the different context. For e.g. the word 'saindhava' has two meanings 'horse' and 'salt'.¹⁹ But if a person is asked to bring 'saindhava' when a soldier is ready to go for war, and if a particular person brings salt at that time and when 'saindhava' is asked during lunch if a particular person brings the horse will not be contextual. The word *vaitarni* is name of river which is considered as sacred in the Hindu tradition whereas in Jain tradition *vaitarni* river is considered as the river which flows in the hell. Thus the four perspectives of Jainism can be compared with the Wittgensteinian view of form of life.

In this regard he speaks in true with the Jain perspective of *Syadvada* and with the perspective of Derridean Deconstruction. This he tries to establish a living language-related to forms of life. It is one of his highest remarkable contribution in the field of Philosophy.

The post Structuralist Jacques Derrida's views (1931-2004) seem to be parallel with the Jain concept of *anekanta*. He actually deals with philosophy of language. He supposes that nothing is stable, the so called structure is also not stable. Everything is tentative, there is no permanent truth, no the meaning, no the text, no the interpretation and no the context. One cannot tie the meaning of any word. Moreover, he says every sign is made up of signifier and signified. But he claims that there is no transcendental signified and no as such signified can be found as it is abstract mental construction. Moreover signified is never a finished product. It is like a cloud forming which is endless. So the quest for the meaning of any word would lead one to the endless deferral. For example,

Let us try to tie the word ‘meaning’ of the meaning. The meaning of the word “meaning” as per the Oxford Dictionary is ‘what is meant.’²¹ Further it is searched the meaning is searched, it is found ‘signify’. Again the same process is continued and we got the meaning of the word “signify” as being significant. The meaning of the meaning is infinite in its implication, this is what anekanta claims that each word has infinite meanings if dealt from different perspective.

In an attempt to capture the signified (the meaning of the word), we keep moving from one signified (word) to another signifier, we never get to the signified, the signified gets lost in the search, and we keep going round and round. Thus one can mark the circularity of ‘signifiers’. One way try defining (i.e. capturing the signified) even of simple words like ‘a city’ it can never be defined in absolute terms. We can only say it is a larger town. But, again the word ‘town’ has to be specified, we can say it is a large village, etc. This clearly shows that a sign is a sign of another sign with no fixed meaning of signified, there is no final transcendental signified. According to Derrida, Language is structured as an endless deferral of meaning and any search for the essential, absolute stable meaning must therefore be considered metaphysical, there is no fixed element, no fundamental unit, no transcendental signified that is meaningful in itself.

In addition to this, Derrida point out that in everything (sign, text, context) whatever the opposite of it, is always already there as a trace. According to Derrida, wherever there is endless deferral there is trace. For e.g. in light there is trace of darkness and vice-versa. There is a trace of land in sea in Land, vice-versa. In adult there is a trace of child, In man there is a trace of women. You can’t deconstruct and say, this is absolute man and absolute women. Jain view of anekanta is in agreement with this concept of trace when Hemachandra also says that in the particles of darkness, there are particles of light and vice-versa.²²

In the view Derrida, the other is always already present in the reality one don’t have to invent it. According to the Jain view, jar is defined by its resident qualities (e.g., red etc.) as well as by “non-jar”. This metaphysical idea presented in language. is confirmed in the third statement in saptabharigi naya : syad ghata asti canasti ca. The now existing jar is metaphysically determined and defined by its other, non-jar. In this sense the jar is also non-jar. In the Derridean Jargon, words are signs, the signified

is another word. We move from word to word to word, leading towards endless deferral. This is the position of today's philosophy of language. Claude Levi Strauss had said that a word is meaningful because of its binary "other" word. A single word by itself has no meaning. Rejecting this Structuralism view, Jacques Derrida says that a word includes its other within its meaning. He refers to Plato's use of the word *pharmakon*, which means medicine as well as poison. Thus the word contains opposites as its meaning. This idea Derrida applies in general in his theory of words and meanings. One can say that the sentence, *ghata asti nasti ca*, reflects this idea if taken in terms of philosophy of language. The point I want to make is that today's cultural problem of the "other" can be seen in this light. Infect the other or others are not that "other" sealed off against each other. Anekantavada, then, said this long before Derrida. Bad and good, men and women both are complementary (one that complete the other) not antonyms. The same view is accepted in Jainism, no reality is self-complete by itself, it achieves its completeness because of the other. The moment one privileges one attribute, falls in fallacy. Without lie, you can't say truth, in misunderstanding also there is understanding, in vagueness also there is clarity, in truth also there is untruth and vice-versa. So there is nothing like absolute, everything is always relative to the other. This is what that Jain perspective of anekant which accepts this relativity will never assert anything absolutely.

According to anekanta philosophy when one quality becomes dominant in expression the rest would be secondary at that time. In this way, multiple truth can be expressed with the help of *syad* particle. In this state, no attributes are left privileged. Along with this Derrida says, if a sign is a sign of another sign and if a text is a text of another text, then a context is a context of another context. This implies that even contextual meaning is not fixed and there is no limit to what may be called 'contextual meaning'.²³ There is endless deferral in contextual meaning. This view can be compared with Siddhasena's perspective (*sanmati Prakarana*, 3.28) pertaining to *naya* where he says no word of the *jina* is independent of *naya*. The *nayas* are as many in number as there are ways of putting the sentences.

So it can be said that Derridian deconstruction is a kind of hermeneutic free-for-all, a joyous release from all the rules and understanding as per some American deconstructionists. Thus it is mentioned how the western postmodern philosophers view seen to be running parallel with the concept of anekantic relativity of perspective, relativity of meaning and impossibility of exhaustive expression of any object.

Primary Texts :

1. Nayacakra of Mailla Dhavala, ED. Kaiaschandra Sastri, Varanasi : Bharatiya Jnanpith Publication. 1971 verse 175. Taha Sathanan maic sammattani teha tavaiguna nilaye, dhavuvaye raso taha nayamulani aneyante. Acarya Mahaprajna Ekanta Mai Anekant: Anekant mai Ekannt. Ed. Sadhvi Vishruta Vibha. Delhi : Jain Vishva Bharati. 2006 P.202
2. Sarvarthasiddhi of Pujiyapada, op. cit., verse 5-32, p.303
3. Purusartha Sidyupaya of Amrtcandra, op.cit., verse.225
4. Mahaprajana. Jain Darsana : Manana Aur Mimanisa, op.cit.,p.
5. Mahaviraraj Galera. Sceince in Jainism, P.17
6. Radhakrishnan. Indian Philosophy, Vol.-I, p. 305-06
7. Mahaprajna. Jain Darsana Aur Anekanta, op. cit., p.4
8. C.D.Sharam, A Critical Survey of Indian Philosophy, p.57
9. Mahaprajna, Anekanta The Third Eye, op.cit.pp. 73-74
10. Matilal, Bimal Krishna. The Central Philosophy of Jainism (Anekantvada), Ed. Dalsukh Malavania, Nagin J. Shah. Ahemedabad : L. D. Institute of Indology. 1981, p.61
11. Illuminator o fJain Tentets,. Ed. Nathmal. Translation of Jain Siddhanta Dipika, 10.18.
12. Mahaprajna, Acarya, Jain Darsana Aur Anekant. Ed. Muni Dulharaj, Churu : Adarsa Sahitya Sanga Publication. 2000, p.25
13. Samarikanta Samanta. Nayavada : Phenomenological Interpretation. Quoted from Tulsi Prajna, Vol. 135-136, Oct.-Sep., 2007, p.44
15. Ludwig Wittgenstein. Philosophical Investigations, section-11
16. PNTA. VII.41 yathendanam anubhavann indrah, sakanakriya prainath sakrah purdarena pravrttah purandara ityucyate. PNTA VII.41.see IJT X.26.
17. Ludwig Wittgenstein, Philosophical Investigations, op.cit.,Secc.-19.
18. Arun Kumar Makherjee. Anekantavada and Its Statement in Saptabhangi Naya. Tulsi Prajna. Jain Vishva Bharati Institute, No.113-114, Dec.2001, P.27

19. Mahaprajna, Acarya. Jiva-Ajiva. Ed. Muni Sumermal & Jethmal Bhansal, Ladnun : Jain Vishva Bharati. 1995, p.34
20. Anekantavad & Syadvad. Ed. Srichand Rampuria. Ladnun : Jain Vishva Bharati Institute. 1996 p.268.
21. Oxford Advance Lerner's Dictionary. Ed. Jonathan Crowther. 1991, p.726.
22. Syadvadamanjari of Mallisena, p.18 ; Anyayoga Vacchedika, verse 5.
23. N. Krishnaswamy, John Varghese and Sunita Mishra. Contemporary Literary Theory : A student's Companion. Delhi : Macmillan India Ltd. (1st edn., 2001) Reprint 2005.

**- Jain Vishva Bharati University,
Ladnun-341306 (Raj.)**

जैन वाङ्मय में संगीत

- सिद्धार्थजैन, एम. एम. यू. ज.

संगीत एक ऐसी कला है, जो साधना के बल पर प्राप्त की जाती है। वस्तुतः संगीत- भक्त के हृदय की भक्ति को प्रगट करने का एक सफल माध्यम है। संगीत एक ईश्वरीय नियामक है। स्वर-साधना से एक संगीतज्ञ प्रभु की उपासना करता हुआ एक आध्यात्मिक पुरुष के समान पवित्र मन और हृदय वाला बन जाता है। प्राचार्य निहालचंद जैन ने अपनी एक कृति में संगीत को अपने मौलिक रूप से परिभाषित किया है। उन्होंने लिखा कि संत शब्द के बीच में यदि 'गी' जुड़ जाय तो संगीत बन जाता है, अर्थात् संत जो गाता है, वह संगीत है। संगीत का उपयोग प्रारंभ में भगवान की भक्ति के लिए ही होता था। बाद में विविध भावाभिव्यक्ति के लिए इसे उपयोग में लाया जाने लगा। भगवान के प्रति सर्वतोभावेन आत्म समर्पण होने के लिए इसका उपयोग किया जाता रहा है।

‘तिलोयपण्णत्ति’ नामक ग्रंथ में मध्यलोक के स्वरूप में आठवाँ द्वीप ‘नन्दीश्वर-द्वीप’ बताया है, जहां के अकृत्रिम चैत्यालयों में देव/देवियां जाकर, अपनी भक्ति को संगीत के माध्यम से करने का उल्लेख प्राप्त होता है। वहाँ ‘मनुष्य’ नहीं जा सकते केवल सम्यग्दृष्टी देव वहाँ की वंदना करके अतिशय पुण्य अर्जित करते हैं।

जैन मंदिरों में संगीत

जिनालयों, चैत्यालयों, उपासना गृहों में संगीत का उपयोग जिनेन्द्र देव की पूजन, अर्चन एवं स्तवन के लिए सदा से होता रहा है। बड़े-बड़े स्तुतिकारों ने अपने स्तवन या स्तोत्रों में जिनदर्शन के समय संगीत के प्रसंगों को उद्धृत किया है। जैसे-

दृष्टं जिनेन्द्र भवनं सुर-सिद्ध-यक्ष-
गन्धर्व-किन्नर-करार्पित-वेणु-वीणा।
संगीत मिश्रित-नमस्कृत-धीर नादै,
रापूरिताम्बर-तलोरु-दिगन्तरालम्॥
दृष्टाष्टक स्तोत्र-४॥

जिसका भावार्थ है कि मैंने (भक्तों ने) जिनेन्द्रदेव के मंदिर के दर्शन किये, जहां देव, सिद्ध-यक्ष, गन्धर्व, किन्नर अपने हाथों में वांसुरी या वीणा आदि वाद्य लिए हुए, मधुर संगीत के साथ भगवान् को नमस्कार, उनकी वन्दना कर रहे थे और उनकी संगीत ध्वनि दिग्दिगन्त में व्याप्त हो रही थी। इसी स्तोत्र में आगे यह भी बताया है कि संगीत के साथ भक्तिनृत्य की भी परम्परा है - देखें।

दृष्टं जिनेन्द्र भवनं विलसीद्वलोल,
मालाकुलातिललितालक विभ्रमानम्।

माधुर्यवाद्यलय नृत्य विलासिनीनाम्,
लीलाचलद् वलय नूपुर नाद रम्यम्॥ दृष्टाष्टक-५॥

मैंने (भक्त ने) जिनेन्द्र भगवान का मंदिर देखा, जहाँ मनोहर वाद्य बज रहे हैं, और वाद्यों की लय पर, बालों में मालायें धारण करने वाली स्त्रियाँ भक्तिपूर्वक नृत्य कर रही हैं। उनके नृत्य के कारण, उनके वलय और नूपुरों की मधुर ध्वनि से जिनालय झंकृत हो रहा है। महापुराण में आचार्य जिनसेनस्वामी लिखते हैं -

जैनालयेषु संगीत पटहाम्भोद निस्सैनः।
यत्र नृत्यन्त्य कालेऽपि शिखिनः प्रोन्मदिण्णवः॥ (४/७७)

अर्थात् जैन मंदिर में संगीत के समय जो तबले बजते हैं, उनके शब्दों को मेघ का शब्द समझकर हर्षोन्मुक्त हुए मयूर असमय में ही, ऋतु के बिना ही नृत्य करने लगते हैं।

यत्स्वर्गावतरोत्सवे यदभवज्जन्माभिषेकोत्सवे,
यद् दीक्षाग्रहणोत्सवे, यदाखिलज्ञान प्रकाशोत्सवे।
यन्निर्वाणगमोत्सवे जिनपतेः पूजाद् भुवं तद्भवैः,
संगीत स्तुति मंगलै प्रसरतां मे सुप्रभातोत्सवः॥ - सुप्रभात स्तोत्र॥

तीर्थकरों के स्वर्ग से अवतरण- उत्सव (गर्भकल्याणक) के समय, जन्माभिषेक उत्सव, दीक्षा ग्रहण पर, केवलज्ञान प्राप्ति उत्सव में एवं निर्वाणोत्सव में जिन संगीत युक्त स्तुतियों से अलौकिक पूजा की गयी थी, वे मेरे लिए प्रभात को उत्सव रूप करें। यद्यपि जिनेन्द्र प्रभु वीतरागी व राग-द्वेष से पर हैं, फिर भी जन गणशुद्ध शुद्धराग व शुद्ध संगीत मय पवित्र भावना से गाता है, वह परम्परा से मोक्षगामी होता है। देखें- संगीतोपनिषद् सारोद्धार- ३/२ में -

यो वीतरागस्य परात्मनोऽपि, गुणानुबद्धं गणराग शुद्धम्।
पुण्यैक लोभात् परया च भक्त्या, गायेत संगीत स तु मुक्तिगामी॥

इसी ग्रंथ में एक और प्रसंग आया है² जिसका सार-सारांश इस प्रकार है। तीर्थकर के समवशरण सभा में, स्पर्धा पूर्वक सम्मिलित स्वर्ग की अप्सराओं ने तत, धन, सुबिर और आनन्द (अर्थात् क्रमशः वीणा, काँस्य, वंशी और मुरज) इन चार वाद्यों के साथ किये गये नृत्य में उपस्थित जन समूह को प्रसन्न किया। किन्तु इस ललित नृत्य से भी अधिक सुखकर तीर्थकर की दिव्यध्वनि है, जिसे सुनकर सर्वोत्तम आनंद की प्राप्ति होती है।

जैन संस्कृति और संगीत

जैन संस्कृति और वाङ्मय में संगीत का महत्वपूर्ण स्थान है। जैन संस्कृति के मूल स्तम्भ हैं मंदिर और चैत्य, जो संगीत के मूलाधार हैं। स्तुति स्तोत्र, पूजा-अर्चा, प्रतिष्ठा-कल्याणक, रथोत्सव, दशलाक्षणी पर्व आदि कोई भी महोत्सव हो, संगीत का आयोजन अनिवार्य रूप से होता है। जैन रास और जैन- नृत्य संगीत के बिना चलते ही न थे। जैन पुराण साहित्य से स्पष्ट है कि तीर्थकरों के गर्भ, जन्मोत्सव- इन्द्र और देवियों के नृत्य, वादित्र और गायन से ही संपन्न होते थे। संगीत के सैद्धान्तिक पक्ष पर जैनाचार्यों ने बहुत कुछ लिखा है। भगवज्जिनसेनाचार्य (९वीं शती) के

महापुराण और भूधरदास (१७वीं शती) के पार्श्वपुराण में संगीत का अच्छा चित्रांकन है। आचार्य पार्श्वदेव का 'संगीत समयसार' एक उच्चकोटि का ग्रन्थ है।

भरतेश वैभव (२/७७) में, चक्रवर्ती भरत की राजसभा में संगीत विशारदों द्वारा जो विविध रागों में गायन प्रस्तुत किये गये, उनका वर्णन आया है।

भूपालयिंद धन्वासियिंद सर्व। भूपालि गोडेयन मुंदे।

श्री पुरुनाथ पाडिदरेल्लर। पापलेपव नैदुवन्ते॥

अर्थात् संगीत विशारदों ने भूपाली तथा धन्वासी राग में, राज समूह अधियति भरत चक्रवर्ती के सन्मुख श्री वृषभदेव तीर्थकर की स्तुति करते हुए, इस प्रकार गायन किया कि जिसे सुनकर सब श्रोताओं के पाप नष्ट हो जाएँ।

संगीतोपनिषद् सारोद्धार में बतलाया है कि तूर्य वाद्य और नाटक की उत्पत्ति, चक्रवर्ती भरत की नौ निधियों में से अन्तिम निधि शंख से हुई थी, और संगीत की निष्पत्ति 'हर' से हुई। यहाँ 'हर' का आशय ऋषभदेव से है जो ऋषभदेव के नामान्तर-सहस्रनाम में आया है।

शिवः शिवपदाध्यासात् दुरितारि हरो हरः।

शंकर कृतशं लोके शंभवस्त्वं भवन्मुखे॥ सहस्रनाम॥

आचार्य जिनसेन स्वामी ने आदिपुराण में लिखा है कि ऋषभदेव ने अपने पुत्र वृषभसैन को गीत, वाद्य तथा गान्धर्व विद्या की शिक्षा दी, जिस शास्त्र के सौ अध्याय से ऊपर हैं।

विभुर्वृषभसेनाय गीतवाद्यार्थ संग्रहम्।

गन्धर्व शास्त्र माचख्यौ, यत्राध्यायाः परः शतम्॥

(आदिपुराण - १६/१२०)

संगीत के सन्दर्भ में यह सूत्र बड़ा महत्वपूर्ण है :-

“श्रोत्रनेत्र महोत्सवाय” अर्थात् संगीत श्रोत (कर्ण) एवं नेत्र (आँखों) के लिए उत्सवकारक है।

श्री वृषभदेव पुराण में - नीलांजना के नृत्य का प्रसंग - कविताबद्ध किया है, जो महाराजा वृषभदेव की राजसभा में सम्पन्न हुआ था। पंचकल्याणक महोत्सव के अन्तर्गत दीक्षा दिवस के दिन महाराजा वृषभदेव की राजसभा लगती है और सौधर्म इन्द्र की आज्ञा से महाराज वृषभदेव को वैराग्य उत्पन्न करवाने का निमित्त भूत, इन्द्र, सुरनर्तकी नीलांजना का मनमोहक नृत्य करवाते हैं- जो प्राणार्पण नृत्य के नाम से जाना जाता है और जिसमें नीलांजना नृत्य करते हुए आकस्मिक रूप से मरण को प्राप्त हो जाती है, जिसे देखकर वृषभदेव को वैराग्य उत्पन्न होता है। इस प्राणार्पण नृत्य का पद निम्नानुसार है³ -

नीलंयशा नाम एक, देवी मर्घवा पाठाय, आयु जाकी अंतर महूरत प्रमानिये।

गावत सुकंठ गीत, नाचत संगीत ताल, बाजत मृदंग वीन, बांसुरी बखानिये।

नटति नटति आयु पूरी खिर गई देह, देखि जिननाथ जग नाशवान जानिये।

राजकाज त्याग कीजे, आत्मीक रस पीजे, दीजे दुख लीजे सुख, मोह कर्म भानिये॥

- श्री वृषभदेवपुराण॥

भागवत पुराण में भी एक ऐसा प्रसंग (५/६/३४) वर्णित है।

“इति नानायोगचर्याचरणो भगवान् कैवल्यपतिर्ऋषभः”

अर्थात् भगवान् वृषभदेव ने अपने पुत्रों और प्रजा को षट्कर्मों (असि, मसि, कृषि, विद्या, वाणिज्य और शिल्प) के अलावा चौसठ विद्याओं का उपदेश दिया। संगीत विद्या उन ६४ विद्याओं में समाहित है।

इस प्रकार संगीत - स्व-पर सुखदायक होती है। रेडियो थैरेपी की भांति संगीत की सूक्ष्म तरंगें रोग निदान में भी सहायक बनती हैं और मरीज पर सीधा प्रभाव डालती है।

संगीत की साधना - आत्माभिमुख बनाकर अन्तः को निर्मल करती है। यह केवल मनोरंजन का ही साधन नहीं है बल्कि ईश्वर उपासना में इसकी महत्वपूर्ण भूमिका है।

संदर्भ :

१. “सौ बोधकथाएं” - प्राचार्य निहालचंद जैन, पृष्ठ-४३
२. संगीतोपनिषद्- पद (४/१)
३. अहिंसा वाणी - वर्ष ७, पृष्ठ-१४२- १९५७ (प्रकाशन वर्ष)
४. संगीत सम्मेलन पत्रिका, १९६९, प्रकाशक-श्रमण जैन भजन प्रचारक संघ, देहली,, संपादक- डॉ. प्रेमसागर जैन

केन्द्रीय विद्यालय क्रं. १

कलपक्कम, जिला- काँचीपुरम तमिलनाडू- ६०३१०२

बोध कथा-

जीवन का संगीत

एक संत से किसी युवक ने पूछा- “जीवन में बचाने लायक महत्वपूर्ण वस्तु क्या है? संत का उत्तर था - “स्वयं की आत्मा और उसका संगीत जो उसे बचा लेता है, वह सब कुछ बचा लेता है, और जो उसे खो देता है, वह सब कुछ खो देता है।”

एक बूढ़ा संगीतकार, नगर में आयोजित संगीत सभा से वापिस लौट रहा था। उसकी विदाई - बहुत स्वर्ण मुद्राओं से हुई। वह अलमस्त संगीतज्ञ - रास्ते में अकेला बढ़ा जा रहा था। एक वन प्रदेश में डाकुओं के गिरोह ने उसे पकड़ लिया और उसका वायलिन व स्वर्ण मुद्राएँ छीन लीं। बूढ़े कलाकार ने बहुत सादगी व शान्त भाव से वायलिन लौटाने की प्रार्थना की। डाकू आश्चर्य से देखने लगे कि यह कैसा है जो स्वर्ण मुद्राओं की बात न कर अपना पुराना वाद्य-यंत्र ही मांग रहा है। आखिर डाकुओं ने सोचा यह बोझ लेकर भी हम क्या करेंगे उसे वापिस कर दिया। संगीतकार वायलिन पाकर आनंद से नाच उठा और उसे चूमकर वहीं बैठकर उसे बजाना शुरू कर दिया। संगीत के स्वर-सम्मोहन ने डाकुओं की आंखें नम कर दीं और कुछ देर उपरांत डाकू भाव विभोर होकर उसके चरणों में झुक गये। उन्होंने केवल वृद्ध संगीतकार की स्वर्णमुद्राएँ ही वापिस नहीं की अपितु अपना भी बहुत सा धन भेंटकर वन से बाहर सुरक्षित छोड़ आये। - क्या प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी से, कहीं न कहीं, लूटा नहीं जा रहा है? पर ऐसे कितने लोग हैं जो लूटी सम्पत्ति की चिंता न करके स्वयं के संगीत को बचा लेते हैं। याद रखें - स्वयं के संगीत से बड़ी और कोई संपत्ति नहीं है।

पं. निहाल चंद जैन की- ‘अस्सी नैतिक कथाओं’ से साभार

कल्याणमन्दिर स्तोत्र : एक अनुशीलन

प्राचार्यपं.निहालचंदजैन

भक्ति और ज्ञान- दोनों का लक्ष्य है- 'प्रसुप्त चेतना का जागरण'। आत्मा की चैतन्य धारा, सांसारिक भँवर में, फँसने से मैली बनी हुई है। चेतना की अधोगति है संसार की ओर अभिमुखता और ऊर्ध्वगति है मुक्तिसोपान की ओर बढ़ना। 'अर्हद्भक्ति', अधोगति को मिटाकर आत्मा की विशुद्धि को बढ़ाती है। स्तोत्रकाव्य, अर्हद्भक्ति, के उत्कृष्ट नमूने हैं। भक्ति-परक स्तोत्र अनेक हैं। आचार्य मानतुंग का भक्तामरस्तोत्र, श्री समन्तभद्र स्वामी का बृहत्स्वयम्भूस्तोत्र, कुमुदचन्द्राचार्य का कल्याणमन्दिर स्तोत्र, वादिराजसूरि का एकीभाव स्तोत्र और धनञ्जय महाकवि का विषापहारस्तोत्र। इन स्तोत्रों के साथ कोई सृजन-कथा जुड़ी हुई है। चमत्कार या अतिशय का घटित होना स्तोत्र का नैसर्गिक प्रभाव कहें या उनमें समाहित/ गुम्फित मन्त्रों की शब्द-शक्ति। शब्द-शक्ति की अभिव्यंजना से अनुस्यूत स्तोत्र तन्मयता और भाव-प्रवणता के अचूक उदाहरण हैं। उनकी ज्ञेयता में भी भक्ति का उन्मेष और उत्कर्ष है।

कल्याणमंदिर स्तोत्र का रचनाकाल विक्रम सं.६२५ माना गया है। अनुश्रुति के आधार पर आचार्य कुमुदचन्द्र पर कोई विपत्ति आई हुई थी। कहा जाता है कि उज्जयिनी में वादविवाद में इसके प्रभाव से एक अन्य देव की मूर्ति में श्री पार्श्वनाथ की प्रतिमा प्रकट हो गयी थी। इस स्तोत्र में भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति की गई है, अस्तु इसका नाम 'पार्श्वनाथ स्तोत्र' भी है। इसकी अपूर्व महिमा है। इसका पाठ या जाप करने से समस्त विघ्न बाधाएँ दूर होती हैं और सुखशान्ति प्राप्त होती है। जिनशासन का प्रभाव या चमत्कार दिखाने के लिए प्रायः ऐसे भक्ति स्तोत्रों का उद्गम हुआ है। जैसे स्वयम्भू स्तोत्र की रचना के पीछे जो घटना जुड़ी है, वह है कि समन्तभद्र स्वामी को शिवपिण्डी को नमस्कार करने के लिए बाध्य किया गया और वह पिण्डी अचानक फटी और भगवान् चन्द्रप्रभु की प्रतिमा अनावरित हो गयी। आचार्य मानतुंग भक्तामर स्तोत्र के पदों की रचना करते हुए भक्ति में डूबते गये और ४८ ताले अनायास खुलते गये। धनञ्जय कवि के विषापहार स्तोत्र के प्रभाव से उसके पुत्र को विष का परिहार हुआ। इसी प्रकार भगवान् पार्श्वनाथ, जो संकटहरणदेव के रूप में लोकमानस में प्रतिष्ठित हैं, का स्तवन करने से आचार्य कुमुदचन्द्र का उपसर्ग दूर हुआ था। इस स्तोत्र की मान्यता दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों सम्प्रदायों में भक्तामर स्तोत्र की भाँति है। जहाँ श्वेताम्बर इसे अपने गुरु सिद्धसेन दिवाकर की रचना मानते हैं, वहीं दिगम्बर, स्तोत्र में आये- "जननयनकुमुदचन्द्रप्रभास्वराः" से आचार्य कुमुदचन्द्र की रचना मानते हैं।

यह दिगम्बर आचार्य प्रणीत रचना है, इसके दो ठोस प्रमाण अधोलिखित हैं - (१) स्तोत्र के ३१ में पद्य से लेकर ३३वें पद्य तक भगवान् पार्श्वनाथ पर दैत्य कमठ द्वारा किये गये उपसर्गों का वर्णन है, जो श्वेताम्बर परम्परा के प्रतिकूल है, क्योंकि श्वेताम्बर परम्परा में भगवान् पार्श्वनाथ के स्थान पर भगवान् महावीर को सोपसर्ग माना है, जबकि दिगम्बर परम्परा में भगवान् पार्श्वनाथ को सोपसर्ग माना है, भगवान् महावीर को नहीं।

- (२) इसी प्रकार १९वें पद्य से लेकर २६वें पद्य तक भक्तामरस्तोत्र की भांति आठ प्रातिहार्यों का वर्णन है, जो केवल दिगम्बर परम्परा में ही मान्य है। सिंहासन, भामण्डल, दुन्दुभि और छत्र प्रातिहार्यों का प्रतिपादन श्वेताम्बरसम्मत भक्तामरस्तोत्र (केवल ४४ पद्य) में नहीं है।

संकटमोचन कल्याणमन्दिर स्तोत्र

भगवान् पार्श्वनाथ एक संकटमोचक लोकदेवता के रूप में प्रतिष्ठित हैं। इसका कारण भगवान् पार्श्वनाथ के विगत दस भवों की जीवन गाथा की वह भावदशा है, जिसमें प्रत्येक भव में आये उपसर्ग एवं कष्टों में उनका समताभावी व क्षमाशील बने रहना। प्रतिशोध की भावना भी उनके हृदय में नहीं आयी। बैरी, कमठ के जीव ने, जब वह शम्बरदेव की पर्याय में था और पार्श्वनाथ वन में तपस्या में लीन थे, उसने अवधिज्ञान से अपने अतीतकाल को याद किया और प्रतिशोध की अग्नि में जलने लगा। फिर उसने सात दिन तक भारी उपसर्ग किये। अन्त में धरणेन्द्र अपनी देवी पद्मावती के साथ प्रकट हुए और उन्होंने भगवान् को अपने फणों पर उठाकर उन उपसर्गों से रक्षा का भाव किया। अस्तु नायक की स्तुति महाभय-निवारक और कष्ट निवारक है। उदाहरणार्थ पद्य क्र.३ जलमय निवारक क्र.४, असमयनिधन-निवारक और क्र.११ जलाग्निभय-निवारक, क्र.१२ अग्निभय-निवारक और क्र.१६ गहनवन-पर्वत, भय, निवारक, क्र.२५ असाध्यरोग शामक और क्र.२७ वैरविरोध विनाशक है।

प्रत्येक पद्य का एक विशेष मन्त्र है, जिसकी विधिवत् साधना से अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है। उदाहरण के लिए पद्य क्र.४ देखें -

मोहक्षयादनुभवन्नपि नाथ! मर्त्यो,
नूनं गुणान्गणयितुं, न तव क्षमेत।
कल्पान्तवान्तपयसः प्रकटोऽपि यस्मान्,
मीयते केन जलधर्ननु रत्नराशिः॥४॥

उक्त पद्य का मंत्र है- “ॐ नमो भगवते ॐ ह्रीं श्रीं क्लीं अर्हं नमः स्वाहाः।”

विधि - ९ वर्ष तक, वर्ष के लगातार ४० रविवार को १००० बार मंत्र जपने से अकालमरण व महिलाओं का गर्भपात नहीं होता है।

स्तोत्र के सृजन का इतिहास

आचार्य कुमुदचन्द्र राजकीय कार्य से चित्तौड़गढ़ जा रहे थे। मार्ग में भगवान् पार्श्वनाथ जी का एक जैन मंदिर दिखाई दिया और वे दर्शनार्थ गये। उनकी दृष्टि एक स्तम्भ पर पड़ी, जो एक ओर खुलता भी था। उन्होंने लिखित गुप्त संकेतानुसार कुछ औषधियों के सहारे उसे खोला और उसमें रखे एक अलौकिक ग्रन्थ का प्रथम पृष्ठ पढ़ने लगे। जैसे ही उन्होंने पढ़ने के लिए दूसरा पृष्ठ खोलना चाहा, उन्हें आकाश वाणी सुनाई दी कि “इसे तुम नहीं पढ़ सकते हो” और वह स्तम्भकपाट पुनः बन्द हो गया। यही आगे चलकर चमत्कार सिद्धि में कारण बना।

आचार्य कुमुदचन्द्र की आत्मशक्ति का प्रखर तेज, उज्जयिनी के नरेश विक्रमादित्य को अभिभूत कर गया और राजा ने आपको राजदरबार के ऐतिहासिक नवरत्नों में 'क्षपणक' नामक उज्ज्वल रत्न के रूप में अभिभूषित किया।

एक बार ओंकारेश्वर के विशाल प्रांगण में हजारों की संख्या में शैव और शाक्त बैठे हुए थे, जिन्हें अपने वैदिक यौगिक चमत्कारों पर बड़ा गर्व था। वे सभी यह देखना चाहते थे कि इस क्षपणक में ऐसा कौन सा चमत्कार है, जिससे वह राजदरबार का रत्न बन बैठा। नरेश भी परीक्षा-प्रधानी था। राजाज्ञा पाकर कुमुदचन्द्र शिवपिण्डी को नमस्कार करने आगे बढ़े। वे ज्यों-ज्यों बढ़ रहे थे, चित्तौड़गढ़ का वह भव्य जिनालय, भगवान् पार्श्वनाथ की सौम्यमूर्ति और वही स्तम्भ में रखा ग्रन्थ देख रहे थे। कुछ ही क्षणों में वही स्तम्भ और ग्रन्थ का चमत्कारी पृष्ठ उस शिवमूर्ति के स्थान पर दिखाई देने लगा और एकाएक उनके मुँह से भक्ति के उन्मेष में यह श्लोक निकलने लगा-

आकर्णितोऽपि महितोऽपि निरीक्षतोऽपि,

नूनं न चेतसि मया विधृतोऽसि भक्त्या।

जातोऽस्मि तेन जनबान्धव ! दुःखपात्रं,

यस्मात् क्रियाः प्रतिफलन्ति न भावशून्याः ॥३८॥

इस अद्भुत श्लोक को सुनकर जनमानस मंत्रगुग्ध हो गया। समस्त जनमेदिनी उस अलौकिक पुरुष को निहार रही थी, जिसके प्रभाव से संपूर्ण परिवेश वीतरागी अध्यात्म छटा से परिपूर्ण बन गया था। विक्रमादित्य सहित उपस्थित जनता धन्य-धन्य कहती हुई जैनधर्म की अनुयायी हो गई। उन्हीं विक्रमादित्य की प्रेरणा से कुमुदचन्द्राचार्य ने भक्तिरस के इस चमत्कारी स्तोत्र की रचना की। कवि ने भगवान् पार्श्वनाथ की भक्ति में डूबकर लोकोत्तर उपमाओं और कल्पनाओं द्वारा मानवकल्याण के लिए एक ऐसी सीढ़ी निर्मित कर दी, जिस पर से हमारी आत्मिक अपूर्णता, उस अनंत सम्पूर्णता को संस्पर्शित करने लगती है, जो आत्मविकास के लिए अपरिहार्य है। (कथानक- पं. कमल कुमार/ प्रकाशक मोहनलाल शास्त्री, जबलपुर से साभार उद्धृत)।

कल्याण मन्दिर स्तोत्र में भक्ति तत्त्व का उत्कर्ष

सामान्य जन संसार के दुःखों से परितप्त है। वह भगवान् पार्श्वप्रभु के परम-कारुणिक और इन्द्रियविजेता होने के कारण सामर्थ्यवान् मानता है। अस्तु ! भक्तजन अपने अज्ञान का नाश करने व दुःखों को दूर करने के लिए प्रार्थना करता है।

“भक्त्या नते मयि महेश दयां विधाय,

दुःखांकुरोद्दलन-तत्परतां विधेहि।” (३९)

वीतराग की भक्ति से आत्मा पवित्र बनती है, पुण्य प्रकृतियों का उपार्जन होता है और पाप प्रकृतियों का हास होता है। जिस प्रकार चन्दन के वन में मयूर के पहुँचते ही वृक्षों से लिपटे सर्प तत्काल अलग हो जाते हैं। उसी प्रकार भक्त के हृदय में आपके विराजमान होते ही संलिप्त अष्ट कर्मों के बन्धन ढीले पड़ जाते हैं।

हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति,
जन्तोःक्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः ॥८॥

भक्ति से भव-तारण हो जाता है जिस प्रकार मसक को तिरने में 'उसमें' भरी वायु कारण है, वैसे ही भव समुद्र से भव्य जनों को तिरने में आपका बारम्बार चिन्तवन ही कारण है, अतः आप भवपयोधि तारक कहलाते हैं - जन्मोदधिं लघु तरन्त्यतिलाघवेन, चिन्त्यो न हन्त महतां यदि वा प्रभावः।

अष्ट प्रातिहार्य वर्णन में प्रयुक्त प्रतीक

कल्याण मन्दिर स्तोत्र के पद्य नं. १९ से २६ तक आठ प्रातिहार्यों का वर्णन है, जिनमें प्रयुक्त प्रतीक आत्मा के उन्नतशील बनाने की भावाभिव्यक्ति है।

१. अशोक वृक्ष - भगवान् के धर्मोपदेश के समय मनुष्य की तो क्या, वनस्पति और वृक्ष भी शोक रहित यानि 'अशोक' बन जाते हैं।
२. पुष्पवृष्टि - देवों द्वारा की जाने वाली पुष्पों की वर्षा से पांखुरी ऊपर और उनके डंठल नीचे हो जाते हैं, प्रतीक हैं कि भव्य जनों के कर्मबन्धन नीचे हो जाते हैं।
३. दिव्यध्वनि - सुधा समान, जिसे पीकर भव्य जन अजर अमर पद पा लेते हैं।
४. चँवर - दुरते हुए चँवर नीचे से ऊपर को जाते हैं, जो सूचित करते हैं झुककर नमस्कार करने वाला चँवर के समान ऊपर यानी स्वर्ग/मोक्ष को प्राप्त करता है।
५. सिंहासन - सिंहासन पर विराजे पार्श्वप्रभु की दिव्यध्वनि ऐसी लगती है, जैसे सुमेरुपर्वत पर काले मेघ गर्जना कर रहे हों।
६. भामण्डल - की प्रभा से सचेतन पुरुष आपके ध्यान से राग-लालिमा को नष्टकर वीतरागता को प्राप्त हो जाता है।
७. दुन्दुभि - देवों द्वारा बजाये जाने वाले नगाड़े व घण्टा आदि के स्वर कह रहे हैं कि प्रमाद छोड़ पार्श्व प्रभु की सेवा में उद्यत हो जाओ और ८. छत्रत्रय

कल्याणमंदिर स्तोत्र एवं पर्यावरण संरक्षण

पर्यावरण को विज्ञान जगत के 'इकोलॉजी' विषय के अन्तर्गत अध्ययन किया जाता है, यह ग्रीक भाषा का शब्द है। 'इको' शब्द का अर्थ है - 'घर' एवं 'लॉजी' का अर्थ होता है- 'अध्ययन करना।' अर्थात् जिस प्रकार घर की परिभाषा में भवन, उसका वास्तु, उसमें स्थित विभिन्न वस्तुएँ तथा निवास करने वाले मनुष्य होते हैं, उसी प्रकार पर्यावरण में उपस्थित समस्त चराचर, उनका परस्पर संबन्ध एवं उनके प्रभाव का अध्ययन किया जाता है।

जहाँ कुमुदचन्द्राचार्य का कल्याणमंदिर स्तोत्र, अर्हद्भक्ति की अपूर्वधारा बहाने वाली एक स्तुतिपरक रचना है, वहीं यह लोकमंगल और मानव कल्याण की दिशा में अभिनव रचनात्मक भूमिका का निर्माण कर, वैचारिक-आंतरिक प्रदूषण को दूर करके भाव और भावना के धरातल पर प्रेम व सौहार्द के कलपतरु उगा सकता है। इस प्रकार यह भक्ति के साथ साथ पर्यावरण का संदेश देता है।

‘कमल’ प्रकृति का ऐसा सुन्दर उपहार है, जो न केवल सरोवर की शोभा बढ़ाता है, अपितु वायु व वातावरण को अपने मकरंद द्वारा सौरभमय करता है। वायु प्रदूषण के विनाश हेतु कल्याण मंदिर स्तोत्र के विभिन्न काव्य छंदों में (कोष्ठक में काव्य संख्या दर्शायी गयी है) कमल (१४, २०, ४२, ४३) चन्दन (८), पद्मसरोवर (७), पुष्पवृष्टि (२०), अशोकवृक्ष (१९, २४), सुमन (२८), आदि की प्रमुख भूमिका रहती है।

काव्य संख्या ७ दृष्टव्य है, जिसका पद्यानुवाद निम्नांकित है -

ग्रीष्म ऋतु के तीव्र ताप से, पीड़ित पंथी हुए अधीर
पद्म-सरोवर दूर रहे पर, तोषित करता सरस-समीर॥७॥

अर्थात् ग्रीष्मकाल की प्रचण्डधूप से पथिकों को, कमलों से युक्त सरोवर ही सुखदायक नहीं होते, अपितु उन जलाशयों की जल-कण मिश्रित ठण्डी-२ झर्कों भी सुखकर प्रतीत होती हैं। पर्यावरण की दृष्टि से- हवा, जलाशय, कमल जब तक संरक्षित नहीं होंगे, तब तक शुद्ध पर्यावरण नहीं मिल सकता।

इसी प्रकार काव्य क्रं. का पद्यानुवाद देखें -

चन्दन के विटपों पर लिपटे, हों काले विकराल भुजंग।
वन मयूर के आते ही ज्यों होते उनके शिथिलित अंग॥८॥

इसमें मलयगिरी के सघन व सुगंधित वनों में लिपटे भयंकर सर्पों का उल्लेख है। वर्तमान में चन्दन वन- पर्यावरण की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं।

स्तोत्र का काव्य संख्या- ११ में -

विध्यापिता हुतभुजः पयसाथ येन।
पीतं न किं तदपि दुर्धर वाडवेन ?॥११॥

सच है जिस जल से पल भर में दावानल हो जाता शान्त।

क्या न जला देता उस जल को ? वडवानल होकर अश्रान्त॥

वडवानल (समुद्र में उत्पन्न होने वाली अग्नि), जो समुद्र के मध्यभाग से उत्पन्न होकर अपार जल राशि का शोषण कर लेती है। इस प्रकार यह पर्यावरण पर विपरीत प्रभाव डालती है, क्योंकि इसके उत्पन्न होने से अनेक समुद्री जीव-जन्तु नष्ट हो जाते हैं।

पद्य क्रमांक १३ में तुषार (वर्फ) के प्रभाव को द्योतित किया है।

प्लोषत्यमुत्र यदि वा शिशिरऽपि लोके,
नीलद्रुमाणि विपनानि न किं हिमानी ?॥१३॥

क्या न जला देता वन-उपवन, हिम सा शीतल विकट तुषार ?

अर्थात् तुषार (वर्फ) हरे हरे वृक्षों वाले वन- उपवनों को अवश्य ही जला देता है।

पद्य क्रं. ३१ से ३३ तक - कमठ के द्वारा उपसर्ग का वर्णन है। पर्यावरण की दृष्टि से ये काव्य-छन्द अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। वर्तमान में ऐसे अनेक कमठ हैं जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु एवं वनस्पतियों को नष्ट व प्रदूषित कर रहे हैं।

आचार्य कुमुदचन्द्र इस स्तोत्र का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि मैंने इसे स्वयं की लोक-पूजा के लिए नहीं रचना, अपितु भक्ति में डूबकर रचा है, फिर भी कुछ भी भक्ति नहीं कर पायी। जो कुछ भी कर पाया हूँ उसका फल यही चाहता हूँ कि- “तुम होहु भव भव स्वामि मेरे, मैं सदा सेवक रहूँ।” वे कहते हैं कि जब तक मोक्ष प्राप्त न हो, तब तक आपकी भक्ति से वंचित न रहूँ -

भक्त्योल्लसत्पुलक पक्ष्मलदेहदेशाः,
पादद्वयं तव विभो! भुवि जन्मभाजः॥३४॥

भक्ति के कारण जिनके शरीर का रोम-रोम उल्लसित व पुलकित है, वे धन्य हैं। आपके चरणकमलों की उपासना करने वाला मिथ्यात्व-मोह का अंधकार विदीर्ण कर स्वयं आप जैसा आलोक पुरुष बन जाता है।

निदेशक
वीर सेवा मन्दिर (शोध संस्थान)
२१, दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार के आधार पर व्रतों के अतिचारों की समीक्षा

पं.आलोककुमारजैन

देव, गुरु, संघ, आत्मा आदि की साक्षीपूर्वक जो हिंसादि पापों का परित्याग किया जाता है, उसे व्रत कहते हैं। पाँचों पापों का यदि एकदेश, आंशिक या स्थूल त्याग किया जाता है, तो उसे अणुव्रत कहते हैं और यदि सर्वदेश त्याग किया जाता है, तो उसे महाव्रत कहते हैं। पाप पांच होते हैं, अतः उनके त्याग रूप अणुव्रत और महाव्रत भी पांच-पांच हैं। इस व्यवस्था के अनुसार महाव्रतों के धारक मुनि और अणुव्रतों के धारक श्रावक कहलाते हैं। पाँचों अणुव्रत श्रावक के शेष व्रतों के और पाँचों महाव्रत मुनियों के शेष व्रतों के, मूल आधार हैं, अतएव उन्हें मूलव्रत या मूलगुण भी कहा जाता है। मूलव्रतों की रक्षा के लिये जो अन्य व्रतादि धारण किये जाते हैं, उन्हें उत्तरगुण कहा जाता है। इसके अनुसार मूल में श्रावक के पांच मूलगुण और सात उत्तरगुण निर्दिष्ट किये गये हैं। कुछ आचार्यों ने उत्तर गुणों को 'शीलव्रत' की संज्ञा भी दी है। कालान्तर में श्रावक के मूलगुणों की संख्या पांच से बढ़कर ८ हो गई। अर्थात् ५ अणुव्रतों के साथ तीन मकारों (मद्य, मांस, मधु) के सेवन का त्याग करना अष्टमूलगुण कहलाने लगे। कुछ समय उपरान्त पांच पापों का स्थान पांच उदुम्बर फलों ने ले लिया और नये अष्टमूलगुण माने जाने लगे जो वर्तमान में भी अधिकतर माने जाते हैं।

इस प्रकार पाँचों अणुव्रतों की गणना उत्तरगुणों में होने लगी और सात के स्थान पर बारह उत्तर गुण अथवा बारह व्रत श्रावक के हो गये। किन्तु यह परिवर्तन श्वेताम्बर परम्परा में दृष्टिगोचर नहीं होता है। साधुओं के पाँचों पापों का सर्वथा त्याग नवकोटि अर्थात् मन, वचन, काय और कृतकारित अनुमोदना से होता है। अतएव उनके व्रतों में किसी भी प्रकार दोष लगने का अवसर/स्थान नहीं होता है। परन्तु श्रावकों के प्रथम तो सभी पापों का सर्वथा त्याग संभव नहीं है, दूसरे प्रत्येक व्यक्ति नवकोटि से स्थूल पापों का भी त्याग नहीं कर सकता। तीसरे प्रत्येक व्यक्ति के आस-पास का वातावरण एक समान नहीं रहता है। इन सब बाह्य कारणों से और प्रत्याख्यानवरण, संज्वलन और नोकषायों के तीव्र उदय से उसके व्रतों में कुछ न कुछ दोष लगता रहता है। अतएव व्रत की भावना रखते हुए भी प्रमादादि तथा बाह्य परिस्थिति-जनित कारणों से गृहीत व्रतों में दोष लगने का, व्रत के आंशिक रूप से खण्डित होने का और स्वीकृत व्रत की मर्यादा के उल्लंघन का नाम ही शास्त्रकारों ने “अतिचार” रखा है। जैसाकि पं. आशाधर जी लिखते हैं- “सापेक्षस्य व्रते हि स्यादतिचारोऽंश भंजनम्”।

जब अप्रत्याख्यानवरण कषाय का तीव्र उदय होता है, तो व्रत जड़ से खण्डित हो जाता है, उसके लिये आचार्यों ने ‘अनाचार’ कहा है। कल्पना करें कि किसी व्रत के लिये १०० अंक

निर्धारित कर दिये जायें तो १ से लेकर ९९ तक का व्रत-खण्डन अतिचार की सीमा में आता है, क्योंकि आचार्यों का मत है कि व्रती के एक प्रतिशत की अपेक्षा भावना व्रतधारण की बनी हुई है। यदि वह एक प्रतिशत की भावना भी न रहे तो वह व्रत खण्डित हो जाने से

अनाचार कहा गया है। इस सम्बन्ध में आचार्य अमितगति लिखते हैं कि-

क्षतिं मनः शुद्धिविधेरतिक्रमं व्यतिक्रमं शीलव्रतेर्विलंघनम्।
प्रभोऽतिचारं विषयेषु वर्तनं वदन्त्यनाचारमिहातिसक्तताम्॥^१

अर्थात् मन के भीतर व्रत सम्बन्धी शुद्धिरूपी बाड़ के उल्लंघन को व्यतिक्रम, विषयों में प्रवृत्ति करने से अतिचार और विषय-सेवन में अति आसक्ति को अनाचार कहा गया है।

इसके अनुसार १ से ३३ तक के व्रत भंग को अतिक्रम, ३४ से ६६ तक के व्रत भंग को व्यतिक्रम, ६७ से ९९ तक के व्रत भंग को अतिचार और शत-प्रतिशत व्रत भंग को अनाचार जानना चाहिये। परन्तु प्रायश्चित्त-शास्त्रों के प्रणेताओं ने उक्त चार के साथ 'आभोग' को बढ़ा करके व्रत भंग के पांच विभाग किये हैं। उनके मत से एक बार व्रत खण्डित करने का नाम अनाचार और व्रत खण्डित होने के बाद शंका रहित होकर उत्कट अभिलाषा के साथ विषय-सेवन का नाम आभोग है। इनके अनुसार १ से २५ तक के व्रत भंग को अतिक्रम, २६ से ५० तक के व्रत भंग को व्यतिक्रम, ५१ से ७५ अंश तक के व्रत भंग को अतिचार, ७६ से ९९ तक व्रतभंग को अनाचार और शत-प्रतिशत व्रत भंग को आभोग समझना चाहिये। इसी विषय को आचार्य एक दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

कोई बूढ़ा बैल धान्य के हरे-भरे किसी खेत को देखकर उसकी बाड़ के समीप बैठा हुआ उसे खाने की मन में इच्छा करता है, यह अतिक्रम है। पुनः वह बैठा-बैठा ही बाड़ के किसी छिद्र से भीतर मुख डालकर एक घास धान्य खाने की अभिलाषा करे तो यह व्यतिक्रम है। अपने स्थान से उठकर और खेत की बाड़ तोड़कर भीतर घुसने का प्रयत्न करता है, वह अतिचार है। पुनः खेत में घुसकर एक घास धान्य को खाकर वापिस लौट आवे, तो यह अनाचार नामक दोष है। किन्तु जब वह निःशंक होकर खेत के भीतर घुसकर यथेच्छ घास खाता है और खेत के स्वामी द्वारा डण्डों से पीटे जाने पर भी धान्य खाना नहीं छोड़ता है तो आभोग नामक दोष है।^२

श्रावक के जो १२ व्रत बतलाये गये हैं, उनमें से प्रत्येक व्रत के पांच-पांच अतिचार बतलाये हैं, जैसा कि पूज्य आचार्य उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र में लिखते हैं-

“व्रतशीलेषु पंच पंच यथाक्रमम्” ॥७/२४॥

ऐसी स्थिति में स्वभावतः एक प्रश्न उठता है कि प्रत्येक व्रत के पांच-पांच ही अतिचार क्यों बतलाये गये हैं ? तत्त्वार्थसूत्र की उपलब्ध समस्त दिगम्बर और श्वेताम्बर टीकाओं में इस प्रश्न का कोई उत्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है। जिन-जिन श्रावकाचारों में अतिचारों का निरूपण किया गया है उनमें और उनकी टीकाओं में भी इस प्रश्न का कोई भी समाधान नहीं मिलता है। इस सम्बन्ध में डॉ. हीरालाल जैन लिखते हैं- “जीतसारसमुच्चय” नामक ग्रंथ के अन्त में 'हेमनाभा नामका एक प्रकरण है जिसमें भरत चक्रवर्ती के प्रश्नों का उत्तर भगवान् ऋषभदेव के द्वारा दिलाया गया है।^३ भरत के प्रश्न का उत्तर देते हुए भगवान् कहते हैं कि- व्रतों में मानव शुद्धि की हानिरूप अतिक्रम से जो अतिचार लगते हैं, वे अपनी निन्दा करने से दूर हो जाते हैं। व्रतों के स्व-प्रतिपक्ष रूप विषयों की अभिलाषा से जो व्यतिक्रम जनित अतिचार लगते हैं, वे मन के निग्रह करने से शुद्ध हो जाते हैं। व्रतों के आचारण रूप क्रिया में आलस्य करने से अतिचार लगते हैं, उनके त्याग करने से गृहस्थ निर्मल अथवा शुद्ध हो जाता है। व्रतों के अनाचार रूप छन्न भंग को करने से अतिचार लगते हैं, वे तीनों योगों के निग्रह से शुद्ध हो जाते हैं। व्रतों के आभोग जनित व्रत-भंग

से जो अतिचार उत्पन्न होते हैं, वे प्रायश्चित्त-वर्णित नयमार्ग से शुद्ध हो जाते हैं।¹⁵ इस विवेचन से यह एकदम स्पष्ट हो जाता है कि व्रतभंग के पांच प्रकार हैं, इन्हीं दोषों को ध्यान में रखकर ही यह संभव हो सकता है कि तज्जनित दोष अथवा अतिचार भी पांच ही हो सकते हैं।

अन्य ग्रन्थों में अतिचार

श्रावक धर्म का वर्णन करने वाले जितने ग्रन्थ हैं, उनमें से व्रतों के अतिचारों का वर्णन तत्त्वार्थसूत्र और उपासकदशांगसूत्र (श्वेताम्बर ग्रन्थ) में ही सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। वही देखा जाय तो श्रावकाचारों में सर्वप्रथम रत्नकरण्डश्रावकाचार में अतिचारों का वर्णन प्राप्त होता है। जब तत्त्वार्थसूत्र में वर्णित अतिचारों की तुलना उपासकदशांगसूत्र में वर्णित अतिचारों से करते हैं तो यह कहना एकदम उचित होगा कि- परस्पर में एक का दूसरे पर प्रभाव नहीं, अपितु एक ने दूसरे के अतिचारों का अपनी भाषा में अनुवाद भी किया है।

दोनों के अतिचारों में मात्र भोगोपभोग परिमाणव्रत के अतिचारों में अन्तर है। उपासकदशासूत्र में इस व्रत के अतिचार दो प्रकार से बताये गये हैं भोग की अपेक्षा अतिचार और कर्म की अपेक्षा। भोग की अपेक्षा अतिचार तत्त्वार्थसूत्र के समान ही हैं, परन्तु कर्म की अपेक्षा उपासकदशासूत्र में पन्द्रह अतिचार बतलाये गये हैं, जोकि खरकर्म के नाम से प्रसिद्ध हैं और पं. आशाधर जी ने सागार धर्माभूषण में जिनका उल्लेख किया है। यदि यहां कोई शंका करे कि इसी तरह आचार्य उमास्वामी ने भी क्यों नहीं बताये ? तो इसका समाधान यही हो सकता है कि- पूज्य आचार्य उमास्वामी व्रतों के पांच-पांच अतिचारों को वर्णित करने की प्रतिज्ञा पहले ही कर चुके हैं और उपासकदशासूत्रकार ने ऐसी कोई प्रतिज्ञा नहीं की है।

इसी प्रकार तत्त्वार्थसूत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार में वर्णित अतिचारों में कुछ परिवर्तन दृष्टिगोचर होता है। परिग्रह परिमाण व्रत और भोगोपभोग परिमाणव्रत में से तत्त्वार्थसूत्र में परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचारों में निश्चित संख्या का अतिक्रमण है और भोगोपभोग परिमाण व्रत के अतिचार मात्र भोग पर ही घटित होते हैं, जबकि व्रत के नामानुसार अतिचार भोग और उपभोग दोनों पर घटित होना चाहिए। रत्नकरण्डश्रावकाचार के कर्ता पूज्य आचार्य समन्तभद्र स्वामी जैसे तार्किक आचार्य के हृदय में यह बात खटकी, इसलिये उन्होंने उक्त दोनों व्रतों के नये ही प्रकार से पांच-पांच अतिचारों का निरूपण किया जो कि उपर्युक्त दोनों आपत्तियों से रहित हैं।

अब आचार्य उमास्वामी द्वारा वर्णित और आचार्य विद्यानन्दि स्वामी द्वारा विवेचित अतिचारों पर प्रकाश डालते हैं, जिससे प्रत्येक श्रावक इनको दूर करके निरतिचार व्रतों का पालन कर सके।

१. अहिंसाणुव्रत के अतिचार

इस व्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं- आवागमन के लिये अभीष्ट देश में जीव को प्रतिबन्धित करना बन्ध है। जैसे- हथकड़ी, लेज, रस्सी, सांकल आदि बांधना बन्ध है। डण्डा, चाबुक, छड़ी आदि के द्वारा प्राणियों को ताड़ना वध है। जैसे- किसी जानवर को डंडा, चाबुक, लौदरी, बैल आदि से ताड़ना। कान, नाक, अण्डकोष आदि अवयवों को छेदना छेद है। न्यायोचित भार से अधिक बोझ लादना अतिभारोपण है। उचित समय पर अथवा भूख-प्यास लगने पर खाद्य-पेय पदार्थों का निरोध कर देना, अन्नपान निरोध है।¹⁶

यहाँ आचार्यवर विद्यानन्द स्वामी का आशय यह है कि अहिंसाव्रत के प्रमादयोग से किये गये बन्ध आदि हैं वे ही अतिचार हैं। यदि इनमें प्रमादयोग नहीं है और जीवों का हितकारी है तो वे अतिचार की कोटि में नहीं आते हैं। जैसे- कुआ, गड्ढा आदि में गिरने से रोकने के लिये पशु को रस्सी आदि से बांधना, पागल स्त्री-पुरुष को स्व-पर घात को रोकने के लिये सांकल आदि से बांधना, पागल अथवा भूतावेश की चिकित्सा के बेंत या थप्पड़ आदि से ताड़ना, नाक-कान आदि को दबाना उपद्रवी छात्र का गुरु और माता-पिता आदि के द्वारा पीटा जाना, शल्य चिकित्सक द्वारा फोड़ा आदि को चीरना आदि, आवश्यकतानुसार उंगली, टांग आदि उपांगों का भी छेद करना, हितेच्छु वैद्य द्वारा अन्न-पान रोक देना, गुरुजी अथवा पंडितजी के द्वारा उपवास आदि उपदेश देना, ये सब अतिचार की संज्ञा को प्राप्त नहीं होते हैं। इनमें विशेष बात यह है कि विशुद्धि के कारण होने वाले बन्ध आदि मल नहीं है और संक्लेश के कारण होते हैं तो अहिंसा व्रत के अतिचार हैं। यहाँ जीव के संपूर्ण प्राणों का वियोग करना वध से तात्पर्य नहीं है। यदि ऐसा (हत्या) करता है तो उससे अहिंसाव्रत का ही नाश हो जाता है। यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि- इन अतिचारों को कदाचित् जानवरों पर घटाया गया है, परन्तु यहाँ अन्य भी अपने विवेक से योजित करना चाहिये। जैसे- अपने सेवक अर्थात् नौकर को पूरे समय अपने काम में बांधे रखना, काम सही नहीं करने पर मारना-पीटना, उसके अंगों को छेदन करना, क्षमता से अधिक काम करवाना, भोजन के समय अतिरिक्त काम करवाना आदि ये भी अतिचारों में जोड़ा जाना चाहिये। अपने स्वजनों के प्रति भी यदि ऐसा ही व्यवहार करता है तो वह भी अहिंसाव्रत के अतिचारों में शामिल होगा।

यदि कोई शंका करता है कि ये अतिचार किस कारण से होते हैं ? तो उसका समाधान देते हुए आचार्य लिखते हैं कि - संक्लेश परिणाम के वश से ये अतिचार उत्पन्न होते हैं। एक देश भंग और एकदेश क्षरण हो जाने से उक्त अतिचार होते हैं। इसी प्रकार सभी व्रतों के अतिचारों में जोड़ लेना चाहिये।

२. सत्याणुव्रत के अतिचार

सत्याणुव्रत के पांच अतिचार इस प्रकार हैं - मिथ्याप्रवर्तन, अन्यथाप्रवर्तन कराने वाले उपदेश देना मिथ्योपदेश है। जैसे- बौद्ध धर्म का पक्ष लेकर सर्वथा क्षणिक एकान्त में प्रवृत्ति करा देना, सर्वथा नित्य एकान्त में प्रवृत्ति करा देना अथवा समीचीन शास्त्रों का अन्य प्रकार से निरूपण कर देना आदि। संवृत अर्थात् ढके हुए अथवा गुप्त क्रिया विशेष का जो दूसरों की हानि करने के लिये प्रकाशित कर देना रहोभ्याख्यान है। जैसे- स्त्री-पुरुषों द्वारा एकान्त में की गयी अथवा कही गई क्रियाविशेष को गुप्तरिति से जानकर अन्य लोगों के समक्ष प्रकट कर देना। अन्य के द्वारा नहीं कहे गये विषय को उसने इस प्रकार कहा था अथवा किया था ऐसे ठगने के लिये जो द्वेषवश लिख दिया जाता है, वह कूटलेखक्रिया है। जैसे- उस मनुष्य ने मरते समय यों अमुक को इतना भाग देने के लिये कहा था अथवा इस प्रकार अंगचेष्टा की थी। अपने अभिप्राय के अनुसार कुछ भी मनचाहा लिख दिया जाता है। सोना-चांदी आदि की धरोहर किसी महाजन के पास रख देने पर पुनः संख्या अथवा परिमाण भूल गये स्वामी का अल्पसंख्यक द्रव्य मांगने पर हीन द्रव्य के धरोहर की स्वीकृति को न्यासापहार कहा है। जैसे कि किसी महाजन के पास सौ मोहरों की धरोहर जमा करने वाले भोले व्यक्ति द्वारा भूल जाने से ९० मोहरें मांगने पर जानते हुए भी उसे ९० ही मोहरें देने को तैयार हो जाता है। अर्थ, प्रकरण, अंगविकार, भ्रूविक्षेप आदि से दूसरों की

गुप्त चेष्टा को देखकर ईर्ष्या, लोभ आदि के वश होकर जो अन्य लोगों के समक्ष प्रकट कर देना है वह साकारमंत्रभेद है।

यहाँ विशेष यह जानना चाहिये कि ये अतिचार कषाय की तीव्रता के कारण लोभ अथवा ईर्ष्या के वश से ही होते हैं। यदि कोई व्यक्ति अहिंसा के स्थान पर हिंसा का उपदेश देता है तो वह यही विचार करता है कि जैसे जैन पण्डित जैन शास्त्रों का उपदेश देते हैं, वैसे ही मैंने भी वेदों के अनुसार हिंसा का उपदेश दिया है, डाकुओं के अनुसार धनिकों को लूटने का उपदेश दिया है, कोई मनमानी बात नहीं की है। इसी प्रकार पति-पत्नि के रहस्य की बातें जो कही हैं वे सब पूर्णरूपेण सत्य हैं, कोई झूठ थोड़े ही है, जैसा जाना अथवा समझा वैसा ही तो बताया है।

३. अचौर्याणुव्रत के अतिचार

इसके अतिचार निम्न हैं - चोरी करने वाले व्यक्ति को मन, वचन और काय से अन्य पुरुष से करवाता है, एवं अन्य पुरुष से कृतकारित और अनुमोदना के अनुसार प्रेरणा करता है, वह स्तेनप्रयोग है। चोर द्वारा लाये गये चोरी के सामान कम मूल्य में ग्रहण कर लेना तदाहतादान है। जैसे- किसी चोर ने कीमती हार चुराया उससे अत्यन्त अल्पदाम में खरीद लेना। राज्य के विरुद्ध होते हुए भी अतिक्रम करना, विरुद्धराज्यातिक्रम है। अतिक्रम अर्थात् उचित रीति से अन्य प्रकार अन्याय से देना अथवा लेना है। जैसे- टैक्स बचाना, ट्रेन का टिकट नहीं लेना, आधा टिकट लेना आदि। झूठे नाप-तौल आदि से क्रय-विक्रय का प्रयोग करना हीनाधिकमानोन्मान है। जैसे- नापने-तौलने के लिये काष्ठ-धातु आदि के निर्मित सेर, ढड़िया, पंसेरी आदि अथवा तराजू के पाव, किलो आदि एवं गज, फुट आदि को कम अथवा ज्यादा अपने अभिप्राय से रखता है। ग्रहण करते समय अधिक वजन रखता है और देते समय कम वजन रखता है। यहां भिन्न-भिन्न प्रकारों से होने वाली नाप-तौलों का ग्रहण किया जाना चाहिये। दूसरों को ठगने के लिये कृत्रिम वस्तुओं को वास्तविक वस्तुओं में मिलाकर व्यापार करना, प्रतिरूपक व्यवहार है। जैसे- सोने में पीतल, दूध में चूना, काली मिर्च में पपीता के बीज आदि मिलाकर बेचना।

यहाँ विशेष यह जानना चाहिये कि सरकार की गलत नीतियों का विरोध करना विरुद्ध राज्यातिक्रम नहीं है। जैसे- बूचड़खाने, गलत कर निर्धारण नीति, अनुचित मंहगाई और तानाशाही आदि का विरोध करना।

४. ब्रह्मचर्याणुव्रत के अतिचार

इसके अतिचार निम्न हैं - अन्य किसी का अथवा उसके लड़के-लड़कियों का विवाह कराना परविवाहकरण है। सातावेदनीय कर्म और चारित्र मोहनीय कर्म का उदय हो जाने से विवाह क्रिया द्वारा बंध जाना विवाह है, अन्य किसी का विवाह परविवाह है। इत्वरिका परिगृहीता गमन, इत्वरिका अपरिगृहीता गमन। परपुरुष के समीप गमन करने की आदत को धारण करने वाली स्त्री इत्वरी कही गई है। क प्रत्यय से खोटे भावों को रखने वाली कुत्सिता है। किसी नियत स्वामी के द्वारा गृहीत है वह परिगृहीता है और नियत स्वामी के द्वारा गृहीत नहीं की गई है वह अपरिगृहीता है। इस प्रकार जो इत्वरिका परिगृहीता और इत्वरिका अपरिगृहीता अर्थात् वेश्या अथवा पुंश्चली स्त्रियों के मनोहर अंगों का निरीक्षण, हास्य, सराग भाषण करना, हाथ, भ्रकुटी, आंख आदि से

संकेत करना आदि रागवशात् अनेक रमण कुचेष्टायें करना दूसरा और तीसरा अतिचार है। कामसेवन के अंगों के अतिरिक्त अंगों में क्रीड़ा करना अनंगक्रीड़ा है। रतिक्रिया में अतिशय प्रवृद्ध परिणाम होना कामतीव्राभिनिवेश है। अर्थात् कामक्रीड़ा में संतुष्ट नहीं होने पर अनवरत प्रवृत्ति करना अतिचार है।

यहाँ कोई शंका करता है कि कोई दीक्षित, अतिबाला, तिर्यञ्चनी, चित्र, अनेक अचेतन स्त्रियाँ अथवा इसके विपरीत पुरुषों में भी ऐसा ही जानना आदि के साथ रतिक्रिया के भाव रखता है तो इसे कौन से अतिचार में रखा जाय तो इसका समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं कि- उपर्युक्त स्त्री अथवा पुरुषों में कामभाव को कामतीव्राभिनिवेश में माना जायेगा, क्योंकि कामभाव के अतिरेक में ही ऐसे परिणाम होते हैं।

५. परिग्रह परिमाणव्रत के अतिचार

क्षेत्र-वास्तु के परिमाण का अतिक्रम अर्थात् उल्लंघन करना प्रथम अतिचार है। धान्य उत्पत्ति के स्थान को क्षेत्र और निवास स्थान को वास्तु कहते हैं। हिरण्य और सुवर्ण के परिमाण का अतिक्रमण करना द्वितीय अतिचार है। व्यवहार में क्रय-विक्रय के उपयोगी वस्तु का विनियम करने वाले पदार्थ हिरण्य कहलाते हैं। जैसे- चांदी, मोहर, गिन्नी, सिक्का आदि। धन-धान्य के परिमाण का अतिक्रम करना तृतीय अतिचार है। गेहूँ, चावल आदि धान्य हैं। गाय, बैस, हाथी, घोड़ा आदि धन हैं। संख्या निश्चित किये गये दासी-दासों का अतिक्रम करना चतुर्थ अतिचार है। वस्त्र, बर्तन, गाड़ी, पलंग आदि वस्तुएं कुप्य में गर्भित हो जाते हैं। इनका अतिक्रम करना पंचम अतिचार है।

यहाँ विशेष यह जानना चाहिये कि सीमा करने वाली दीवार अथवा बाड़ आदि हटाकर दूसरे घर अथवा खेत को मिला लेने से, लोभ के वश से सीमा से अधिक सोना-चांदी आदि होने रिश्तेदारों अथवा परिचितों को यह कहकर देना कि जब जरूरत होगी तब वापस ले लूंगा, अन्य किसी को धन-धान्य इसलिये दे देता है कि अपने पास रखे धान्यादि को बेच दूंगा अथवा भोग कर लूंगा तब वापस ले लूंगा, गाय, घोड़ी, दासियां, चाकर आदि में गर्भवाली की अपेक्षा अथवा कुछ समय पश्चात् अपने व्रत को यथावस्थित कर लूंगा, ऐसा विचार कर निश्चित की गई संख्या का अतिक्रम अर्थात् उल्लंघन कर देता है। अतः अतिचार हो जाते हैं क्योंकि तीव्रलोभ का चारों ओर से आवेश होने से प्रतिज्ञात प्रमाणों का भूल जाना संभव हो जाता है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने इसके पांचों अतिचार भिन्न प्रकार से निरूपित किये हैं जो इस प्रकार हैं- अतिवाहन, अतिसंग्रह, विस्मय, अतिलोभ और अतिभारवहन। ये पांचों अतिचार संतोष को घातने में एकदेश रूप से अनुकूल होते हैं, इसलिये अतिचार माने गये हैं।

इस प्रकार ये पांचों अणुव्रतों के अतिचार हैं। अब तीन गुणव्रतों के अतिचारों को कहते हैं -

६. दिग्व्रत के अतिचार

ऊर्ध्वव्यतिक्रम, अधोव्यतिक्रम, तिर्यग्व्यतिक्रम, क्षेत्रवृद्धि और स्मृत्यन्तराधान ये पांच अतिचार दिग्विरमणव्रत के हैं।¹⁷ सीमित की जा चुकी दिशा की अवधि का उल्लंघन कर देना अतिक्रम कहा जाता है। विशेष रूप से अतिक्रम करना व्यतिक्रम है। पर्वत, वृक्ष, मीनार आदि पर ऊपर चढ़ जाना, नीचे कुआं, बावड़ी आदि में उतरना और तिर्यक् में बिल, गुफा, सुरंग आदि में प्रवेश

करना आदि के नियत सीमा से बाहर चले जाना अतिचार है। पूर्व में निश्चित की गई पूर्व देश की अवधि में से घटाकर उसको पश्चिम देश की अवधि में लोभ वशात् जोड़ देना क्षेत्रवृद्धि है। ग्रहण किये गये मर्यादा का पीछे स्मरण नहीं रहना अथवा न्यून अधिक रूप स्मरणान्तर कर लेना स्मृत्यन्तराधान है।

यहाँ विशेष यह जानना चाहिये कि श्रावक को ऊर्ध्व दिशा में वायुयानादि की ऊँचाई के अनुसार और अधो दिशा में समुद्रादि में पनडुब्बी आदि से नीचे जाने के अनुसार ही सीमा का निर्धारण करना चाहिये। यदि फिर इनका अतिक्रमण करता है, तो अतिचार है। कोई यह शंका कर सकता है कि क्षेत्रवृद्धि का अन्तर्भाव तो परिग्रह परिमाण व्रत के अतिचारों में हो जाता है, तो यहाँ कहना पुनरुक्त दोष है। समाधान करते हुए आचार्य विद्यानन्दि स्वामी कहते हैं कि वहाँ परिग्रहवृद्धि से क्षेत्र के परिमाण का अतिक्रमण कर दिया जाता है किन्तु यहाँ क्षेत्र को बढ़ाकर अतिक्रमण रूप से गमन कर लिया गया है, क्योंकि यहाँ दिशा के परिमाण का लक्ष्य है। अज्ञान, अचातुर्य, सन्देह, अतिव्याकुलता, अन्यमनस्कता, अतिलोभ आदि के कारण स्मृति विभ्रम हो जाता है। ये अतिचार मुख्य रूप से प्रमाद, मोह और उद्भ्रान्ति आदि से हो जाते हैं। किसी के १०० योजन का परिमाण था, वह भूल जाता है कि मैंने कितना परिमाण किया था और वह आगे जाकर पुनः वापस आ जाता है तब तक तो अतिचार है और यदि वह आगे जाता है तो अनाचार हो जाता है।

७. देशविरतिशील के अतिचार

आनयन, प्रेष्यप्रयोग, शब्दानुपात, रूपानुपात, पुद्गलक्षेप, ये पाँच अतिचार वर्णित किये गये हैं।^{१६} अपने संकल्पित स्थान में स्थित व्रती के प्रयोजनवशात् किसी पदार्थ को अपने मर्यादा से बाहर प्रदेश से मंगाता है उसे आनयन दोष कहा जाता है। अपनी सीमा से बाहर किसी को वस्तु लाने को भेजता है तो वह प्रेष्यप्रयोग अतिचार है। सीमित क्षेत्र में बैठे हुए अथवा खड़े हुए सीमा से बाहर के व्यक्ति को उद्देश्य करके खांसना, ताली बजाना, फोन आदि से संकेत करना शब्दानुपात है। अपना कार्य शीघ्रता से करवाने के लिये अपना रूप सीमित क्षेत्र से बाहर दिखाना रूपानुपात नामक अतिचार है। ग्रहण किये गये सीमित क्षेत्र के बाहर कार्य में संलग्न लोगों को प्रेरित करने के लिये, पत्थर, मिट्टी आदि को फेंकना और चिट्ठी, टेलीग्राम आदि भेजना पुद्गलक्षेप कहलाता है।

यहाँ यह विशेष जानना चाहिये कि यह व्रत हिंसा से बचने के लिये ग्रहण किया है, फिर अन्य किसी को अपने पास बुलाने अथवा बाहर क्षेत्र में भेजने से भी हिंसा तो होगी। अपनी अपेक्षा ज्यादा हिंसा होगी, क्योंकि वह स्वयं आता अथवा जाता है तो ईर्या समिति का प्रयोग करता परन्तु जो अन्य व्यक्ति है, वह ईर्यापथ आदि का ध्यान नहीं रखता है। शब्दानुपातादि में वह विचार करता है कि अमुक कार्य शीघ्रता से हो जायेगा, ऐसा उतावलापन रहता है, जिस कारण से वह दोष लगाता है। इनमें थोड़ी सी हिंसा बचाने के विचार से अधिक हिंसा का भागी बन जाता है।

८. अनर्थदण्डविरतिव्रत के अतिचार

राग के उद्रेक से हंसी मिश्रित अशिष्ट, अश्लील वचनों का प्रयोग करना कन्दर्प है। तीव्र राग और अशिष्ट वचन के साथ शरीर से दूषित चेष्टायें जैसे भांड, विदूषक आदि करते हैं, करना कौत्कुच्य कहलाता है। जिसमें धृष्टता अधिक हो और पूर्वापर सम्बन्ध बिना व्यर्थ बकवाद करना मौख्य कहा जाता है। बिना प्रयोजन अधिक पदार्थों का निर्माण करा लेना असमीक्ष्याधिकरण अतिचार

कहलाता है। इसके तीन भेद हैं - मिथ्यादृष्टियों के काव्य आदि का निरर्थक चिंतन करना मनोगत, बिना प्रयोजन परपीड़ाकारी बकवाद करना वाग्विषय और बिना प्रयोजन चलते, बैठते सचित्त, अचित्त फल-फूलों को छेदना, तोड़ना, भूमि खोदना, अग्नि जलाना, विष देना आदि आरंभ काय गोचर असमीक्ष्याधिकरण हैं। जितने पदार्थों से उपभोग, परिभोग का प्रयोजन सिद्ध हो जाता है तो भी उनसे अधिक अतिरिक्त पदार्थों को रखना उपभोगपरिभोगानर्थक्य है।

यहां विशेष यह जानना चाहिये कि- कन्दर्प, कौत्कुच्य, उपभोगपरिभोगानर्थक्य, प्रमादचर्या में ग्रहण हो जाते हैं। मौखर्य पापोपदेश विरति का अतिचार है। असमीक्ष्याधिकरण दुःश्रुति, पापोपदेश, हिंसादान और अपध्यान का अतिचार है।

९. सामायिक व्रत के अतिचार

योगदृष्टिनिधान, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये पांच अतिचार हैं। काय, वचन और मन का अवलम्बन लेकर जो आत्मप्रदेशों का परिस्पंदन होता है वह योग है। दुष्टनिधान शब्द में दुर् उपसर्ग का अर्थ दुष्टता अथवा अन्य सावद्य परणतियों से है। पाप व्यापारों में मन, वचन, काय को लगाना दुष्टनिधान है। इस प्रकार मन दुष्टनिधान, वचन दुष्टनिधान और काय दुष्टनिधान, ये तीन अतिचार हो जाते हैं। विशुद्ध मानसिक विचारों के करने में उदासीनता धारण करके क्रोधादि अथवा अन्य सावद्य कार्यों में मन की प्रवृत्ति करना मनोदुष्टनिधान है। अतिशीघ्र, अतिबिलम्ब, अशुद्ध, धृष्ट, स्खलित, अव्यक्त, पीड़ित, दीन, चपल, नासिकास्वरमिलित आदि शब्दों का प्रयोग करना वचन दुष्टनिधान है। शरीर के हाथ, पैर, सिर को स्थिर नहीं रखना, पढ़ते हुए सिर हिलाना, नासाग्र दृष्टि स्थिर न रख पाना आदि कायदुष्टनिधान हैं। शुभकार्यों के प्रति अर्थात् सामायिक आदि में पूर्ण उत्साह नहीं रहना अनादर नामका अतिचार है। सामायिक करने में चित्त की एकाग्रता नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है।

यहाँ कोई प्रश्न करता है कि मनोदुष्टनिधान और स्मृत्यनुपस्थान में क्या अन्तर है ? तो आचार्य समाधान करते हुए कहते हैं कि क्रोध आदि का उद्रेक होने से बहुत देर तक सामायिक में चित्त की स्थिरता नहीं रखना स्मृत्यनुपस्थान है और मानसिक चिन्ताओं का परिस्पंदन होने से मन की एकाग्रता नहीं कर पाना मनोदुष्टनिधान है। यही दोनों में अन्तर है।

१०. प्रोषधोपवास व्रत के अतिचार

अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितोत्सर्ग, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जितादान, अप्रत्यवेक्षिताप्रमार्जित संस्तरोपक्रमण, अनादर और स्मृत्यनुपस्थान ये प्रोषधोपवास के अतिचार हैं। दया पालन के लिये बार-बार निरीक्षण करना प्रत्यवेक्षण है। कोमल उपकरण के द्वारा प्रतिलेखन करना प्रमार्जन है। प्रत्यवेक्षण, प्रमार्जन के बिना प्रमाद पूर्वक शीघ्र मल-मूत्र, खकार आदि करना पहला अतिचार है। बिना देखे, बिना शोधे स्थान से पूजादि के उपकरण, पहनने, ओढ़ने आदि के वस्त्र शीघ्रता से खींचकर ग्रहण करना दूसरा अतिचार है। बिना देखे, बिना शोधे ही दुपट्टा, चटाई, बिछौना आदि का उपयोग जल्दी से करना तीसरा अतिचार है। स्वाध्याय, संयम, जिनपूजा आदि आवश्यक कार्यों में उत्साह नहीं होना अनादर है। भूख प्यास से पीड़ित होने पर उपवास के अनुष्ठान को करना भूल जाना स्मृत्यनुपस्थान पांचवां अतिचार है।

यहां विशेष जानना चाहिये कि दूर की ओर देखते रहना अथवा निकृष्ट प्रतिलेखन से मार्जन करना भी इन्हीं अतिचारों में गर्भित हो जाता है। भूख-प्यास आदि से कुछ आकुलता उपजने

पर प्रथम तीन अतिचार संभव होते हैं। इसी भूख-प्यास की बाधा के कारण जिनपूजा, स्वाध्याय, प्रतिक्रमण आदि आवश्यक कार्यों में उत्साह नहीं रह पाना ही अनादर की कोटि में आता है। इसी कारण से ही एकाग्रता नहीं होने से स्मृत्यनुपस्थान हो जाता है। ये व्रत का एकदेश विघात करने वाले होने से अतिचार कहे जाते हैं।

११. उपभोगपरिभोगपरिमाण व्रत के अतिचार

सचित्ताहार, सचित्तसम्बन्धाहार, सचित्तसम्मिश्राहार, अभिषवाहार और दुःपक्वाहार ये पांच इस व्रत के अतिचार कहे गये हैं।^{१०} चित्त अर्थात् ज्ञान, जो इससे सहित वर्तन करता हुआ जीवित पदार्थ है वह सचित्त है। ऐसा आहार ग्रहण कर लेना सचित्ताहार है। ऐसे सचित्तआहार के संसर्ग मात्र हो रहे पदार्थ को ग्रहण करता है वह सचित्त सम्बन्धाहार कहलाता है। सचेतन पदार्थों से सम्मिलित हो रहे पदार्थ को ग्रहण कर लेना सचित्त सम्मिश्राहार है। द्रव और वृष्य पदार्थ ग्रहण करना अभिषवाहार है। कुछ देर तक गलाकर जो शरबत आदि पदार्थ बना लिये जाते हैं वे द्रव पदार्थ हैं और इन्द्रियों के बल को बढ़ाने वाले, रसायन, वशीकरण, पौष्टिक रस ये सभी वृष्य पदार्थ (गरिष्ठ) कहलाते हैं। आधा पका अथवा अधिक पका पदार्थ का आहार करना दुःपक्वाहार है।

यहाँ विशेष यह जानना चाहिये कि - यदि कोई सचित्त आहार का त्यागी सचित्त का भक्षण कर लेने पर अनाचार हो जाना चाहिए तथापि आचार्य कहते हैं कि अज्ञान अथवा चित्त की एकाग्रता न होने से सचित्त भक्षण हो जाने पर भी व्रत के रक्षण की अपेक्षा है। अतः सचित्ताहार को भी अतिचार माना गया है। कोई पूँछता है कि सचित्तसम्बन्ध और सम्मिश्राहार में क्या अन्तर है तो आचार्य कहते हैं कि सचित्त सम्बन्ध में अचित्त के साथ सचित्त का केवल संसर्ग होता है और सम्मिश्र में अचित्त का सचित्त से क्वचित् मिलान हो जाता है, यही दोनों में अन्तर है। अभिषव और दुःपक्वाहार को आलस्य और आत्मसंकलेश का कारण होने से अचित्त अथवा शुद्ध होने पर भी आचार्य ने व्रतियों की इन्द्रियमदवृद्धि न हो, इसलिये त्याग करने का उपदेश दिया है।

इसी व्रत में पांच अतिचार आचार्य समन्तभद्रस्वामी ने भिन्न रूप से प्ररूपित किये हैं, क्योंकि आचार्य उमास्वामी द्वारा वर्णित अतिचार मात्र भोग पदार्थों में ही घटित होते हैं उपभोग पदार्थों में नहीं। उसी विसंगति को दूर करने के लिये उन्होंने ये पांच अतिचार बतलाये हैं विषयविषतोऽनुपेक्षा, अनुस्मृति, अतिलौल्य, अतितृषा और अतिअनुभव^{११}।

१२. अतिथिसंविभागव्रत के अतिचार

सचित्तनिक्षेप, सचित्तापिधान, परव्यपदेश, मात्सर्य और कालातिक्रम ये पांच अतिचार हैं।^{१२} मुनियों के दान योग्य अचित्त पदार्थों को सचित्त पदार्थ पर रख देना सचित्त निक्षेप नामक अतिचार है। जैसे सचित्त जल से आर्द्र हो रहे वर्तनों में खाद्य पदार्थ रख देना। खाद्य पदार्थ को सचित्त पदार्थ से ढक देना सचित्तापिधान कहा जाता है। पूर्व शब्द अधिकरणपने से कहा गया और यह तृतीयान्त पद है। अन्य दाता ही पर्याप्त हैं, मैं क्यों दान दूँ, अथवा अन्य किसी को देने योग्य पदार्थ दे देना परव्यपदेश नामका अतिचार है। किसी बड़े समारोह में दान देते हुए भी अन्तरंग में पात्र का आदर नहीं करना अथवा हर्ष नहीं मनाना मात्सर्य है। अथवा अन्य दाताओं के गुणों से ईर्ष्या करना, मात्सर्य है। संयमियों के अयोग्य काल में दान का अभिप्राय रखना कालातिक्रम है। यहाँ विशेष

यह जानना चाहिये कि तुच्छबुद्धि पुरुष यह विचारते हुए कि सचित्त पर रख देता है अथवा ढक देता है, जिससे संयमीजन ग्रहण नहीं करते हैं। धनलाभ अथवा अन्य किसी प्रयोजन की सिद्धि के लिये द्रव्योपार्जन को नहीं छोड़कर दूसरे के हाथ से दान दिलवा देता है और स्वयं समर्थ होते हुए, किसी रोग, सूतक पातक आदि का प्रतिबन्ध नहीं होते हुए भी उसको दूसरों से कराना अत्यन्त अनुचित है।

इसी प्रकार आचार्य सम्यग्दर्शन जो व्रतों के प्रारंभ में अंक का काम करता है और सल्लेखना व्रत जो उस श्रावक के व्रतों का फल है वह शून्य बढ़ाकर फल में गुणित वृद्धि करता है, उसके भी अतिचार निरूपित करते हैं।

सम्यग्दर्शन के अतिचार - इन सभी व्रतों का जो आधार स्वरूप है, उस सम्यग्दर्शन के अतिचारों का भी वर्णन आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने किया है। ये पांचों अतिचार तीनों सम्यग्दर्शनों में से सिर्फ क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टि के चल, मल, अगाढ़ दोषों के कारण सम्भव होते हैं। वे अतिचार निम्न हैं- शंका, कांक्षा, विचिकित्सा, अन्य दृष्टि प्रशंसा और अन्यदृष्टि संस्तव हैं। जीवादिक तत्त्वार्थों में, रत्नत्रयस्वरूप मोक्षमार्ग में, आगम में एवं इनके प्रणेता सर्वज्ञभगवान् में किसी भी प्रकार से संशय करना शंका नामक दोष है। सम्यग्दर्शनादि के प्रभाव से इहलोक और परलोक में विषय भोगों की आकांक्षा करना कांक्षा दोष कहलाता है। आप्त, आगम और साधुओं में जुगुप्सा अर्थात् घृणा करना विचिकित्सा है। बुद्ध, कपिल, कणाद आदि अन्य मतावलम्बियों को अन्य दृष्टि कहा गया है। ऐसे अन्यदृष्टि पुरुषों अथवा दर्शनों की मन से प्रशंसा करना अन्यदृष्टि प्रशंसा है और उन्हीं की वचनों से स्तुति आदि करना अन्य दृष्टि संस्तव कहा गया है। यहां कोई शंका करता है कि प्रशंसा और संस्तव में क्या सूक्ष्म अन्तर है? इसका समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि- “मनसा मिथ्यादृष्टिज्ञानादिषु गुणोद्भावनाभिप्रायः प्रशंसा, वचसा तद्भावना संस्तव इति।” अर्थात् मन से मिथ्यादृष्टि जीवों के ज्ञान, चरित्र, तप आदि में प्रकृष्ट गुणपना प्रकट करने का अभिप्राय तो प्रशंसा है और वचन से उनके विद्यमान-अविद्यमान गुणों की भावना करते हुए उच्चारण करना संस्तव है। यहां पुनः कोई शंका करता है कि ये अतिचार तो श्रावक के हैं मुनियों के नहीं हो सकते? समाधान करते हुए आचार्य कहते हैं कि - सूत्र में सम्यग्दृष्टि पद का ग्रहण किया गया है। क्षायोपशमिक सम्यग्दृष्टियों में दोनों ग्रहण हो जाते हैं, क्योंकि क्षायोपशमिक सम्यग्दर्शन ४-७ गुणस्थानों तक होता है। अतः यहां अगारी और अनगारी दोनों का ग्रहण हो जाता है।

सल्लेखना के अतिचार -

जीविताशंसा, मरणाशंसा, मित्रानुराग, सुखानुबन्ध और निदान ये पांच अतिचार हैं। आकांक्षा अथवा अभिलाषा करना आशंसा है। क्षणिक स्वभावी शरीर त्याज्य है फिर भी शरीर की स्थिति में बने रहने की इच्छा करना जीविताशंसा है। रोगों के उपद्रव से व्याकुल होने पर संक्लेश हो जाने से मरने के लिये मानसिक विचार करना मरणाशंसा है। पूर्ववस्था में किये गये मित्रों के साथ क्रीड़ाये आदि पुनः स्मरण करना मित्रानुराग है। पूर्व में अनुभव में आये हुए प्रीतिविशेषों की स्मृतियों की निरन्तर अभ्यावृत्ति करना सुखानुबन्ध है। आगामी सुखों की वांछा करना निदान है। जैसे- विद्याधर, चक्रवर्ती, देव, इन्द्र, अहमिन्द्र आदि के भोगों की आकांक्षा करना। ये अतिचार इसलिये हैं क्योंकि समाधिमरण के उपयोगी हो रही उत्कृष्ट आत्मविशुद्धि की क्षति के कारण हैं।

आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने भी अतिचारों के सम्बन्ध में आचार्य पूज्यपाद स्वामी और अकलंक स्वामी का ही अनुसरण किया है। एक विशेष बात यह है कि आचार्य ने यहां अतिचारों को प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण के द्वारा सिद्ध किया है। व्रतों का वर्णन श्रावक के अनुरूप होने से ये समस्त अतिचार श्रावकों में ही घटित होते हैं, क्योंकि आचार्य का यह मन्तव्य है कि मुनि के व्रतों में यदि दोष लगता है तो वे अनाचार की ही कोटि में ग्रहण किया जायेगा। अतिचारों के सम्बन्ध में और अधिक देखा जाय तो पं. आशाधर जी ने सागार धर्माभूत में जुआ, चोरी, शिकार, मांस-भक्षण, मद्य, मधु, वेश्या, परस्त्री सेवन त्याग व्रत के भी अतिचार वर्णित किये हैं। यहां तक कि उन्होंने रात्रिभोजन त्याग और जलगालन के भी अतिचारों का वर्णन किया है। व्रतोद्योतन ग्रन्थ भाग-३, श्लोक ४६२-४६४ में तो पूजन, अभिषेक, मौनव्रत के भी अतिचार वर्णित किये हैं। इन सभी आचार्यों ने अतिचारों का वर्णन इसलिये किया है कि जिससे हम सभी इनका परिहार करके निर्दोष व्रतों का पालन करके स्वर्ग प्राप्त करें और परम्परा से मोक्ष की प्राप्ति कर सकें। यदि हम ऐसा कर पाये तो आचार्य उमास्वामी से लेकर आचार्य विद्यानन्दि स्वामी द्वारा अतिचारों का वर्णन करना सार्थक हो जायेगा। निरतिचार व्रतों के पालन से मुनिव्रत पालन की प्रेरणा तो मिलती ही है, तीर्थकर प्रकृति का भी बंध होता है। हम सभी निरतिचार व्रत पालन करके तीर्थकर प्रकृति का बंध करेंगे, ऐसी भावना करते हैं।

संदर्भ :

१. सागार धर्माभूत ४/१८
२. परमात्म गीतिका श्लोक ९
३. प्रायश्चित्त चूलिका श्लोक १४६ टीका
४. श्रावकाचार संग्रह भाग-४ प्रस्तावना
५. जीतसारसमुच्चय हेमनाभ प्रकरण श्लोक १०-१४
६. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार ७/२५
७. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार ७/३०
८. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार ७/३१, त.सूत्र ७/३१
९. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार ७/३४
१०. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार ७/३५
११. रत्नकरण्डश्रावकाचार श्लोक ९०
१२. तत्त्वार्थ श्लोकवार्तिकालंकार ७/३६

शोध अध्येता, जैन विश्वभारती विश्वविद्यालय,
लाडनूं जि. नागौर (राज.)

पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' की जैन साहित्य को देन

ललितशर्मा

झालरापाटन निवासी (वर्तमान झालावाड़ जिला, राजस्थान) पं. गिरिधर शर्मा, 'नवरत्न' भारतीय हिन्दी साहित्य में द्विवेदी युग के एक ऐसे स्वनामधन्य व्यक्तित्व थे, जो न केवल एक राष्ट्रीय साहित्यकार थे, वरन् वे एक श्रेष्ठ अनुवादक और बहुभाषा की पाण्डित्य परम्परा का निर्वहन करने वाले सच्चे राष्ट्रभक्त थे।

अपने जीवन काल में (१८८१ ई. से १९६१ ई.) उन्होंने लगभग १२५ ग्रन्थों का प्रणयन किया। उन्होंने भारत की अनेक भाषाओं को हिन्दी भाषा से जोड़ने में विलक्षण भूमिका का निर्वहन किया। आजीवन हिन्दी के उत्थान में समर्पित रहे, पं. नवरत्न ने जैनधर्म के अनेक मूल ग्रन्थों तथा धार्मिक, आध्यात्मिक साहित्य के भी ऐसे अनुवाद किये कि विद्वानों ने एक राय से उनके इन कार्यों की मुक्त कंठ से प्रशंसा की। पं. नवरत्न द्वारा अनुदित जैन साहित्य की यह निधि बरसों से भारतीय जैन परम्परा में अल्पज्ञात व अनुपलब्ध ही रही। अतः उन पर कोई शोध कार्य भी नहीं हो पाया। पं. नवरत्न की जैन साहित्य को ऐसी अद्भुत देन है जो जैन साहित्य के शोध संसार में एक महत्वपूर्ण सामग्री साबित हो सकती है जो प्रस्तुत लेख में निबद्ध किया गया है।

विद्वान् डॉ. नरेन्द्र भानावत ने पं. नवरत्न की जैन रचनाओं के अनुदित कार्यों की पूर्व में सुन्दर समीक्षा की।^१ पं. नवरत्न की मूल उपलब्ध जैन साहित्य विषयक अनुदित सामग्री व उक्त समीक्षा को आधार बनाकर लेखन करना ही इस लेख का अभीष्ट है। पं. नवरत्न की जैन अनुदित कुछ मूल रचनाएँ इस लेख के लेखक के पास भी सुरक्षित हैं जो उसे पं. नवरत्न के प्रकाशन सहयोग व उद्योगपति परिवार सेठ बिनोदीराम बालचन्द्र (बिनोद भवन, झालरापाटन) के वर्तमान निदेशक सेठ सुरेन्द्र कुमार सेठी - निखिलेश सेठी के निजी प्राचीन विशाल पुस्तकालय से प्राप्त हुई है।^२

पं. नवरत्न कृत इन सभी जैन रचनाओं के अध्ययन व प्राप्त जानकारी से ज्ञात होता है कि झालावाड़ राज्य के राजगुरु पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' का गुजरात और राजस्थान से विशेष सम्बन्ध रहा है। ये प्रदेश जैन संस्कृति और साहित्य के प्रमुख केन्द्र हैं। इन प्रदेशों में जैन आचार्यों और मुनियों की बड़ी संख्या रही है और आज भी है। इन आचार्यों, मुनियों ने विविध भाषाओं को काव्य रूपों में बहुआयामी साहित्य की रचना की तथा बड़े सम्मान के साथ उदारवादी भावना से भारतीय साहित्य की बहुमूल्य विरासत का संरक्षण किया। भारत में जैन धर्म के जितने हस्तलिखित ग्रन्थ भण्डार राजस्थान और गुजरात में हैं उतने कहीं अन्यत्र नहीं हैं। इन भण्डारों में न केवल जैन साहित्य सुरक्षित संग्रहीत है वरन् जैनतर साहित्य की दुर्लभ प्रतियाँ यहाँ पूर्ण सम्मान सहित संरक्षित हैं। पं. नवरत्न के जन्म स्थान झालरापाटन में जैन साहित्य का विशाल भण्डार श्री शांतिनाथ दिगम्बर जैन मन्दिर के ऐलक पन्नालाल पुस्तकालय तथा सेठ बिनोदीरामजी की लायब्रेरी से हजारों की संख्या में आज भी पठनीय है। इसका अध्ययन व स्वाध्याय बिनोद भवन, झालरापाटन से अनुमति लेकर किया जा सकता है।

विश्वसनीय सूत्रों से ज्ञात होता है कि पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' का जैन आचार्यों, तपस्वी मुनियों से प्रत्यक्ष और प्रगाढ़ सम्बन्ध रहा है तथा संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि भाषाओं में सृजित जैन साहित्य की समृद्ध परम्परा से न केवल वे सुपरिचित थे वरन् इस विशाल साहित्य संसार का उन्होंने चिंतन, मनन और भावनात्मक हृदय से मंथन भी किया था। स्थानकों, मंदिरों, उपाश्रयों में होने वाले धार्मिक अनुष्ठानों व पूजा विधि विधानों से भी उनका परिचय रहा। वे जैन आचार्यों को नियमित रूप से स्वाध्याय करते और भक्तिमग्न हो 'भक्तामर स्तोत्र' व 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' का पाठ करते देखते सुनते तथा जैन श्रावकों को त्याग-प्रत्याख्यान एवं व्रत ग्रहण करते देखते थे। उन्होंने फिर जन-जन में जैन धर्म के साहित्य को प्रसारित करने हेतु इस धर्म की उपासना, साधना में प्रयुक्त होने वाले स्तुति व नीतिकाव्यों का सरल व सुबोध शैली में हिन्दी भाषा में पद्यानुवाद किया जो भारतीयों का कण्ठहार बना और आज तक भी बना हुआ है।¹

पं. नवरत्न कृत जैनधर्म, दर्शन से सम्बद्ध जो श्रेष्ठ संस्कृत, प्राकृत ग्रंथानुवाद हैं वे यद्यपि सम्पूर्ण रूप में हमें अनेक लम्बे प्रयासों के बाद भी उपलब्ध नहीं हो पाये हैं। परन्तु पुस्तकालयों से हमें जो जैनग्रंथ सामग्री व उनकी मौलिक जैन रचनाएँ मिली उनके आधार पर जैनधर्म, दर्शन से सम्बद्ध पं. नवरत्न द्वारा रची रचनाओं का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।²

(प्रकाशित) - १. भक्तामर स्तोत्र (हिन्दी पद्यानुवाद) २. कल्याण मंदिर स्तोत्र (हिन्दी पद्यानुवाद) ३. रत्नकरण्डश्रावकाचार ४. बारह भावना ५. जैन स्तवरत्नमाला ६. एकीभाव ७. विषापहारहारस्तोत्र एवं ८. भूपाल चौबीसा।

(अप्रकाशित) - १. श्री भक्तामर समस्या पूर्ति (संस्कृत) २. सुक्ति मुक्तावली (हिन्दी काव्य) ३. श्री कल्याण मंदिर (समस्या पूर्ति संस्कृत) ४. सभारंजन स्तोत्र ५. सामयिक सर्वतीर्थकर स्तवन।

पं. नवरत्न द्वारा प्रणीत उक्त कृतियों में प्रथमतया जैन भक्ति परक रचनाओं में उन्होंने साकार उपासना रूप में तीर्थकरों की स्तुति की है। प्रथम तीर्थकर स्वामी आदिनाथ या ऋषभदेव है। 'भक्तामर स्तोत्र' में इन्हीं की भावभरी स्तुति है। इस काव्य में स्वामी आदिनाथ के गुण-निष्पन्न व्यक्तित्व का अनूठा उदाहरण है और हर एक तीर्थकर (वीतराग देव) पर समान रूप से लागू होता है।

मूल रूप से इस स्तोत्र के रचियता जैन आचार्य मानतुंग थे तथा वे विक्रम की ७वीं सदी में थे। इतिहास के कुछ विद्वान उन्हें ११वीं सदी का भी बताते हैं। इस रचना के पीछे की एक रोचक किंवदन्ती इस प्रकार है कि - उज्जैन में राजा भोज के दरबार में मयूर भट्ट व बाण भट्ट नामक दो कवि विद्वान थे। इस राजा ने राजसभा में इन दोनों कवियों की प्रशंसा करते हुए यह चुनौती दी कि इनके समान कोई भी चमत्कारी विद्वान कवि यहाँ नहीं है। सभा में बैठे एक जैन श्रावक ने इसका प्रतिवाद करते हुए स्पष्ट कहा कि 'राजन' इसी नगरी में जैन आचार्य मानतुंग है, यदि आप उन्हें आमंत्रण करें तो वे अपने धर्म की प्रभावना के लिए विशेष चमत्कार दिखा सकते हैं। राजा ने उन्हें आमंत्रित कर उन्हीं के आदेश पर उन्हें एक अंधेरे कमरे में बन्द ४८ ताले जड़ दिये। मुनि मानतुंग ने फिर अपने हृदय कमल में स्वामी आदिनाथ को स्थापित कर उनसे अपना आत्म तादात्म्य जोड़ा और भक्ति रस के डूब कर ४८ श्लोकों की रचना की। ऐसा कहा जाता है कि एक-एक श्लोक उनके श्रीमुख से जैसे-जैसे उच्चारित होता गया वैसे-वैसे एक-एक ताला टूटता गया इस प्रकार आचार्य मानतुंग बन्धन से मुक्त हुये और उनके चमत्कार से जैनधर्म की विशेष प्रभावना हुई।

पं. नवरत्न ने इसी भक्तामर स्तोत्र को ही इसके मूल छंद वसंततिलका में अपना हिन्दी अनुवाद किया जो अत्यन्त हृदयग्राही, बोधगम्य तथा मूल भावना से भरा है। प्रारंभ के दो मूल छन्द व उनका हिन्दी अनुवाद देखें।³

भक्तामर-प्रणत-मौलि-मणि प्रभाणा-
 मुद्योतकं दलित-पाप-तमोवितानम्।
 सम्यक्प्रणम्य जिन पादयुगं युगादा-
 वालम्बनं भव जले पततां जनानाम्॥१॥
 हे भक्त-देव-नत-मौलि-मणिप्रभा के
 उद्योतकारक, विनाशक पाप के हैं,
 आधार जो भवपयोधि पड़े जनों के,
 अच्छीतरा नमन कर प्रभु के पदों की॥१॥
 यः संस्तुतः सकल-वाङ्मय-तत्त्वबोधा-
 दुद्भूत-बुद्धि-पटुभिः सुर-लोक-नाथै।
 स्तोत्रैर्जगत्त्रियं-चित्तहरैरुदारैः
 स्तोष्ये किलाहमपि तं प्रथमं जिनेन्द्रम्॥२॥
 श्री आदिनाथविभु की स्तुति मैं करूँगा,
 की देवलोकपतिने स्तुति है जिन्हों की
 अत्यन्त सुन्दर जगत्त्रय-चित्तहारी
 सुस्तोत्र से, सकल शास्त्र रहस्य पाके॥२॥

४८ छन्दों का यह स्तुति काव्य भारतीय जैन धर्म साहित्य के इतिहास में अपने साहित्यिक
 सौन्दर्य के लिए अनूठा माना जा सकता है। इसमें वीतराग देव के अनन्त सौन्दर्य एवं तेज का
 प्रभावी वर्णन है। पं. नवरत्न ने इसमें जगह-जगह पर व्यतिरेक अलंकारों द्वारा वीतराग प्रभू को
 चन्द्र, सूर्य, समुद्र, कमल, पर्वत व दीप आदि रूपकों से सम्बद्ध करते हुए उनके अप्रतिम वैशिष्ट्य
 को संजोया है। वीतराग देव ब्रह्म, ईश्वर, योगीश्वर व शुद्ध चैतन्यादि है। इसी भाव का मूल पाठ
 और उसका पं. नवरत्न कृत अनुवाद पठन योग्य है।

त्वामव्ययं विभुमचिन्त्य-मसंख्यमाद्यं,
 ब्रह्माण-मीश्वरमनन्तमनङ्गकेतुम्।
 योगीश्वरं विदित-योग-मनेकमेकं,
 ज्ञानस्वरूपममलं प्रवदन्ति सन्तः॥२४॥
 योगीश, अव्यय, अचिन्त्य, अनङ्गकेतु,
 ब्रह्मा, असंख्य, परमेश्वर, एक नाना,
 ज्ञान स्वरूप, विभु, निर्मल, योगवेत्ता,
 त्यों आद्य, संत तुझको कहते अनन्त॥२४॥

वीतराग देव में ज्ञानगुण का पूर्ण रूप है अतः वे शान्त व शंकर है। वे मोक्षमार्गीय विधाता ब्रह्मा व सद्गुणी रूपी विष्णु पुरुषोत्तम मान्य है। इसी आशय भाव का मूल पाठ व अनुवाद देखें :-

बुद्धस्त्वमेव विबुधार्चित-बुद्धिबोधात्-
त्वं शंकरोऽसि भुवन-त्रय-शंकरत्वात्।
धातासि धीर शिवमार्गविधेर्विधानात्-
व्यक्तं त्वमेव भगवन् पुरुषोत्तमोऽसि ॥२५॥
तू बुद्ध है विबुध-पूजित बुद्धिवाला,
कल्याण कर्तृवर शंकर भी तुही है॥
तू मोक्ष मार्ग विधि कारक है विधाता,
है व्यक्त नाथ, पुरुषोत्तम भी तुही है ॥२५॥

इस स्तोत्र में तीर्थंकर देव के ज्ञान, पूजा सहित अतिशयों व अशोक वृक्ष, स्फटिक सिंहासन, भामण्डल आदि अष्टप्रातिहार्यों का वर्णन २८ से ३६ तक के छन्दों में बड़ा प्रभावी है। देखिये छत्रत्रय प्रातिहार्य के वर्णन का मूल पाठ व उसका अनुवाद :-

छत्र-त्रयं तव विभाति शशाङ्ककान्त-
मुच्चैः स्थितं स्थगितभानुकरप्रतापम्।
मुक्ता-फल-प्रकरजालविवृद्ध-शोभं,
प्रख्यापयत् त्रिजगतःपरमेश्वरत्वम् ॥३१॥
मोती मनोहर लगे नभ में सुहाते,
नीके हिंमाशुसम, सूरजतापहारी-
हैं तीन छत्र शिर पै अतिरम्य तेरे,
जो तीन लोकपरमेश्वरता बताते ॥३१॥

जैन दर्शन में धर्म का मूलाधार विनय माना गया है। भक्ति के भावों से सराबोर हो कवि फिर प्रभू की महत्ता को खूब बढ़ा कर वर्णित करता है। जैनाचार्य मानतुंग ने भी इसी आशय से काव्यात्मक वर्णन किया है। वे जब भक्ति में लय हो जाते हैं तब उनकी सारसी बेड़ियाँ, ताले टूटते जाते हैं। पं. नवरत्न ने उसी भाव का जीवन्त रूप से इस प्रकार छन्द में किया :-

आपाद-कण्ठ-मुरू शृंखल-वेष्टिताङ्गाः
गाढं वृहन्निगड-कोटि-निघृष्ट-जंघाः।
त्वन्नाममंत्रमनिशं मनुजाः स्मरन्तः,
सद्यःस्वयं विगत-बन्ध भया भवन्ति ॥४६॥
सारा शरीर जकड़ा दृढ़ सांकलों से,
बेड़ी पड़े छिल गई जिनकी सुजांघें,
त्वन्नाम-मंत्र जपते-जपते उन्हीं के,
जल्दी स्वयं झड़ पड़े सब बन्ध बेड़ी ॥४६॥

समासव्यास पद्धति से उन्होंने 'कल्याण मंदिर स्तोत्र' का भी अनुवाद किया जिसके आरम्भिक २ मूल छन्द व उनका किया गया अनुवाद भी यहां प्रस्तुत है। इस मूल स्तोत्र की रचना ५वीं सदी के विद्वान आचार्य सिद्धसेन दिवाकर द्वारा मानी जाती है। इस स्तोत्र में उन्होंने तीर्थंकर पार्श्वनाथ का गुण कीर्तन ४४ वसन्ततिलका छन्दों में किया तथा उसमें तीर्थंकर पार्श्वनाथ को भय विनायक, कल्याणधाम एवं कमठ का मानमर्दक बताया। पं. नवरत्न ने इसी मूल भाव को अनुदित किया जिसके ३ छन्द मूल रूप में भी यहां दृष्टव्य हैं -

कल्याण मन्दिरमुदारमवद्यभेदि-
भीताभयप्रदमनिन्दितमाङ्गप्रिपद्म।
संसार-सागर-निमज्जदशेषजन्तु-
पोतायमानमभिनम्य जिनेश्वरस्य ॥१॥
कल्याण-धाम, भय-नाशक पापहारी,
त्यो है जहाज भव सिन्धु पड़े जनों के।
निन्दाविहीन अति सुन्दर सौख्यकारी,
पादारविन्द प्रभु के नम के उन्हीं को ॥१॥
यस्य स्वयं सुरगुरुर्गरिमाम्बुराशेः -
स्तोत्रं सुविस्तृतमतिर्न विभुर्विधातुम्।
तीर्थेश्वरस्य कमठस्मयधूमकेतो -
स्तस्याहमेष किल संस्तवनं करिष्ये ॥२॥
श्रीपार्श्वनाथ विभु का स्तव मैं रचूँगा,
जो नाथ हैं कमठ विघ्न-विनाशकर्ता।
त्यो है अशक्त जिनके स्तंभ को बनाने,
अत्यन्त वृद्धिधन भी गुरु भी सुरों का ॥२॥

पं. नवरत्न ने अष्टप्रातिहारियों का वर्णन १९ से २६ तक के छन्दों में किया। इसमें उन्होंने अशोक व प्रबोध का श्लिष्ट प्रयोग भी किया। देखें :-

धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा -
दास्तां जनो भवति ते तरुप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि
किं वा विबोध मुपयाति न जीवलोकः ॥१९॥
धर्मोपदेश करता जब तू, जनों की
क्या बात नाथ! बनता तरु भी अशोक।
होता प्रकाश जब सूरज का नहीं क्या,
पाता प्रबोध तरुसंयुत जीवलोक ? ॥१९॥

प्रस्तुत अनुवाद में पं. नवरत्न ने तीर्थंकर पार्श्वनाथ के अनन्त चतुष्टय के वर्णन में भी अपना विनम्र भाव अभिव्यक्त किया है। उन्होंने इसमें तीर्थंकर के वैशिष्ट्य के कई व्यंजक दिये। उन्होंने छन्द ३९ का जो सुन्दर अनुवाद किया वह देखें -

त्वं नाथ ! दुःखजनवत्सल ! हे शरण्य !

कारुण्यपुण्यवसते ! वशिनां वरेण्य !

भक्त्या नते मयि महेश! दयां विधाय-

दुःखांकुरोद्दलनतत्परतां विधेहि॥३९॥

हे दीनबन्धु ! करुणाकर ! हे शरण्य !

स्वामिन् ! जितेन्द्रिय ! वरेण्य ! सपुण्यधाम !

मैं भक्ति से प्रणत, हूँ करके दया तू,

हे नाथ! नाश कर दे सब दुःख मेरे॥३९॥

जैन आचार्यों ने पूर्वकाल में विविध संज्ञक नीति काव्यों की सुन्दर रचनाएँ की जो धर्म, पूजा, संघ, अहिंसा, सत्य, दान, तप आदि से सम्बन्धित तथा जीवनोपयोगी रही। पं. नवरत्न ने ऐसी कई मूल रचनाओं के अनुवाद भी किये जो जैन साहित्य में मील के पत्थर साबित हो सकते थे, परन्तु खेद है कि वे तब से अब तक अधिकांशतः अप्रकाशित ही रहें। अप्रकाशन रूप के ये दुर्लभ दस्तावेज हमें विनोद भवन, झालरापाटन के प्राचीन पुस्तकालय में निखिलेश सेठी ने अध्ययनार्थ अवलोकन कराये थे। प्रारम्भिक छन्द में तीर्थंकर पार्श्वनाथ के श्रीचरणों की भावभरी स्तुति आशीर्वाद प्राप्त करने हेतु मंगलाचरण के रूप में है। देखिये मूल छन्द तथा अनुवाद का एक उदाहरण :- (शार्दूलविक्रीड़ित)

सिन्दूरप्रकरस्तपः करि शिरः क्रोडे कपायाटवी-

दावोर्चिर्निचयः प्रबोधदिवसप्रारंभसूर्योदयः

मुक्तिस्त्रीकुचकुम्भकुङ्कुमरसः श्रेयस्तरा पल्लव-

प्रोल्लासः क्रमयोर्नखद्युतिभरः पार्श्वप्रभौःपातु वः॥१॥

श्री सिन्दूरप्रकर तपस्या-करि के सिर का

दावानल का निचय कषायों के जंगल का

शुचि प्रबोध के दिन के प्रारम्भ का रवि अनुपम

वर कुमकुमरस मुक्ति स्त्री के उरोजघट का

परम मनोहर अतिशय सुन्दर विमल कीर्तिदा

अभिनव पल्लव निःश्रेयसमय शुचि तरुवर का

पार्श्व प्रभु की पदनखततिका द्युतिभर गिरिधर

रक्षाकर्ता होय हमारा, त्रिभुवन-जन का।

पं. नवरत्न ने इसी क्रम के छन्द २५, २६ में अहिंसा महात्म्य का सुन्दर अनुवाद करके दर्शाया कि अहिंसा स्वर्ग की नसैनी है। इस छन्द के अनुसार स्वयं पं. नवरत्न ने अपने नाम 'गिरिधर' शब्द का प्रयोग किया है :-

क्रीड़ाभूः सुकृतस्य दुष्कृतरजः संहारवात्या भवो-
 दन्वन्नौर्व्यसनाग्निमेधपटली संकेतदूती श्रियाम्
 निःश्रेणिस्त्रिदिवौकसः प्रियसखी मुक्तेः कुगत्यर्गला
 सत्त्वेषु क्रियतां कृपैव भवतु क्लेशेशेषैः परैः॥२५॥

सुकृत बिहारमही दुष्कृत-रज हरण वात्यका
 भवनिधि नव व्यनाग्नि घटा श्री मर्म दूतिका
 स्वर्गनिसेनी मुक्ति सहचरी अनुपम गिरिधर
 परम दयामय लसे अहिंसा मति प्रसूति का
 यदि ग्रावा तोये तरति तरणिर्यद्युदयते,
 प्रतीच्यां सप्तार्चिर्यदि भजति शैत्यं कथमपि
 यदि क्षमापीठं स्यादुपरि सकलस्यापि जगतः,
 प्रसूते सत्त्वानां तदपि न वधः क्वापि सुकृतम्॥२६॥

पत्थर भी तर जाय उगे रवि भी पश्चिम में
 शीतलता छा जाय भले ही ज्वलित अनल में,
 नभ नीचे हो जाय भूमि त्यों ऊपर गिरिधर
 तो भी हिंसा परिणत होगी नहीं सुकृत में॥२६॥

जैन धर्म ज्ञान व क्रिया पर समान बल देता है। जैन दर्शन में ज्ञान रहित क्रिया अंधी व क्रिया रहित ज्ञान को लंगड़ा माना गया है। ज्ञान व क्रिया की सम्यक अनुपालना से ही मुक्ति मिलती है। जैन आगमों में 'उपासक दशांग' सूत्र श्रावक धर्म प्रतिपादन करने वाला माना जाता है। 'रत्नकरण्ड श्रावकाचार' एक संस्कृत जैन काव्य है जो जैनाचार्य समन्तभद्र द्वारा रचित प्राचीन ग्रन्थ है। जैनाचार्य प्रभाचन्द्र ने भी एक संस्कृत टीका लिखी थी। इसके सात परिच्छेदों में जैन आचारों के साथ ४ शिक्षाव्रत व ११ प्रतिमाओं का वर्णन है। पं. नवरत्न ने इस ग्रन्थ का बड़ा सरल, सुबोध अनुवाद क्रिया, जिससे श्रावकों के व्रत रहस्य व मूल तत्व आसानी से समझे जा सकते हैं। इसका एक छन्द सानुवाद देखें जिसमें तपस्वी का लक्षण निहित है :-

विषयाशावशातीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।

ज्ञानध्यानतपोरक्ताःतपस्वी सःप्रशस्यते॥१/१०॥

विषय छोड़कर निरारम्भ हो, नहीं परिग्रह रखें पास।

ज्ञान ध्यान तप में रत होकर, सब प्रकार की छोड़ें आस।

ऐसे ज्ञानध्यानतपभूषित, होते जो सांचे मुनिवर।

वही सुगुरु है वही सुगुरु हैं, वही सुगुरु हैं उज्ज्वलतर॥१/१०॥

सम्यक् चारित्र का स्वरूप निम्नांकित छन्द में देखिये -

मोहतिमिरापहरणे दर्शनलाभादवाप्तसंज्ञानः।

रागद्वेष निवृत्तै चरणं प्रतिपद्यते साधुः॥३/१॥

मोहतिमिर के दूर हुएसे, सम्यग्दर्शन पाता है।
 उसको पाकर साधु समकिती, श्रेष्ठ ज्ञान उपजाता है।
 फिर धारण करता है शुचितर, सुखकारी सम्यक्चारित्र।
 रहे राग ज्यों नहीं पास कुछ, और द्वेष नस जावे मित्र॥

संलेखना अर्थात् समाधिमरण का स्वरूप देखिये -

उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रूजायाँ च निःप्रतीकारे।
 धर्माय तनुविमोचनामाहुः सल्लेखनामार्याः॥६/१॥
 आ जावे अनिवार्य जरा, दुष्काल, रोग या कष्ट महान्।
 धर्म हेतु तब तन तज देना, सल्लेखनामरण सो जान॥
 अन्त समय का सुधार करना, यही तपस्या का है फल।
 अतः समाधिमरणहित भाई, करते रहो प्रयत्न सफल॥६/१॥

जैन दर्शन में भावना को अधिक महत्व दिया गया है। जैन शास्त्रों में १२ भावनाओं का वर्णन आता है। ये भावनाएँ अनित्य, अशरण, संसार, एकत्व, अन्यत्व, अशुचि, आश्रव, संवर, निर्जरा, लोक बोधिदुर्लभ और धर्म है। पं. नवरत्न के इन्हीं भावनाओं को ध्यान में रखकर कवित्त छन्द में अनित्य भवना और अन्तिम धर्म भावना के उदाहरण यहाँ दृष्टव्य हैं -

अनित्य भावना

देह गेह सृजने में लगे क्या हो गिरिधर,
 देह गेह जीवन अनित्य सब मानिये।
 पीपल के पान सम कुंजर के कान सम,
 बादी की छांह सम इन्हें चल जानिये।
 बिजली की चमक सी पानी के बुदबुद सी,
 इन्द्र के धनुष सी ये सम्पत्ति प्रमानिये।
 दया दान धर्म में लगाके इसे भली भाँति,
 धारिये परोपकार सुख मन आनिये॥

धर्म भावना

बाहरी दिखावटों को रहने न देता कहीं,
 सारे दोष दूर कर सुख उपजाता है।
 काम क्रोध लोभ मोह रागद्वेष माया मिथ्या,
 तृष्णा मदमान मल सबको नसाता है।
 तन,मन,वाणी को बनाता है विशुद्ध और,
 पतित न होने देता, ज्ञान प्रकटाता है।
 गिरिधर धर्म प्रेम एक सत्य जग बीच,
 परमात्म तत्व में जो सहज मिलाता है।

फिर धर्म साधना में भावना रूप प्रार्थना अति विशिष्टता लिये होती है। प्रार्थनापाठ में अहम् का त्याग कर परमतत्त्व के साथ तादात्म्य स्थापित कर तद् रूप होने का भाव जाग्रत होता है। पं. नवरत्न ने 'अन्तलालसा' नाम से बारह छन्द रचे जो जैनधर्म में बड़े लोकप्रिय हैं।

इसी के उदाहरण देखिये :-

जो अति निर्मल परम ज्योति है, मुक्ति मार्ग का नेता है।
 अतुल अनन्त शक्तिशाली है, कर्म मात्र का जेता है।
 जो है विश्वतत्त्व का ज्ञाता, नयवाली जिसकी वाणी।
 उसको, उसके गुण पाने को नमकर मैं जोड़ूँ पाणी।
 सद्गुरु ही है मेरे तो प्रभु तीर्थ-देव, आदर्श सभी
 उनका अनुगामी होने में, मैं रक्खूँ न प्रमाद कभी
 है अनन्त गुण उनके उनको सब प्रकार उर धारूँ मैं।
 एक यथार्थवादिता पर ही सबस बपना बारू मैं॥

इस प्रकार उपरोक्त विवेचन से यह स्पष्ट होता है कि महान राष्ट्रीय साहित्यकार पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' का जैन धर्म, दर्शन से बड़ा गहरा सम्बन्ध था। यद्यपि आज पं. नवरत्न हमारे मध्य नहीं हैं परन्तु उनके ये अनुवाद जैन धर्म के सारस्वत साहित्य भण्डारों की अमूल्य निधि हैं जिनमें उनकी आत्मा की अनुगूँज है।

संदर्भ :

1. पं. गिरिधर शर्मा 'नवरत्न' का साहित्य और मूल्यांकन (अखिल भारतीय प्रबुद्ध परिचर्चा स्मारिका-१९८६ झालावाड़) सं. मथुरा नन्दन कुलश्रेष्ठ पृ. ४३ पर डॉ. नरेन्द्र भानावत के शोध पत्र से
2. निखिलेश सेठी (वंशज फर्म सेठ बिनोदीराम बालचन्द-बिनोद भवन, झालरापाटन) के निजी पुस्तकालय के सौजन्य से।
3. शर्मा ललित - 'झालावाड़ इतिहास, संस्कृति, पर्यटन' ग्रन्थ के अध्याय 'हिन्दी सेवी नगर और पं. नवरत्न' पार्ट I"
4. चतुर्वेदी युगल किशोर - नवरत्न काव्य शतक, पृष्ठ ३
5. बिनोद भवन, के उक्त पुस्तकालय के संवत् १९९८ की सामग्री।
6. जैन वीरेन्द्र कुमार, देवेन्द्र कुमार - श्री सन्मति कुटीर, चन्द्रावाड़ी, मुम्बई का संग्रह संवत् २०१६ से
7. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, सं. १९७२ का संग्रह।
8. पं. नवरत्न का शेष साहित्य लेखक के निजी संग्रह में सुरक्षित है।

जैकी स्टूडियो,
 १३, मंगलपुरा,
 झालावाड़ (राजस्थान) ३२६००१

वीर सेवा मन्दिर में आयोजित आचार्य जुगल किशोर 'मुख्तार' स्मृति-व्याख्यानमाला प्रतिवेदन

‘वीर सेवा मन्दिर’ दरियागंज, नई दिल्ली, देश की एक प्रमुख जैन शोध संस्था है, जिसकी स्थापना आचार्य पं. जुगल किशोर ‘मुख्तार’ ने सन् १९२९ में की थी। आपकी स्मृति में २३ दिसम्बर, २०१२ को एक राष्ट्रीय व्याख्यानमाला विषय “जैनधर्म और विज्ञान” पर संस्था के सभागार में आयोजित की गई, जिसमें आमंत्रित वैज्ञानिकों ने एक मत से स्वीकार किया कि जैनागमों में वर्णित विभिन्न सिद्धान्त वर्तमान में वैज्ञानिकों द्वारा खोजे जा रहे सिद्धान्तों के समकक्ष हैं। समारोह की अध्यक्षता न्यायमूर्ति माननीय अभय गोहिल जी ने की।

व्याख्यानमाला के प्रारम्भ में डॉ. नीलम जैन गुडगाँव, जो अभी-अभी तीन माह अमेरिका में सम्पन्न धार्मिक समारोहों में सहभागिता करके लौटी हैं, ने पं. ‘मुख्तार’ साहब के व्यक्तित्व एवं कृतित्व पर प्रकाश डालते हुए उन्हें चिन्तन का धनी एवं जैन वाङ्मय पर शोध कार्य करने वाला बताते हुये कहा कि उनकी कविता ‘मेरी भावना’ की विदेशों में भी गूँज हो रही है। जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर में वानस्पतिक विभागाध्यक्ष प्रो. डॉ. अशोककुमार जैन ने “जैनधर्म एवं पर्यावरण” पर मार्मिक व्याख्यान दिया। उन्होंने कहा कि वैक्टोरिया जैसे सूक्ष्मजीव प्रकृति सन्तुलन में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। जैनागमों में इन सूक्ष्म जीवों की रचनाओं को बहुत पहले से ही परिभाषित किया हुआ है तथा इनके संरक्षण हेतु मानव जीवन की क्रियाओं को नियन्त्रित किया गया है। उन्होंने श्रावकाचार व श्रमणाचार के सन्दर्भ में विभिन्न पहलुओं पर जानकारी देते हुए कहा कि जैनागमों में निहित विभिन्न प्रसंग एवं मान्यतायें वर्तमान कालीन विज्ञान की जन्मदाता हो सकती हैं। इन पर शोध किया जाना चाहिए।

इसके पश्चात् डी.आर.डी.ओ. रक्षा विभाग से सेवानिवृत्त वैज्ञानिक डॉ. एम. बी. मोदी का “वैज्ञानिक भगवान महावीर” पर प्रभावी भाषण हुआ। उन्होंने कहा कि विश्व के निर्माण में जीव-अजीव द्रव्यों की एक प्राकृतिक शाश्वत परन्तु परिवर्तनशील व्यवस्था है। इसी कड़ी में उन्होंने समयसार, पञ्चास्तिकाय, प्रवचनसार और तत्त्वार्थसूत्र में निहित विभिन्न सूत्रों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को बताया। यह ईश्वर द्वारा निर्मित नहीं है। भगवान महावीर को विश्व का प्रथम वैज्ञानिक बताते हुए कहा कि उन्हीं के सिद्धान्तों को आइन्स्टीन, बोहर, मैक्सबोर्न, डीब्रोली आदि अनेक वैज्ञानिकों ने विज्ञान जगत में स्थापित कर १९८५ के बाद नोबेल पुरस्कार प्राप्त किये।

इसके पश्चात् वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित दो पुस्तकों - समीचीन धर्मशास्त्र जो कि आचार्य समन्तभद्र स्वामी विरचित रत्नकरण्डश्रावकाचार की टीका है जिसे आचार्य पं. जुगल किशोर ‘मुख्तार’ ने लिखा है। समाज के स्वाध्याय प्रेमियों की विशेष मांग होने पर इसका द्वितीय संस्करण, का एवं चतुर्थ जेवनहीजे जो कि आचार्य अमितगति द्वारा रचित सामायिक पाठ अंग्रेजी अनुवाद सहित, का तथा तीसरी पुस्तक- “जैनधर्म का वैज्ञानिक चिन्तन” (लेखक- प्राचार्य निहालचंद जैन, निदेशक वीर सेवा मन्दिर) का विमोचन न्यायमूर्ति माननीय अभय गोहिल

(समारोह अध्यक्ष) श्री सुभाष जैन (अध्यक्ष वीर सेवा मन्दिर), श्री निर्मल किशोर जैन (पद्म किशोर जैन चेरिटेबल ट्रस्ट) के द्वारा किया गया।

समारोह अध्यक्ष न्यायमूर्ति माननीय अभय गोहिल जी ने अपने अध्यक्षीय भाषण में जैनधर्म और विज्ञान विषय में शोध की अपार संभावनाओं की बात कही। उन्होंने कहा कि चिन्तन का विषय जैनधर्म की वैज्ञानिकता को सिद्ध करने का नहीं अपितु हमारे आगमों से निहित वैज्ञानिक दृष्टिकोण को ध्यान में रखते हुए विभिन्न विषयों पर शोध किया जाना आवश्यक है। इन्हीं विचारधाराओं से जैनदर्शन के अनेकान्त सिद्धान्त ने जन्म लिया, जिसकी आज व्यापक रूप से स्वीकारिता है। व्याख्यानमाला में आये हुए वक्ताओं और श्रोतागणों को उन्होंने इस चिन्तन की शुरुआत के लिये बधाई दी तथा व्याख्यानमाला में प्रस्तुत किये गये व्याख्यानों के वैज्ञानिक दृष्टिकोण को उजागर करने हेतु आमंत्रित किया।

कार्यक्रम का प्रारम्भ भगवान महावीर के चित्र अनावरण, दीप प्रज्वलन एवं ध्वजारोहण मंचस्थ विभूतियों और वीर सेवा मन्दिर के पदाधिकारियों द्वारा किया गया। जिनवाणी की पूजन एवं मंगलाचरण पं. आलोक कुमार जैन (उपनिदेशक) ने किया। समारोह अध्यक्ष एवं आमंत्रित जैन वैज्ञानिकों का स्वागत वीर सेवा मन्दिर के महामंत्री एवं मंत्री ने तिलक एवं माल्यार्पण द्वारा किया। श्रीमती गोहिल एवं डॉ. नीलम जैन का सम्मान माल्यार्पण और तिलक लगाकर श्रीमती नन्दिनी जैन एवं श्रीमती रानू जैन ने किया। संस्था अध्यक्ष श्री सुभाष जैन ने संस्था का परिचय एवं उद्देश्य बताये। महामंत्री श्री विनोद कुमार जैन ने स्वागत भाषण प्रस्तुत किया।

कार्यक्रम का संचालन प्रो. डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर, संपादक 'अनेकान्त' ने किया। मंत्री श्री योगेश जैन ने उपस्थित सभी महानुभावों का आभार व्यक्त किया। शोध उपसमिति के संयोजक माननीय सदस्य श्री रूपचंद कटारिया द्वारा जिनवाणी स्तुति के साथ कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। इस समारोह में देश के गणमान्य विद्वान, वीर सेवा मन्दिर के पदाधिकारीगण, प्रबुद्ध समाज श्रेष्ठी पधारे जिनमें प्रमुख- सर्वश्री प्रो. एम. एल. जैन (संपादक मण्डल अनेकान्त), धर्मभूषण जैन एफ.सी.ए., डॉ. नरेन्द्र कुमार जैन गाजियाबाद, डॉ. रमेश चन्द्र जैन बिजनौर, डॉ. सुरेश चन्द्र जैन, प्रदीप जैन, डॉ. अनेकान्त जैन (ला. ब. शा. रा. सं. विद्यापीठ), धनपालसिंह जैन एवं श्रीकिशोर जैन (नैतिक शिक्षा समिति), डॉ. रजनीश शुक्ल, डॉ. अनिल गुप्ता (सेवानिवृत्त वैज्ञानिक- डी.आर.डी. ओ. रक्षा विभाग), अनिल जैन (राजधानी पेपर), डॉ. मुकेश जैन, पं. सोनल जैन, आचार्य अशोक 'सहजानंद' आदि उपस्थित थे।

योगेश जैन
मंत्री

विनोद कुमार जैन
महामंत्री

(नोट : व्याख्यानमाला की चित्रमय झलकियाँ कवर पृष्ठ २ एवं ३ पर देखें)

अनेकान्त

ANEKANT

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली
(प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना)
प्रो. डॉ. राजाराम जैन-नौयडा
प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ
प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर
प्रो. डॉ. श्रेयांशकुमार जैन, बड़ौत
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Director-Vir Sewa Mandir-New Delhi
(Pracharya Pt. Nihal Chand Jain- Bina)
Prof. Dr. Raja Ram Jain- Noida
Prof. Dr. Vrashabh Prasad Jain, Lucknow
Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur
Prof. Dr. Shreyansh Kr. Jain, Baraut
Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
स्तुति एवं विषयानुक्रमणिका		१-४
१. जैनधर्म और आयुर्वेद	आचार्य राजकुमार जैन	५-१३
२. कल्याणमन्दिर स्तोत्र एवं भक्तामर स्तोत्र का तुलनात्मक अनुशीलन	डॉ. जयकुमार जैन	१४-२७
३. स्वाध्याय एक अनुशीलन	प्राचार्य अभयकुमार जैन	२८-४०
४. जैनधर्म एवं पर्यावरण संरक्षण	प्रो. अशोककुमार जैन	४१-४४
५. समयसार (समयदेशना) में भूतार्थ - अभूतार्थ दृष्टि	डॉ. श्रेयांसकुमार जैन	४५-५०
६. वैज्ञानिक भगवान महावीर	डॉ. एम.बी.मोदी	५१-५३
७. रात्रिभोजन निषेध का वैज्ञानिक एवं आरोग्य मूलक विश्लेषण	प्रा. पं. निहालचंद जैन	५४-६०
८. आदिपुराण में जीवन मूल्य	डॉ. श्रीमती विभा जैन	६१-६७
९. महावीर का स्वास्थ्य दर्शन	डॉ. चंचलमल चौरड़िया	६८-७१
१०. Non-Absolutism-The Philosophical Basis of Tolerance	Prof. Sagarmal Jain	72-75
११. पं. भगवतीदास विरचित 'मङ्कलेहा-चरित' में मूढत्रय विवेचन	डॉ. पुलक गोयल	७६-८६
१२. इष्टोपदेश में वर्णित एकत्वविभक्त आत्मा	डॉ. अशोककुमार जैन	८७-९२
१३. साहित्य समीक्षा	पं. आलोक जैन एवं पं. निहालचंद जैन	९३-९५
प्रकाशित ग्रन्थ सूची	वीर सेवा मन्दिर	९६

द्वारा रचित सिद्धान्त रसायन कल्प, पुष्पायुर्वेद आदि, पूज्यपाद स्वामी द्वारा रचित रत्नाकरौषध रोग, वैद्यामृत, कल्याणकारक आदि, अमृतनन्दिनकृत अकारादि निघण्टु, मंगराज द्वारा रचित 'खगेन्द्र मणिदर्पण, मुनि यशः कीर्तिकृत जगत्सुदरी प्रयोग माला आदि, श्री कुन्दकुन्दाचार्य द्वारा रचित 'वेज्जगाहा' (वैद्यगाथा) इत्यादि।

वैसे तो आयुर्वेद एवं प्राणावायु पूर्व के ग्रंथों में लगभग समान रूप से अष्टांग आयुर्वेद जैसे निदान, चिकित्सा, स्वस्थवृत्त, अगदतन्त्र, रसायनतन्त्र आदि का विवेचन किया गया है, किन्तु प्राणावायु पूर्व में आयुर्वेद की अपेक्षा कुछ विशेषता भी है। जैसे आयुर्वेद में शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार का स्वास्थ्य प्रतिपादित किया गया है- शरीर को धारण करने वाले तीन दोष (वात-पित्त-कफ), सात धातुएं (रस-रक्त-मांस-मेढ-अस्थि-मज्जा और शुक्र) तथा तीन मल (स्वेद-मूत्र-पुरीष) ये समस्त भाव जब तक शरीर में समान रूप से संतुलित रहते हैं तब तक शरीर में कोई विकार या रोग उत्पन्न नहीं होता है और शरीर स्वस्थ एवं निरोग बना रहता है, यही मनुष्य का शारीरिक स्वास्थ्य है। इसी प्रकार कोई मानसिक दोष (रज या तम) तब तक मनुष्य के मन में विकृति या रोग उत्पन्न नहीं करता तब तक वह भी मानसिक रूप से स्वस्थ या अविकृत रहता है - यह मानसिक स्वास्थ्य है।

उपर्युक्त द्विविध स्वास्थ्य यद्यपि प्राणावायु शास्त्र (जैनायुर्वेद) में भी अभीष्ट है, तथापि अध्यात्म प्रधान होने से प्राणावायु शास्त्र में स्वास्थ्य के दो भेद भिन्न प्रकार से प्रतिपादित किए गए हैं। यथा- पारमार्थिक स्वास्थ्य और व्यावहारिक स्वास्थ्य। श्री उग्रादित्याचार्य के अनुसार प्रथम पारमार्थिक स्वास्थ्य प्रधान या मुख्य है और द्वितीय व्यवहार स्वास्थ्य अप्रधान या गौण है। ऊपर आयुर्वेद के अनुसार जो शारीरिक और मानसिक भेद से दो प्रकार का स्वास्थ्य बतलाया गया है उसका समावेश प्राणावायु में प्रतिपादित व्यवहारिक स्वास्थ्य में किया गया है। यथा -

समाग्नि धातुत्वमदोष विभ्रमो मलक्रियात्मेन्द्रिय सुप्रसन्नता।

मनः प्रसादश्च नरस्य सर्वदा तदेवमुक्तं व्यवहारजं खलु॥^१

अर्थात् अग्नि (जठराग्नि), धातु (सात धातुएं) और तीनों दोष (वात-पित्त-कफ) का सम अवस्था में होना, मल (स्वेद मूत्र, पुरीष) की विसर्जन क्रिया में विभ्रम (विषमता) नहीं होना, आत्मा, इन्द्रिय और मन की प्रसन्नता (निर्मलता) व्यवहारज स्वास्थ्य कहलाता है।

यह व्यावहारिक स्वास्थ्य भौतिक होता है। इसका सम्बन्ध केवल शरीर और मन से होता है। शरीर और मन की स्वस्थता एवं निरोगता इसका मुख्य प्रतिपाद्य है। यह पारमार्थिक स्वास्थ्य की प्राप्ति में सहायक होता है। श्री उग्रादित्याचार्य ने पारमार्थिक स्वास्थ्य का प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है -

अशेषकर्मक्षयजं महाद्भुतं येदेतदात्यन्तिकमद्वितीयम्।

अतीन्द्रियं प्रार्थितमर्थवेदिभिस्तदेतदुक्तं परमार्थनामकम्॥^२

अर्थात् आत्मा के सम्पूर्ण कर्मों के क्षय से उत्पन्न, अद्भुत, आत्यन्तिक एवं अद्वितीय विद्वज्जनों द्वारा प्रार्थित जो अतीन्द्रिय सुख है वह परमार्थ स्वास्थ्य कहलाता है।

इस प्रकार आरोग्य या द्विविध स्वास्थ्य का प्रतिपादन मात्र आयुर्वेद शास्त्र (प्राणावायु) में किया गया है, अतः यह आध्यात्मिकता से अनुप्राणित है और इसका मुख्य उद्देश्य लोकापकार

यथाकाल पकना तथा दूसरा उपाय से उसे पकाना। इसे उदाहरणपूर्वक निम्न प्रकार स्पष्ट किया गया है -

उपायपाको वरधोवीरतपप्रकारैस्सुविशुद्धमार्गैः।

सद्यः फलयच्छति कालपाकः कालान्तरायः स्वयमेव दद्यात्॥⁹

अर्थात् उत्कृष्ट घोरवीर तप आदि विशुद्ध उपायों से (कर्म का उदयकाल नहीं होते हुए भी) कर्म को उदय में लाना यह उपाय पाक कहलाता है, इससे उसी समय पूर्वजन्मकृत कर्मों का फल मिल जाता है। कालान्तर में यथा समय (अपने आयुष्यावसान में) कर्म स्वयं उदय में आकर (पककर) फल देते हैं - यह काल पाक है।

आगे पुनः कहा गया है -

यथा तरूणां फलपाकयोगो मतिप्रगल्भैः पुरुषैर्विधेयः।

तथा चिकित्साप्रविभागकाले दोषप्रपाको द्विविधः प्रसिद्धः॥¹⁰

अर्थात् जिस प्रकार वृक्ष के फल स्वयं भी पकते हैं और बुद्धिमान मनुष्य उन्हें विभिन्न उपायों के द्वारा भी पकाते हैं। उसी प्रकार प्रकुपित दोष भी उपाय (चिकित्सा) और कालक्रम दोनों प्रकार से पकते हैं।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि जैन धर्म के अनुसार मनुष्य के शरीर में रोगोद्भव अशुभ कर्म के उदय से होता है। मनुष्य के द्वारा पूर्व जन्म में किए गये असत्कर्म या पाक कर्म अपना फल देने हेतु जब इस जन्म में उदय में आते हैं तब उसके परिणाम स्वरूप अन्यान्य कष्टों-दुःखों के अतिरिक्त रोगोत्पत्ति रूप कष्ट भी उसे होता है। उसका शमन या निवारण तब तक सम्भव नहीं है जब तक उस अशुभ कर्म का परिपाक होकर पूर्णतः उसका क्षय या शमन नहीं हो जाता। शास्त्रों के अनुसार धर्माचरण के द्वारा अशुभ कर्म या पाप का शमन होता है, अतः पापकर्म जनित रोग का शमन धर्माचरण या धर्म सेवन से ही संभव है - यही भाव जैन धर्म में निम्न प्रकार से प्रतिपादित किया गया है -

सर्वात्मना धर्मपरः नरो स्यात्तमाशुसर्व समुपैति सौख्यम्।

पापोदयात्ते प्रभवन्ति रोगा धर्माच्च पापाः प्रतिपक्षभावात्॥

नश्यन्ति सर्वे प्रतिपक्षयोगाद्विनाशमायान्तिकिमत्र चित्रम्?¹¹

अर्थात् जो मनुष्य सर्व प्रकार से धर्म परायण होता है उसे शीघ्र ही सभी प्रकार के सुख प्राप्त होते हैं। पाप के उदय से विविध रोग उत्पन्न होते हैं तथा पाप और धर्म के परस्पर विरोधी भाव होने से धर्म से पाप का नाश होता है प्रतिपक्ष की प्रबलता होने से यदि रोग समूह विनाश को प्राप्त होते हैं तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है ?

धर्म के प्रभाव से पाप रूप रोग का जो नाश होता है उसमें धर्म तो वस्तुतः आभ्यन्तर कारण होता है और बाह्यकारण के रूप में प्रयुक्त औषधोपाचार को ही चिकित्सा कहा जाता है जबकि आभ्यन्तर कारण के रूप में सेवित धर्म को धर्माचरण ही माना जाता है, किन्तु चिकित्सा के अन्तर्गत धर्म का भी उल्लेख होने से उसे सात्विक चिकित्सा के रूप में स्वीकार किया गया है। रोगोपशमनार्थ बाह्य और आभ्यन्तर चिकित्सा के रूप में धर्म आदि की कारणता निम्न प्रकार से बतलाई गई है -

इसलिए वैद्य के लिए उचित है कि उसे काम और मोह के वशीभूत होकर अर्थ (धन) के लोभ से, मित्र के प्रति अनुराग भाव से, शत्रु के प्रति शेष भाव से, बंधु बुद्धि से तथा इसी प्रकार से अन्य मनोविकार भाव से प्रेरित होकर अथवा अपने सत्कार के निमित्त या अपने यश अर्जन के लिए चिकित्सा नहीं करना चाहिये। विद्वान् वैद्य कारुण्य बुद्धि (रोगियों के प्रति करुणा एवं दया भाव) से परलोक साधन के लिए तथा अपने पूर्वोपार्जित कर्मों का क्षय करने के लिए चिकित्सा कार्य करें।

भगवान् जिनेन्द्र देव के शासन में ऐसी क्रिया विधि भी उपादेय मानी गई है जो कर्म क्षय करने में साधनभूत हो। यद्यपि अन्य शुभ कर्म भी आचरणीय बतलाए गए हैं, किन्तु उनसे मात्र शुभ कर्म का बन्ध होकर पुण्य का संचय होता है और उससे परलोक में सुख की प्राप्ति होती है किन्तु उससे पूर्व संचित कर्मों का क्षय नहीं होने से कर्मों के बन्धन से मुक्ति या मोक्ष रूप आत्म कल्याण नहीं होता है। चिकित्सा कार्य में यदि कारुण्य भाव निहित हो तो उससे कर्मक्षय होता है - ऐसा विद्वानों का अभिमत है, जैसा कि उपर्युक्त वचन से सुस्पष्ट है।

कोई भी वैद्य अपने उच्चादर्श चिकित्साकार्य में नैपुण्य, शास्त्रीय ज्ञान की गंभीरता, मानवीय गुणों की संपन्नता, निःस्वार्थ सेवा भाव आदि विशिष्ट गुणों के कारण ही समाज में विशिष्ट एवं महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करता है। यही उसकी स्वयं की प्रतिष्ठा, उसके व्यवसाय की प्रतिष्ठा और समष्टि रूपेण देश की प्रतिष्ठा के लिए आवश्यक है, वैद्यत्व की सार्थकता भी वस्तुतः इसी में निहित है। जिस का वैद्यत्व व्यवसाय परोपकार की पवित्र भावना से प्रेरित न हो उसका वैद्य होना ही निरर्थक है, क्योंकि वैद्य का उच्चादर्श रोगी को भोषण व्याधि से मुक्त कराकर उसे आरोग्य लाभ प्रदान करना है। महर्षि अग्निवेश ने भी अग्निवेश तन्त्र (चरक संहिता) में इसी तथ्य का प्रतिपादन निम्नवत् किया है -

दारुणैः कृष्यमाणानां गदैर्वैस्वतक्ष्म।
छित्वा वैवस्वतान् पाशान् जीवितं यः प्रयच्छति॥
धर्मार्थदातासदृशस्तस्य नेहोपलभ्यते।
न हि जीवितदानाद्धि दानमन्यद्विशिष्यते॥^{१३}

अर्थात् भयंकर रोगों के द्वारा यमपुरी की ओर बलात् ले जाते हुए प्राणियों के प्राण को जो वैद्य यमराज के पाशों को काटकर बचा लेता है उसके समान धर्म और अर्थ को देने वाला इस जगत् में कोई दूसरा नहीं पाया जाता है, क्योंकि जीवन दान से बढ़कर कोई दूसरा विशिष्ट दान नहीं है अर्थात् सभी प्रकार के दानों में जीवनदान ही सर्वश्रेष्ठ और सबसे बड़ा दान माना गया है।

जैन धर्म में प्राणदान को अभयदान की संज्ञा दी गई है। वैद्य के द्वारा चूंक रोगी को प्राण दान या जीवन दान प्राप्त होता है, अतः संसार में धर्म और अर्थ को देने वाला सबसे बड़ा वैद्य ही है। जीवन दान में जहां परहित का भाव निहित है वहां वैद्य का उच्चतम आदर्श भी प्रतिबिम्बित होता है। दूसरों के प्राणों की रक्षा करना जैन धर्म का मूल है क्योंकि इसी में लोक कल्याण की भावना निहित है। इस दृष्टि से जैनधर्म और आयुर्वेद की निकटता सुस्पष्ट है। परहित की भावना से प्रेरित होने के कारण इस आयुर्वेद शास्त्र में दूसरों के प्राणों की रक्षा को विशेष महत्व दिया गया है वहां इसे आजीविका के साधन के रूप में अपनाए जाने का पूर्ण निषेध किया गया है।

अर्थात् इस प्रकार उपर्युक्त उद्देश्य से की गई चिकित्सा उस वैद्य को सभी उत्तम फल देती है जिस प्रकार अच्छी प्रकार से की गई कृषि, कृषि बल, पौरुष एवं दैवयोग से स्वयं धन संचय कराती है, उसी प्रकार शुद्ध हृदय से की गई चिकित्सा भी वैद्य को इह लोक पर परलोक में सभी सुख देती है।

जो वैद्य रोगी के प्रति कारुण्य बुद्धि और करुणाभाव से उसकी चिकित्सा करता है उस चिकित्सा से वैद्य को क्या लाभ मिलता है? इसका प्रतिपादन भी उग्रादित्याचार्य ने निम्न प्रकार से किया है -

**क्वचिच्च धर्म क्वचिदर्थलाभं क्वचिच्च कामं क्वचिदेव मित्रम्।
क्वचिद्यशस्सा कुरुते चिकित्सा क्वचित्सदभ्यास विशारदत्वम्।^{१८}**

अर्थात् उस चिकित्सा से वैद्य को कहीं धर्म लाभ होता है तो कहीं मनोवांछित पूर्ण होता है तो कहीं सन्मित्र की प्राप्ति होती है। वह चिकित्सा कहीं यशो लाभ कराती है तो कहीं चिकित्सा नैपुण्य या अभ्यास की दक्षता बढ़ाती है।

प्राणावायु शास्त्र की यह विशेषता है कि आरोग्य साधन की दृष्टि से वह प्रत्येक वर्ग के मनुष्य को निरोगी रखने का मार्ग बतलाता है। सामान्य मनुष्य तो मिथ्या आहार विहार के कारण रोग ग्रस्त होते हैं, जैन साधु भी पूर्वोपार्जित कर्मोदय के प्रभाव से रोग ग्रस्त हुए बिना नहीं रहते। अतः उन्हें भी आरोग्य साधन का उपाय बतलाने में यह प्राणावायु शास्त्र पूर्ण समर्थ है। इस दृष्टि से श्री उग्रादित्याचार्य का निम्न वचन महत्वपूर्ण है-

**आरोग्य शास्त्रमधिगम्य मुनिर्विपश्चित् स्वास्थ्यं स साधयतिसिद्धसुखैकहेतुम्।
अन्यस्स्वदोषकृत रोगनिपीडितांगो बध्नाति कर्म निजदुष्परिणामभेदात्।^{१९}**

अर्थात् जो विद्वान् मुनि आरोग्य शास्त्र को भलीभांति जानकर उसी प्रकार आहार विहार रखते हुए अपने स्वास्थ्य की रक्षा कर लेता है वह सिद्ध सुख के मार्ग को प्राप्त कर लेता है। जो स्वास्थ्य के रक्षाविधान को नहीं जानकर अपने स्वास्थ्य की रक्षा नहीं कर पाता है वह अनेक दोषों से उत्पन्न रोगों से पीड़ित होकर अनेक प्रकार के दुष्परिणामों से कर्मबंध कर लेता है।

‘शरीरं व्याधिमन्दिरम्’ के अनुसार देहधारी प्रत्येक मनुष्य को किसी न किसी रोग का भय तो बना ही रहता है। मनुष्य जब व्याधिग्रस्त हो जाता है तो वह रूग्ण शैया पर पड़ा रहता है और उसके समस्त कार्य बाधित हो जाते हैं। स्वस्थ शरीर के बिना न तो धार्मिक क्रियाएं हो सकती हैं और न ही कोई सामाजिक/सांसारिक कार्य। अतः प्रत्येक मनुष्य आरोग्य की अपेक्षा रखता है। आरोग्य के महत्व को प्राणावायु शास्त्र में भी स्वीकार किया है। श्री उग्रादित्याचार्य आरोग्य की आवश्यकता का प्रतिपादन करते हुए कहते हैं -

**न धर्मस्य कर्ता न चार्थस्य हर्ता न कामस्य भोक्ता न मोक्षस्य पाता।
नरो बुद्धिमान् धीरसत्त्वोऽपि रोगी यतस्तद्विनाशाद् भवेन्नैव मर्त्यः।^{२०}**

अर्थात् मनुष्य बुद्धिमान और धीर सत्त्व (दृढ़ मनस्क) होने पर भी यदि रोगी हो तो वह न धर्म कर सकता है न धन कमा सकता है न मनोवांछित विषयों का भोग कर सकता है और

कल्याणमन्दिर स्तोत्र एवं भक्तामर स्तोत्र का तुलनात्मक अनुशीलन

डॉ. जयकुमार जैन

स्तोत्र का जैन परम्परा में अर्थ (स्तोत्रद्वय में साम्य)

स्तोत्र शब्द का अदादि गण की उभयपदी 'स्तु' धातु से 'ष्टृन्' प्रत्यय का निष्पन्न रूप है, जिसका अर्थ गुणसंकीर्तन है। स्तुति शब्द स्तोत्र का पर्यायवाची है, जो स्त्रीलिङ्ग में प्रयुक्त होता है, जबकि स्तोत्र शब्द नपुसंक लिङ्ग में प्रयुक्त होता है। गुणसंकीर्तन आराधक द्वारा आराध्य की भक्ति का एक माध्यम है, जो अभीष्ट सिद्धिदायक तो है ही, विशुद्ध होने पर भवनाशक भी होता है। श्री वादोभसिंह सूरि ने भक्ति को मुक्ति रूपी कन्या से पाणिग्रहण में शुल्क रूप कहा है। उनका कहना है जो शुभ भक्ति मुक्ति को प्राप्त करा सकती है, वह अन्य क्षुद्र क्या-क्या कार्य सिद्ध नहीं कर सकती है -

‘श्रीपतिर्भगवान् पुष्याद् भक्तानां वा समीहितम्।

यद्भक्तिःशुल्कतामेति मुक्तिकन्याकरग्रहे॥’

‘सती भक्तिः भवति मुक्त्यै क्षुद्रं किं वा न साधयेत्।

त्रिलोकीमूल्यरत्नेन दुर्लभः किं तुषोत्करः॥’^१

अतः स्पष्ट है कि भक्ति शिवेतरक्षति (अमंगलनाश) एवं सद्यः परनिर्वृति (त्वरित आनन्दप्राप्ति) के साथ परम्परा मुक्ति की भी साधिका है। यद्यपि स्तुति शब्द का प्रयोग प्रायः अतिप्रशंसा में होता है, किन्तु जैन परम्परा में स्तुति शब्द का प्रयोग अतिप्रशंसा में नहीं अपितु आंशिक गुणानुवाद के रूप में हुआ है। जिनेन्द्र भगवान् की स्तुति करते हुए श्री समन्तभद्राचार्य ने लिखा है -

‘गुणस्तोकं समुल्लंघ्य तद्बहुत्वकथा स्तुतिः।

आनन्त्यास्ते गुणाः वक्तुमशक्यास्त्वयि सा कथम्॥’^२

अर्थात् थोड़े गुणों को पाकर उन्हें बढ़ा-चढ़ाकर कहना स्तुति कही जाती है, परन्तु हे भगवन्! तुम्हारे तो अनन्त गुण हैं, जिनका वर्णन करना असंभव है। अतः तुम्हारे विषय में स्तुति का यह अर्थ कैसे संगत हो सकता है ? इस विषय में कल्याणमन्दिरस्तोत्र में तथा भक्तामरस्तोत्र में भी कहा गया है -

किन्तु सुखप्राप्ति के उपाय के विषय में विषमता दृष्टिगोचर होती है। जहाँ जड़वादी भौतिक सामग्री को सुख का कारण मानते हैं, वहाँ अध्यात्मवादी एवं कतिपय मनोवैज्ञानिक इच्छाओं के शमन या अभाव को वास्तविक सुख स्वीकार करते हैं। सुप्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक विलियम जेम्स ने सुखप्राप्ति का एक सूत्र बताया है-

Achievement (लाभ)

Expectation (आशा) = Satisfaction (संतुष्टि)

अर्थात् लाभ अधिक हो - आशा कम हो तो सुख प्राप्ति होती है और आशा अधिक हो लाभ कम हो तो दुःख मिलता है। इस सूत्र का सार यह है कि मनुष्य को आशायें कम करके सुख प्राप्त करना चाहिए। जब आशायें शून्य हो जाती हैं, तब परमानन्द की प्राप्ति होती है। भारतीय मनीषियों ने आशाओं की न्यूनता या शून्यता का प्रमुख कारण स्तुति (भक्ति) एवं विरक्ति को माना है। यतः कल्याणमन्दिरस्तोत्र एवं भक्तामरस्तोत्र के रचयिता दोनों दिगम्बराचार्य हैं तथा उनके पद्यानुवादक श्री सौरभसागर जी महाराज दिगम्बर मुनि हैं, अतः उनकी कृतियों में गुणानुवाद का मूल उद्देश्य सर्वत्र समाहित दृष्टिगोचर होता है। गुणानुवाद के उद्देश्य का कथन करते हुए कल्याणमन्दिर स्तोत्र में कहा गया है कि हे जिनेन्द्र! जो मनीषी अभिन्न बुद्धि से आपको ध्यान करते हैं वे आपके प्रभाव से आपके समान ही बन जाते हैं -

‘आत्मा मनीषिभिरयं त्वभेदबुद्ध्या
ध्यातो जिनेन्द्र ! भवतीह भवत्प्रभावः।’^६

भक्तामरस्तोत्र में इस बात को शब्दान्तर में इस प्रकार कहा गया है कि उसकी स्तुति से क्या लाभ है, जो अपने आश्रित को अपने समान नहीं बना देता है-

‘तुल्या भवन्ति भवतो ननु तेन किं वा
भूत्याश्रितं य इह नात्मसमं करोति।’^७

प्रतिपक्षी भावों का चिन्तन -

साधना या वैराग्य की वृद्धि करने में सबसे बड़ा साधन प्रतिपक्षी भावों का चिन्तन है। यदि अशुभ को त्यागना है तो शुभ का संकल्प करना आवश्यक है और शुभ को प्राप्त करना है तो अशुभ को त्यागने का चिन्तन आवश्यक है। महर्षि पातञ्जलि ने स्पष्टतया कहा है -

‘वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।’^८

अर्थात् एक पक्ष को तोड़ना है, तो प्रतिपक्ष की भावना पैदा करो। आचार्य कुमुदचन्द्र और आचार्य मानतुंग दोनों ही भवसन्तति, पाप एवं कर्मबन्ध के विनाश के लिए भववत् चिन्तन को आवश्यक मानते हैं। कल्याणमन्दिर स्तोत्र एवं भक्तामरस्तोत्र के निम्नलिखित पद्य इस सन्दर्भ में द्रष्टव्य है। आचार्य कुमुदचन्द्र कहते हैं -

‘हृद्वर्तिनि त्वयि विभो ! शिथिलीभवन्ति
जन्तोः क्षणेन निविडा अपि कर्मबन्धाः।

सद्यो भुजंगममया इव मध्यभाग-

मभ्यागते वनशिखण्डिनि चन्दनस्य॥’-कल्याणमन्दिर, ८

अर्थात् हे स्वामिन् मतिहीन होने पर भी मैं असंख्य गुणों के सागर आपकी स्तुति करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। क्या छोटा सा बालक भी अपनी दोनों भुजाओं को फैलाकर अपनी बुद्धि से समुद्र की विस्तीर्णता का कथन नहीं करता ? अर्थात् करता ही है।

बुद्ध्या विनापि विबुधार्चितपादपीठ।

स्तोतुं समुद्यतमतिर्विगतत्रपोहम्।

बालं विहाय जलसंस्थितमिन्दुबिम्ब-

मन्यः क इच्छति जनः सहसा ग्रहीतुम्॥' - भक्ता, ३

अर्थात् हे देवों द्वारा अर्चित पादपीठ वाले भगवान्! बुद्धिहीन होते हुए भी निर्लज्ज होकर मैं आपकी स्तुति करने में अपनी बुद्धि लगा रहा हूँ। जल में स्थित चन्द्रमा के प्रतिबिम्ब को बच्चे को छोड़कर अन्य कौन व्यक्ति पकड़ने की इच्छा करता है ? अर्थात् कोई नहीं।

स्पष्ट है कि दोनों ही आचार्यों ने अपनी लघुता के प्रदर्शन में समान पद्धति अपनाई है दोनों ही उदाहरणों में बाल मनोविज्ञान की गजब की प्रस्तुति है।

भय और काम की विवेचना -

जैन दर्शन के अनुसार मोहनीय कर्म रूपी बीज से राग एवं द्वेष उत्पन्न होते हैं। इसलिए ज्ञान रूपी अग्नि से मोहनीय कर्म रूपी बीज को नष्ट करने की बात जैन शास्त्रों में कही गई है। आचार्य गुणभद्र ने लिखा है -

‘मोहबीजाद् रतिद्वेषौ बीजान्मूलांकुराविव।

तस्मान्ज्ञानाग्निना दाह्यं एतेतौ निर्दिधिक्षुणा॥’^{१४}

दुःख का मूल कारण ये राग और द्वेष भाव ही हैं क्योंकि ये दोनों भाव कर्म के बीज हैं। कर्म से जन्म-मरण और जन्म-मरण से दुःख होता है। कहा भी गया है -

‘रागो य दोसो वियं कम्मबीजं, कम्मं च मोहप्पभवं वयंति।

कम्मं च जाइमरणस्स मूलं, दुक्खं च जाइमरणं वयंति॥’^{१५}

मनोविज्ञान के अनुसार भी अनुभूतियाँ दो प्रकार की हैं- प्रीत्यात्मक और अप्रीत्यात्मक। इनको काम एवं भय रूप मनःसंवेग वाला कहा गया है। भय संसारी मानव की सबसे बड़ी कमजोरी है। भय से त्रस्त मानव भय के कारणों से संरक्षित होने का निरन्तर प्रयास करता है। अपनी रक्षा के लिए वह अपने आराध्य की शरण में जाकर अपने को सुरक्षित मानने की भावना करता है। कठिन परिस्थितियों में वह अदेव, कुदेव या स्वर्गादि देवों से भी याचना करने लगता है। किन्तु ये वास्तविक शरण नहीं हैं। वास्तविक शरण तो अरिहन्त, सिद्ध, साधु और धर्म ही हैं। यद्यपि वीतराग भगवान् स्वयं कुछ नहीं करते हैं किन्तु उनकी प्रार्थना से दुःखों का नाश अवश्य होता है। पापकर्म भी पुण्य रूप में संक्रमित हो जाता है। मनोविज्ञान की भाषा में इसे मार्गान्तीकरण (Redirection) कहते हैं।

आचार्य कुमुदचन्द्र भगवान् पार्श्वनाथ की स्तुति करते हुए उनसे महान् भयानक दुःख रूपी सागर से पार करने की प्रार्थना करते हैं -

‘स्त्रीणां शतानि शतशोजनयन्ति पुत्रान्
नान्या सुतं त्वदुपमं जननी प्रसूता।
सर्वाः दिशो दधति भानि सहस्ररश्मिं
प्राच्येव दिग्जनयति स्फुरदंशुजालम्॥’^{१०}

अर्थात् सैकड़ों स्त्रियाँ पुत्रों को उत्पन्न करती हैं, किन्तु अन्य किसी माता ने तुम जैसे पुत्र को उत्पन्न नहीं किया है। सभी दिशाएँ नक्षत्रों को धारण करती हैं, किन्तु पूर्व दिशा ही चमकदार किरणों वाले सूर्य को उदित करती हैं।

निमित्त कारणा की सामर्थ्य की स्वीकार्य -

आचार्य कुमुदचन्द्र एवं आचार्य मानतुंग भक्ति को एहिक एवं पारलौकिक फलप्राप्ति में कार्यकारी मानते हुए निमित्त की सामर्थ्य को स्वीकार करते हैं। आचार्य कुमुदचन्द्र कहते हैं -

‘धर्मोपदेशसमये सविधानुभावा-
दास्तां जनो भवति ते तरुरप्यशोकः।
अभ्युद्गते दिनपतौ समहीरुहोऽपि
किं वा विवोधमुपयाति न जीवलोकः॥’^{११}

हे प्रभो! आपके धर्मोपदेश के समय जो समीप आता है, उस मानव की बात तो रहने दो, वृक्ष भी अशोक (शोक रहित) हो जाता है। क्या सूर्य के उदित हो जाने पर वृक्षों के साथ जीवों का समूह जागरण को प्राप्त नहीं हो जाता है? अर्थात् हो ही जाता है।

आचार्य मानतुंग भी निमित्त कारण की शक्ति को स्वीकार करते हुए कहते हैं -

‘अल्पश्रुतं श्रुतवतां परिहासधाम
त्वद्भक्तिरेव मुखरीकुरुते बलान्माम्।
यत्कोकिलः किल मधौ मधुरं विरौति
तच्चाग्रचारुकलिकानिकरैक हेतुः॥’^{१२}

विद्वानों के हास्य के पात्र अल्पज्ञानी मुझको तुम्हारी भक्ति ही जबरन वाचाल बना रही है। वास्तव में जो कोयल बसन्त ऋतु में मधुर शब्द करती है, वह आम की सुन्दर कलियों के कारण ही है।

आचार्य मानतुंग द्वारा प्रयुक्त ‘किल’ एवं ‘एकहेतु’ शब्द निमित्त की कार्यकारिता का दृढ़तापूर्वक समर्थन करते हैं।

आराध्य के नाम-स्मरण का प्रभाव -

प्रायः लोग ऐसा कहा करते हैं कि नामस्मरण रूप भक्ति में क्या रखा है? किन्तु वे यह भूल जाते हैं कि गाली का नाम सुनकर जब हमें क्रोध एवं प्रशंसा सुनकर हर्ष उत्पन्न हो जाता है, तो प्रभु के नामोच्चारण का प्रभाव न पड़े, ये कैसे हो सकता है? आचार्य नामस्मरण के प्रभाव का वर्णन करते हुए कहते हैं -

रूपसौन्दर्य वर्णन -

आराधक अपने आराध्य को जगत् में सर्वाङ्गसुन्दर एवं अनुपम मानता है। उसे जगत् के सम्पूर्ण उपमान उसके समक्ष हीन दिखाई देते हैं। आराधक आराध्य के स्वरूप का वर्णन करने में अपने को असमर्थ पाता है। आचार्य कुमुदचन्द्र कहते हैं-

‘सामान्यतोऽपि तव वर्णयितुं स्वरूप-

मस्मादृशः कथमधीश ? भवन्यधीशाः।

धृष्टोऽपि कौशिकशिशुर्यदि वा दिवान्धो

रूपं प्ररूपयति किं किल धर्मरश्मेः॥’ - कल्याणमन्दिरस्तोत्र, ३

अर्थात् हे प्रभो ! तुम्हारे रूप का वर्णन करने में हम जैसे लोग सामान्य रूप से भी कैसे समर्थ हो सकते हैं। क्या धृष्ट उल्लू या दिवान्ध सूर्य के रूप का वर्णन कर सकता है ? अर्थात् नहीं कर सकता है।

रूप सौन्दर्य वर्णन के प्रसंग में आचार्य मानतुंग जिनेन्द्र देव का वर्णन करते हुए उनके मुख की प्रभा के समक्ष चन्द्रमा की प्रभा को भी हीन मानते हैं। दीपक, सूर्य आदि सभी उपनाम उनके समक्ष फीके हैं। श्री मानतुंग आचार्य द्वारा की गई एक सुन्दर अनन्वय-योजना दृष्टव्य है -

“यैः शान्तरागरुचिभिः परमाणुभिस्त्वं

निर्मापितास्त्रिभुवनैकललामभूत।

तावन्त एव खलु तेऽप्यणवः पृथिव्यां

यत्ते समानमपरं नहि रूपमस्ति॥” - भक्तामरस्तोत्र, १२

अर्थात् हे तीनों लोकों में एकमात्र शिरोमणि ! वीतरागता में रुचि रखने वाले जिन परमाणुओं से तुम बनाये गये हो, निश्चित ही वे परमाणु उतने ही थे। क्योंकि सम्पूर्ण पृथिवी में तुम्हारे समान दूसरा रूप नहीं है।

भाषा -

काव्य की दृष्टि से कल्याणमन्दिर स्तोत्र और भक्तामरस्तोत्र दोनों ही महत्त्वपूर्ण स्तोत्र हैं। इनकी भाषा बड़ी प्रासादिक तथा स्वाभाविक है। कवि की उक्तियों में बड़ा चमत्कार है। कहीं-कहीं ओजगुण का बड़ा ही कमनीय प्रयोग हुआ है, जो भाषा में प्रसंगानुकूल दीप्ति उत्पन्न करने में समर्थ है। इस सन्दर्भ में दोनों का एक-एक पद्य द्रष्टव्य है -

‘यद्गर्जितूर्जितधनौधमदभ्रमीव-

भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम्।

दैत्येन मुक्तमथ दुस्तरवारि दध्रे

तेनैव तस्य जिन ! दुस्तरवारिकृत्यम्॥’ - कल्याणमन्दिर, ३२

(पद्यानुवाद - महा भयंकर दुस्तरवारि, वर्षा कर उपसर्ग किया,

बादल गरजा विद्युत चमका, अपना पौरुष व्यर्थ किया।

फिर भी पार्श्व प्रभुवर, तेरा कुछ भी ना वह कर पाया,

अपने ही हाथों से वह तो, अपने ऊपर खड़ग चलाया॥)

की शोभा, यमक की मनोरमता तथा श्लेष की संयोजना सहज ही पाठकों के हृदय में अलौकिक आनन्द का संवर्धन करती है। अर्थालङ्कारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, व्यतिरेक, दृष्टान्त अर्थान्तरन्यास, प्रतिवस्तूपमा समासोक्ति, अतिशयोक्ति, विषम आदि अलङ्कारों विच्छित्ति वर्णनीय विषयों की मञ्जुल अभिव्यञ्जना करने में समर्थ है। यहाँ पर कतिपय शब्दालङ्कारों एवं अर्थालङ्कारों का दिग्दर्शन प्रस्तुत है।

अनुप्रास - पदलालित्य के प्रतीक अनुप्रास अलङ्कार का लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है - 'वर्णसाम्यमनुप्रासः'^{३३} अर्थात् स्वरों की भिन्नता होने पर भी व्यञ्जनों की समानता को अनुप्रास कहते हैं। यथा -

‘यद्गर्जदूर्जितघनौघमदभ्रभीम-
भ्रश्यत्तडिन्मुसलमांसलघोरधारम्।’^{३४}
‘कुन्दावदातचलचामरचारुशोभं
विभ्राजते तव वपुः कलधौतकान्तम्।’^{३५}

यमक - अर्थ के होने पर जहाँ भिन्न अर्थ वाले वे ही वर्ण उसी क्रम से पुनः सुनाई देते हैं वहाँ यमक अलंकार होता है। काव्यप्रकाश में कहा गया है- ‘अर्थे सत्यर्थभिन्नानां वर्णानां सा पुनः श्रुतिः। यमकम्.....।’^{३६}

आस्तामचिन्त्यमहिमा जिन! संस्तवस्ते,
नामापि पाति भवतो भवतो नितान्तम्।’^{३७}

यहाँ पर ‘भवतो भवतो’ में स्वरव्यंजनसमूह की उसी क्रम से पुनः आवृत्ति हुई है। दोनों पद सार्थक हैं। प्रथम पद का अर्थ है ‘आपका’ और द्वितीय पद का अर्थ है ‘भवत्संसार से’। अतः यहाँ यमक अलंकार है। इसी प्रकार उत्तरार्द्ध में ‘सरसःसरसोऽनिलो’ में भी यमक है।

श्लेष - आचार्य मम्मट ने श्लेष के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए लिखा है-

‘वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपदभाषणस्पृशः।
श्लिष्यन्ति शब्दाः श्लेषोऽसौ.....’।’^{३८}

अर्थात् अर्थ की भिन्नता के कारण भिन्न-२ शब्द जब एक साथ उच्चारण के कारण आपस में चिपक जाते हैं या एकाकार हो जाते हैं तो उसे श्लेष अलंकार कहते हैं। यथा -

‘जननयनकुमुदचन्द्र’^{३९} में कुमुदचन्द्र के दो अर्थ हैं कुमुदों के लिए चन्द्रमा तथा ग्रन्थकर्ता आचार्य कुमुदचन्द्र तथा ‘तं’ मानतुंगमवशा समुपैति लक्ष्मीः’^{४०} में मानतुंग के दो अर्थ हैं- स्वाभिमान से समुन्त पुरुष तथा भक्तामरस्तोत्र के रचयिता आचार्य मानतुंग। उभयत्र उच्चारणसाम्य से शब्द श्लिष्यन्ति हैं। अतः श्लेष अलंकार है।

उपमा - काव्य में चारुता के सन्निवेश के लिए साम्यमूलक उपमा अलंकार सर्वाधिक महत्वपूर्ण अलंकार है। जहाँ उपमान और उपमेय अलग-अलग होने पर भी गुण, क्रिया के आधार पर साधर्म्य का वर्णन होता है, वहाँ उपमा अलंकार होता है। उपमा अलंकार का लक्षण करते हुए आचार्य मम्मट ने लिखा है- ‘साधर्म्यमुपमा भेदे।’^{४१}

हे प्रभो ! मोहनीय कर्म का नाश हो जाने से अनुभव करता हुआ भी मानव तुम्हारे गुणों को नहीं गिन सकता है। प्रलयकाल में सागर का पानी बाहर हो जाने पर भी सागर के रत्नों की राशि का अनुमान नहीं किया जा सकता है।

यहाँ पर गुणगणन की रत्नराशि की गणना के रूप में संभावना होने से उत्प्रेक्षा अलंकार है।

‘कल्पान्तकालपवनोद्धतवह्निकल्पं
दावानलं ज्वलितमुज्ज्वलमुत्स्फुलिंगम्।
विश्वं जिघत्सुमिव सम्मुखमापतन्तं
त्वन्नामकीर्तनजलं शमयत्यशेषम्॥’^{४९}

आपका नाम स्मरण रूपी जल प्रलय काल की तेज हवा से धधकती हुई अग्नि के समान जलती हुई निर्धूम चिनगारियों से युक्त विश्व को मानो खा जाने के लिए तैयार सामने आती हुई दावाग्नि को पूरी तरह बुझा देता है।

यहाँ पर जगत् को खा जाने रूप संभावना करने से उत्प्रेक्षा अलंकार है। इसी प्रकार दोनों स्तोत्रों में अन्य अर्थालंकार भी विद्यमान हैं।

इसी प्रकार कल्याणमन्दिर स्तोत्र के श्लोक संख्या २,३,४,५,६,११,१४,१५,३६ और ४३ भक्तामरस्तोत्र के श्लोक संख्या २,३,४,५,६,१५,२३,२७,४३, और ४७ के साथ क्रमशः तुलनीय है।

कल्याणमंदिर और भक्तामर स्तोत्र के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर यह सहज निष्कर्ष निकलता है कि कोई एक स्तोत्र अपने पूर्ववर्ती स्तोत्र से प्रभावित अवश्य है। डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री लिखते हैं कि - ‘भक्तामरस्तोत्र के अन्तरंग परीक्षण से प्रतीत कि यह स्तोत्र कल्याणमंदिर का परवर्ती है। कल्याणमंदिर में कल्पना की जैसी स्वच्छता है, वैसी प्रायः इस स्तोत्र में नहीं है। अतः कल्याणमन्दिर भक्तामर से पहले की रचना हो, तो आश्चर्य नहीं है।’^{५०}

डॉ. नेमिचन्द्र द्वारा निर्धारित पूर्वापरता आदि प्रामाणिक है, तो यह कहना सर्वथा समीचीन है कि भक्तामर स्तोत्र पर कल्याणमन्दिर स्तोत्र का प्रभाव है। किन्तु इसके विपरीत श्री पं. अमृतलाल शास्त्री कल्याणमन्दिर पर भक्तामर स्तोत्र का प्रभाव मानते हैं। वे लिखते हैं - ‘आचार्य कुमुदचन्द्र ने अपने कल्याणमन्दिर स्तोत्र का अनुक्रम भक्तामर स्तोत्र के आधार पर बनाया। वसन्ततिलका छन्दा, आरम्भ में युग्म श्लोक, आत्मलघुता का प्रदर्शन, स्तोत्र के गुणों के विषय में अपने असामर्थ्य का कथन, जिननाम के स्मरण या संकीर्तन की महिमा, हरिहरादि देवों का उल्लेख, जिनेन्द्र के संस्तव या ध्यान से परमात्म पद की प्राप्ति, आठ प्रातिहार्यों का वर्णन, स्तुति का फल मोक्ष और अन्तिम पद्य में श्लिष्ट नाम कुमुदचन्द्र - इत्यादि साम्य भक्तामर स्तोत्र को देखे बिना अकस्मात् होना कथमपि संभव नहीं है।’^{५१}

जो कुछ भी हो, पर इतना तो निश्चित है कि दोनों स्तोत्रों में समता किसी एक पर अन्य के प्रभावजन्य है।

“स्वाध्याय : एक अनुशीलन”

प्राचार्य अभयकुमार जैन

सर्वेभ्यो यद् व्रतं मूलं स्वाध्यायः परमं तपः।

यतः सर्वव्रतानां हि स्वाध्यायः मूलमादितः॥९९॥ सिद्धान्तसार

स्वाध्याय ही सभी व्रतों का मूलाधार है, ध्यान का मुख्य अंग है, शुभध्यानों का हेतु भी है। इसी से स्वाध्याय को परम तप/ उत्तम तप कहा गया है। सत्-शास्त्रों का पठन-पाठन, मनन-चिन्तन ज्ञानवर्द्धक, सुख-सन्तोषकारी होने के साथ-साथ मोक्षमार्ग प्रवर्तक और जिनशासन प्रभावक भी है। मनुष्य को यह विवेकवान, उसके जीवन को आदर्श तथा प्रगतिशील, सभ्य व शिष्ट भी बनाता है। इसी से आचार्य भगवन्तों ने हम संसारियों पर दया करके जिनवचनों को चार अनुयोगों में लिपिबद्ध करके उनकी टीकाएँ/ व्याख्याएँ कर सरल सुबोध बनाया है और अनेक मनीषियों ने विभिन्न भाषाओं में रूपान्तरण करके सर्व साधारण को भी पठनीय-मननीय बना दिया है। इस संशोधित-संपादित प्रकाशित आगम-साहित्य के पठन-पाठन प्रचार-प्रसार की आज महती आवश्यकता है ताकि हमारे श्रुततीर्थ व मोक्षमार्ग की परम्परा अटूट बनी रहे और धर्मतीर्थ भी शक्तिमान बना रहे। आगमों में स्वाध्याय/ श्रुताभ्यास की बड़ी महिमा गायी गई है और स्वाध्याय द्वारा ज्ञानार्जन करने की सत्प्रेरणा भी दी गई है।

स्वाध्याय क्या है ? सत्-शास्त्रों के पठन-पाठन, वाचन-मनन और उपदेश आदि को समान्यतः स्वाध्याय कहा जाता है। व्युत्पत्ति अनुसार अर्थ इस प्रकार है -

(१) ‘स्वस्य=आत्मनः अध्ययनं स्वाध्यायः’ अपनी आत्मा का अध्ययन, चिन्तन-मनन, ध्यान स्वाध्याय है।

(२) स्वस्मै=आत्मने (आत्मनः हितार्थ) अध्ययनं स्वाध्यायः’ अपनी आत्मा के हितार्थ आत्महितकारी सत्-शास्त्रों का अध्ययन, मनन-चिन्तन, भावन स्वाध्याय है।

(३) ‘सु+आ+अध्यायः’ सु= समीचीन रूप से आ= विधि- मर्यादापूर्वक हितकारी सत्-शास्त्रों का पढ़ना-पढ़ाना, सुनना-सुनाना, चिन्तन-मनन करना, भावना भाना, उपदेश देना स्वाध्याय है।

निश्चय से आलस्य त्यागकर ज्ञान की आराधना करना स्वाध्याय है^१ अपनी आत्मा का हित करने वाला अध्ययन स्वाध्याय है^२ आत्मस्वरूप को जानकर उसी में स्थिर हो जाना स्वाध्याय है। जो अपनी आत्मा को इस अपवित्र शरीर से निश्चय से भिन्न तथा ज्ञायक स्वरूप जानता है, वह सब शास्त्रों को जानता है।^३

से, जल्दी-जल्दी या धीरे-धीरे न पढ़ना। शब्दार्थ की शुद्धिपूर्वक स्तुति देववन्दना आदि मंगल सहित सत्-शास्त्रों का व्याख्यान करना वाचना स्वाध्याय है।

(२) पृच्छना = पूछना। अर्थात् प्रश्न करना भी स्वाध्याय है। जाने हुए अर्थ को सुनिश्चित करने के लिए/ पुष्ट करने के लिए, ग्रन्थ या अर्थ के सम्बन्ध में किसी प्रकार का संशय होने पर किसी विज्ञ स्वाध्यायी से या गुरु महाराज से पूछना स्वाध्याय है। यह पूछना (प्रश्न) अध्ययन की प्रवृत्ति के लिए ही होता है। अपना बड़प्पन बतलाने के लिए या दूसरों का उपहास करने के लिए पूछना ठीक नहीं होता। यह तो ज्ञान की अविनय है, शास्त्र की आसादना है। ऐसा नहीं करना चाहिए।

(३) अनुप्रेक्षा = जाने हुए/ पढ़े हुए अर्थ को एकाग्रमन से पुनः पुनः अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है। इसमें भी अन्तर्जल्य (मन ही मन में अध्ययन) होता ही है।

(४) आम्नाय = शुद्धतापूर्वक/ शुद्ध उच्चारण सहित श्रुत का पाठ करना आम्नाय है। आम्नाय भी स्वाध्याय ही है।

(५) धर्मोपदेश = धर्म का व्याख्यान किसी दृष्ट/ अदृष्ट प्रयोजन की अपेक्षा न करके उन्मार्ग को नष्ट करने के लिए, सन्देह को दूर करने के लिए, अपूर्व अर्थ को प्रकट करने के लिए, आत्मकल्याण के लिए, जो धर्म का व्याख्यान किया जाता है, उसे धर्मोपदेश कहते हैं। यह भी स्वाध्याय का भेद (अंग) है।^{१४} श्री मूलाराधना में भी है^{१५} आचार्यश्री ने (१) परियुणा=परिवर्तना- पढ़े हुए शास्त्र का पाठ करना, (२) जवाचन= वाचना (व्याख्यान) (३) पृच्छना=पूछना (४) अनुप्रेक्षा=बार-बार शास्त्र का चिन्तन-मनन करना और (५) धर्मकथा= ६३ शलाका पुरुषों का चरित्र स्वयं पढ़ना और दूसरों को सुनाना - ये पांच स्वाध्याय के भेद बतलाये हैं।

स्वाध्याय क्यों - किसलिए ?

मानव का चित्त बड़ा चंचल है। यह सदा ही चलायमान रहता है। घड़ी के पेण्डुलम की तरह यह डोलता ही रहता है, स्थिर नहीं रहता। इसकी स्थिरता के लिए तथा अशान्त मन को शान्त तथा समताभावी बनाये रखने के लिए स्वाध्याय आवश्यक है। मुनिश्री तरुणसागर जी ने इस चंचल चित्त को अनेक उपमाओं से अभिव्यक्त किया है। वे कहते हैं कि यह चित्त/ मन चिकनी मछली की तरह है तो हाथों से बार-बार फिसल जाती है। बिना लगाम के घोड़े की तरह है जो सवार को मंजिल तक न पहुँचाकर किसी गर्त में गिरा देता है। यह बहुरूपिया है, नाना रूप बनाता रहता है। यद्यपि यह मनुष्य का है, पर मनुष्य की पकड़ के बाहर है। यह चंचल है, चपल है, वायु से भी अधिक गतिशील है। समुद्र की गहराई को, आकाश की ऊँचाई को मापना और बिजली की गति का आलेख करना कदाचित् आसान है, पर मन की गति मापना संभव नहीं है। अस्तु, चंचलता मन का दुर्गुण है, स्वभाव है, पर इसे रोका जा सकता है। इसे रोकने का/ स्थिर करने का एकमात्र उपाय है सत्-शास्त्रों का स्वाध्याय। आचार्य श्री गुणभद्र जी महाराज ने आत्मानुशासन में कहा है- “मन मर्कट (बंदर) की तरह चंचल है। इसे स्थिर बनाये रखने में स्वाध्याय परम सहायक है। अतः इसे श्रुतस्कन्धरूपी वृक्ष पर सदा रमाये रखना चाहिए अर्थात् श्रुताभ्यास में/ स्वाध्याय में लगाये रखना चाहिए।^{१६}

स्वाध्याय से अच्छे-बुरे का, गुण-दोषों का, भक्ष्य-अभक्ष्य का और हिताहित का सद्विवेक जाग्रत होता है। धर्म में अनुराग, पंच परमेष्ठियों में परम भक्ति एवं श्रद्धान सुदृढ़ होता है। कषायों की मन्दता से परम सन्तोष, आनन्द एवं दया की अभिवृद्धि होती है। अशुभकर्म कटते हैं और पूर्वसंचित पाप गलते/धुलते हैं। फलतः सम्यक्त्व प्रकट होकर मोक्षमार्ग प्रशस्त होता है। भगवती आराधना में आचार्य श्री शिवार्य ने कहा है- ‘साधु जैसे-जैसे अतिशय रस से भरपूर अश्रुतपूर्व श्रुत (शास्त्र) का अवगाहन करते हैं वैसे-वैसे अतिशय नवीन धर्मश्रद्धा से संयुक्त होते हुए परमानन्द का अनुभव करते हैं तथा स्वाध्याय से प्राप्त आत्मविशुद्धि के द्वारा निष्कम्प तथा हेयोपादेय में विचक्षण-बुद्धि होकर यावज्जीवन रत्नत्रयमार्ग में प्रवर्तते हैं।^{१९}

तिलोयपण्णत्ती में आचार्य श्री यतिवृषभ ने भी कहा है- ‘परमागम पढ़ने से सुमेरु-समान निश्चल मूढ़ताओं और शंकादि दोषों से रहित अनुपम सम्यग्दर्शन की प्राप्ति होती है।^{२०} श्री परमात्मप्रकाश में भी कहा गया है कि “ज्ञान प्राप्ति के उपायभूत शास्त्रों का पढ़ना परम्परा से मोक्ष का साधक है।^{२१} आत्मानुशासन में आ.श्री गुणभद्र जी कहते हैं^{२२}- शास्त्ररूपी अग्नि में प्रविष्ट हुआ भव्यजीव मणि के समान विशुद्ध होकर मुक्ति प्राप्त कर लेता है। अर्थात् जैसे पद्मराग मणि आग में तपकर सदा के लिए विशुद्ध/निर्मल हो जाती है उसी प्रकार श्रुताभ्यास से भव्य जीव रागद्वेषादि मल से रहित होकर विशुद्ध होता हुआ मुक्त हो जाता है। सच है, संसार-सिन्धु तिरने के लिए स्वाध्याय सुरक्षित जलयान के समान है।

स्वाध्याय सांसारिक व्याधियों के विनाश के लिए अचूक रामबाण औषधि है तथा समस्त सांसारिक दुःखों का क्षय कर मोक्षसुख को देने वाला है। आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव ने दंसण-पाहुड में कहा है-^{२३} “जिनवचन रूपी औषधि वैषयिक सुखों का विरेचन कर जन्म-मरण के नाश हेतु अमृत के समान है और सभी दुःखों के क्षय का कारण है।” रयणसार में भी कहा^{२४} प्रवचन के सार का अभ्यास=जिनशास्त्रों का स्वाध्याय परमात्मा के ध्यान का कारण है और ध्यान से ही कर्मों का नाश तथा मोक्षसुख की प्राप्ति होती है। प्रवचनसार में भी उन्होंने बताया है कि जैनशास्त्रों के स्वाध्याय से तत्त्वज्ञान और नियम से मोहक्षय होता है। अतः जैनशास्त्रों का सम्यक् रूप से स्वाध्याय करना श्रेयस्कर है।^{२५}

मोक्षमार्ग में श्रुताराधना/श्रुताभ्यास/स्वाध्याय का बड़ा ही महत्वपूर्ण स्थान है। इसी से आचार्य भगवन्तों ने स्थान-स्थान पर इसको करते रहने की प्रेरणा दी है। स्वाध्याय को अन्तरंग तपों में समाहित तो किया ही है, श्रावकों के षडावश्यकों में भी शामिल कर प्रतिदिन नियमतः स्वाध्याय करने की प्रेरणा समस्त श्रावकों को भी दी गई है।^{२६} तीर्थंकर की कारणभूत सोलहकारण भावनाओं में अभीक्षण ज्ञानोपयोग, श्रुतभक्ति, प्रवचनभक्ति भावनाओं के माध्यम से श्रुताराधना के लिए ही प्रेरित किया गया है। क्योंकि श्रुताराधना से ही सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति होती है। जो मोक्षपुरुषार्थ को जाग्रत कर मुमुक्षुओं को मुक्तिमार्ग की ओर अग्रसर करती है। इसी से मोक्षमार्गी मुमुक्षु मुनिराज अभीक्षण ज्ञानोपयोगी रहते हुए सदा ज्ञान-ध्यान-तप में अनुरक्त रहकर प्रशंसा पाते हैं।^{२७}

स्वाध्याय से ज्ञान होता है। ज्ञान से तत्त्वों का संग्रह अर्थात् तत्त्वों का स्पष्ट बोध होता है। तत्त्वबोध से तत्त्वश्रद्धान और सद्भावना जाग्रत होती है।^{२८} जो मुनिराज पांचों प्रकार का

इसी से मनीषियों ने जिनवाणी के माहात्म्य को दर्शाते हुए सतत ज्ञानार्जन करने की प्रेरणा दी है।³⁵ यदि सुख चाहते हो तो श्रुताभ्यास द्वारा अपने ज्ञान का प्रकाश जाग्रत करो;

**‘परिजन धन कुछ न चले, मरण समय में साथ।
ज्ञान अडिग निज की निधि, भव-भव जावे साथ॥’**

वस्तुतः श्रुताभ्यास के बिना चित्त स्थिर शान्त और शुभ ध्यान नहीं होते, विषयों की चाहरूपी दावाग्नि शान्त न होने से संसार-शरीर-भोगों से वैराग्य नहीं होता, हिताहित विवेक जाग्रत नहीं होता, पारमार्थिक हित की बात नहीं समझती और सम्यग्ज्ञान की प्राप्ति भी नहीं हो पाती; जबकि आपत्ति-विपत्ति सुख-दुःख, देश-विदेश, घर-बाहर, सभी जगह जन्म-जरा-मृत्यु-निवारक एकमात्र यह सम्यग्ज्ञान ही हमारे लिए शरणभूत बन्धु/मित्र होता है। जगत के सुख का कारण भी यही है और मोक्ष-प्रदाता भी यही है। इसी से मनीषियों ने सतत् स्वाध्याय करते हुए अपने अज्ञान को दूर करने की प्रेरणा दी है।³⁶

‘श्रुत’ देववाणी- जिनवाणी है जो गुरुओं के माध्यम से हम तक आयी है। अतः देव और गुरुओं की भाँति श्रुत भी हमारे आराध्य हैं। इनकी आराधना हेतु आचार्य भगवन्तों ने शास्त्रों में इसकी विधि/मर्यादाएँ सुनिश्चित की हैं, काल और अकाल की भी विवेचना की है। कब? कहाँ? कैसे? क्या? पढ़ना-पढ़ाना सुनना-सुनाना, व्याख्यान करना आदि।

स्वाध्यायकाल - अहोरात्रि में चार काल स्वाध्याय के बतलाये गये हैं :-

- (१) पूर्वाह्न का स्वाध्यायकाल - सूर्योदय के ४८ मिनट के बाद से मध्याह्न के ४८ मि. पहले तक काल पूर्वाह्न का स्वाध्याय काल है।
- (२) अपराह्न का स्वाध्यायकाल - मध्याह्न के ४८ मिनट के बाद से सूर्यास्त के ४८ मि. पहले तक का काल ‘अपराह्न का स्वाध्यायकाल’ कहलाता है।
- (३) पूर्वात्रि का स्वाध्यायकाल - सूर्यास्त के ४८ मिनट बाद से अर्धरात्रि के ४८ मि. पहले तक का काल ‘पूर्वात्रि का स्वाध्यायकाल’ कहलाता है।
- (४) अपर रात्रिक स्वाध्यायकाल - अर्ध रात्रि के ४८ मि. बाद से सूर्योदय के ४८ मि. पहले तक का काल “अपररात्रिक स्वाध्यायकाल” कहलाता है।

इन चार कालों में यथानुकूल समय निर्धारित कर श्रुताभ्यास करने का विधान शास्त्रों में पाया जाता है। रात्रि में सिद्धान्त ग्रन्थों के स्वाध्याय का पूर्ण निषेध है।

अस्वाध्यायकाल - उपर्युक्त चार सन्धिकाल अस्वाध्याय के काल हैं।

अर्थात् (१) सूर्योदय के ४८ मि. पहले से ४८ मि. बाद तक का काल। इसे “गौसर्विक काल” कहा जाता है। (२) मध्याह्न के ४८ मि. पहले से ४८ मि. बाद तक का काल। इसे प्रादेशिक काल कहते हैं। (३) सूर्यास्त के ४८ मि. से ४८ मि. बाद तक का काल। इसे भी “प्रादेशिक काल या गोधूलि काल” कहा जाता है और चौथा (४) मध्यरात्रि के ४८ मि. पहले से ४८ मि. बाद तक का काल। इसे “वैरात्रिक काल” कहा जाता है। - इन चारों सन्धिकालों में स्वाध्याय करना निषिद्ध है। इन कालों में तीर्थंकर भगवानों की दिव्यध्वनि खिरती है। अतः ये चारों सन्धिकाल स्वाध्याय के लिए उचित नहीं हैं।³⁷ मध्याह्न में अध्ययन/

(४) भावशुद्धि - वक्ता एवं श्रोताओं में क्रोधादि संक्लेश भावों का न होना भाव-शुद्धि है। क्रोध-मान-माया-लोभ, ईर्ष्या-असूया आदि संक्लेश परिणामों से भावों में विशुद्धि और चित्त में स्थिरता नहीं रहती। स्वाध्याय-काल में वक्ता, श्रोता दोनों के परिणामों में विशुद्धि तथा उपशम भावों का होना आवश्यक है। इसके अलावा दोनों को ही खान-पान में संयम रखना भी जरूरी है।

अयोग्य द्रव्यादि में स्वाध्याय के दुष्परिणाम - सुयोग्य- शुद्ध द्रव्य-क्षेत्र-काल- भाव सदैव सुफल। इष्टपरिणाम देने वाले होते हैं। क्योंकि ये वक्ता श्रोता के अन्तस्थल तक प्रभावकारी होते हैं। शुद्ध द्रव्यादि में मन की एकाग्रता और विशुद्धि अधिक होती है। जिसका प्रतिफल भी स्वाध्यायी को अधिक मिलता है। इसके विपरीत जो सून्नार्थ की शिक्षा के लोभ में शुद्ध द्रव्यादि का ध्यान न रखते हुए अयोग्य कालादि में स्वाध्याय करते हैं, वे सम्यक्त्व की विराधना (असमाधि) करते हैं। वे अयोग्य कालादि के प्रभाव से रागी होते हैं और उनके यहाँ क्लेश लड़ाई-झगड़े (कलह) विसंवाद आदि होते ही रहते हैं। पर्व दिवसों में भी स्वाध्याय/ अध्ययन विघ्नकारी, कलहकारी, विद्या उपवास विधि का विघातक तथा गुरु-शिष्य का वियोगकारी होता है।^{४२}

मूलाराधना में^{४३} कहा गया है कि चार प्रकार के सूत्र (गणधर-प्रत्येकबुद्ध- श्रुतकेवली और अभिन्न दसपूर्वी द्वारा कथित सूत्र) कालादि की शुद्धि के बिना संयमियों और आर्यिकाओं को नहीं पढ़ना चाहिए।

पठनीय - इनके अलावा अन्य ग्रन्थ पढ़े जा सकते हैं। जैसे- चारों आराधनाओं के स्वरूप- प्रतिपादक ग्रन्थ, सत्रह प्रकार के मरणों का वर्णन करने वाले ग्रन्थ, स्तोत्र-पाठादि के ग्रन्थ, आहारत्याग के उपदेशकारी ग्रन्थ, षडावश्यक प्रतिपादक शास्त्र और महापुरुषों के चरित्र के प्रतिपादक ग्रन्थ कालशुद्धि आदि के बिना भी पढ़े जा सकते हैं। अस्तु सिद्धान्तशास्त्रों में इसी तरह से कालादिशुद्धि का विधान वर्णित है।

स्वाध्याय का प्रतिष्ठापन और निष्ठापन - शुभ ध्यान और संवर-निर्जरा में कारणभूत स्वाध्याय अन्तरंग तपों में उत्तम तप है। यह स्वाध्यायी को सुसंस्कारी भी बनाता है। जैनशास्त्रों में श्रमण और श्रावक दोनों को ही विधिपूर्वक स्वाध्याय करने की प्रेरणा आचार्य भगवन्तों ने दी है। श्री धवला पुस्तक ९ में कहा है कि स्वाध्याय का प्रतिष्ठापन (प्रारंभ) दिन और रात की चारों बेलाओं (पूर्वाह्न अपराह्न पूर्वरात्रिक अपर रात्रिक) में हाथ-पैरों की शुद्धि, क्षेत्रशुद्धि, दिग्विभागों की शुद्धि करके विशुद्ध प्रशान्त मन और उपशान्त भावों के साथ प्रासुक स्थान में बैठकर बाजू, कांख, पैर आदि अंगों का स्पर्श न करते हुए लघु श्रुत भक्ति और आचार्य भक्ति का पाठ करके करना चाहिए। इसके बाद एक निश्चित समय तक पूर्णमनोयोग से यत्नपूर्वक अध्ययन करके लघु श्रुत भक्ति के पाठ के साथ इसका निष्ठापन (समापन) करना चाहिए^{४४}। स्वाध्याय में ज्ञानाचार के आठ अंगों का परिपालन भी अवश्य होना चाहिए। इस तरह विधि ओर मर्यादापूर्वक किया गया स्वाध्याय ही कार्यकारी- इष्ट फलदायी होता है।

दिग्विभाग की शुद्धि - श्री मूलाचार- (गाथा २७३) में कहा गया है^{४५}- कि पूर्वाह्न, अपराह्न और प्रदोष कालों के स्वाध्याय करने में दिशाओं के विभागों की शुद्धि के लिए नौ,

(४) बहुमानाचार - शास्त्रों में जो जैसे प्रतिपादन है, उसका वैसा ही उच्चारण करते हुए स्वयं पढ़ना और अन्यो को भी पढ़ाना तथा शास्त्रों की/ गुरुओं की/ आचार्यों की/ मुनिराजों की भी आसादना नहीं करना, उन्हें आदर-सूचक वचनों से बहुमान करते हुए बोलना यही बहुमानाचार (शुद्धि) है।^{१२}

(५) अनिहवाचार - मूलाचार में कहा है^{१३} - जिस गुरु से शास्त्र को पढ़ा-समझा है, उनका नाम न छिपाना “अनिहवाचार” है। जो अपने गुरु का नाम छिपाकर कहते हैं कि “यह शास्त्र हमने स्वयं पढ़कर जाना-समझा है” वे शास्त्रानिहव और गुरु-निहव दोष के भागी होते हैं। जिनसे महान कर्मबन्ध होता है। अतः गुरु का नाम नहीं छिपाना चाहिए।

(६) व्यंजनाचार (७) अर्थाचार (८) तदुभयाचार^{१४} - शास्त्रों के अक्षर-वाक्य-पदों को शुद्ध पढ़ना-शुद्ध-उच्चारण करना व्यंजनाचार (शुद्धि) है उन सूत्रों/शास्त्रों/ अक्षर-पद-वाक्यों का अर्थ भी शुद्ध समझना- अर्थाचार (अर्थशुद्धि) है और इन्हें शुद्ध पढ़ना और शुद्ध अर्थ करना-समझाना-तदुनयाचार (शब्द और अर्थ की शुद्धि) है। शास्त्रों को इन शुद्धियों पूर्वक पढ़ने-पढ़ाने से ज्ञान विशुद्ध हो जाता है।

शुद्धियों पूर्वक पढ़ा गया शास्त्र प्रमादवश विस्मृत हो जाने पर भी वह अन्य जन्म में स्मरण आ जाता है औ केवलज्ञान कराने में भी निमित्त बनता है। अतः कालादि की शुद्धिपूर्वक ही शास्त्रों का स्वाध्याय करना चाहिए।^{१५}

वक्ता एवं श्रोता - जैनशास्त्रों में वक्ता एवं श्रोताओं के गुणों/योग्यताओं का भी उल्लेख किया गया है। तदनुसार वक्ता/व्याख्याता को शब्दशास्त्र एवं विषय-मर्मज्ञ, विनम्र निर्लोभी, न्यायवृत्ति वाला, ख्याति-लाभ-पूजादि की चाह से निरपेक्ष, स्वपर-हित की भावना वाला, सन्तोषी, देशकाल की परिस्थिति का ज्ञाता, श्रोताओं की योग्यताओं/ क्षमताओं को समझने वाला, प्रश्न-सहिष्णु, वात्सल्यमयी, क्षमाशील, मृदुभाषी, जिनश्रद्धानी तथा सात्त्विक आहार विहारी होना चाहिए।

श्रोताओं को भी जिन वचनों का श्रद्धानी, तत्त्वजिज्ञासु, निश्छल, विनम्र, व्यसनमुक्त, अष्टमूलगुण-पालक, षडावश्यक कर्तव्यों का कर्ता, निर्मल उपयोग और न्यायवृत्ति वाला, क्षमाशील, सन्तोषी, सरल, सात्त्विक आहारी और सदाचारी होना चाहिए।

उपसंहार- श्री धवला पु. ९ में^{१६} श्रुत के माहात्म्य को दर्शाते हुए इसके सतत स्वाध्याय की प्रेरणा दी गई है- “जिनवचन/जैनागम अज्ञानविनाशक, मोहनाशक, कर्म-मार्जक, भव्यात्माओं को आह्लादकारी और मुक्ति पथ-प्रदर्शक हैं। अतः इन्हें खूब भजो।” अस्तु श्रुततीर्थ की मोक्षमार्ग की श्रमण परम्पा अक्षुण्ण बनी रहे, जैनधर्म प्रवर्धमान रहे, श्रमण संस्कृति कायम रहे- एतदर्थ चतुर्विध संघ में सतत श्रुताभ्यास की परम्परा सुदृढ़ बनी रहनी चाहिए। आगम-ज्ञान के अभाव में शिथिलाचार पनपता और बढ़ता है, भ्रान्तियाँ फैलती हैं, मिथ्या मान्यताओं का पोषण होता है, समाज में विघटन होता है। अतः ज्ञानार्जन हेतु आज नियमित स्वाध्याय की/ शास्त्र सभाओं की/ तत्त्वगोष्ठियों में चर्चाओं की/ सेमिनारों और वाचनाओं की/ शिक्षण-प्रशिक्षण शिविरों के आयोजनों की महती आवश्यकता है। चारों अनुयोगों के रूप में विपुल साहित्य आज हमें उपलब्ध है। उसे योग्यकाल में भक्तिभाव से खूब पढ़ो-पढ़ाओ।

२५. 'जिणवयणमोषणमिणं विसयसुह-विरेयणं
अमिदभूदं।
जर-मरण-वाहि-हरणं खयकरणं
सव्वदुक्खाणं॥१७॥ - दंसणपाहुड
२६. 'पवयणसारब्भासं परमप्पाज्झाण-कारणं
जाणं।
कम्मकखवण-णिमित्तं कम्मकखणेहि
मोक्खसोक्खं हि॥११॥ रयणसार
२७. जिणसत्थादो अट्ठे पच्चक्खा दीहिं बुज्झदो
णियमा।
खीयदि मोहोवचयो तम्हा सत्थं
समधिदव्वं॥८६॥ - प्रवचनसार
२८. 'देवपूजा गुरुपास्ति स्वाध्यायः संयमस्तपः
दानं चेति गृहस्थानो षट् कर्माणि
दिने-दिने॥
२९. ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तः तपस्वी स
प्रशस्यते॥९०॥ रत्नकरण्डकश्रावकाचार
३०. 'स्वाध्यायाज्-जायते ज्ञानं
ज्ञानतत्त्वार्थसंग्रहः।
तत्त्वार्थसंग्रहोदेव श्रद्धानं
तत्त्वगोचरम्॥२०॥ सिद्धान्तसार
३१. उपदेशमाला - ३३८-३३९।
३२. 'णिउलं विउलं शुद्धं णिकाचिदमणुत्तरं च
सव्वहिदं।
जिणवयणं कलुसहरं अहो य रत्ती य
पढिदव्वं॥९८॥ भ० आराधना
३३. 'स्वाध्यायान्मा प्रमदितव्यम्'
३४. 'सज्झाए वा निउतेणं
सव्वदुक्खविमोक्खणे'
३५. धवला- ९/४, १, १/३/१, - ९/५, ५, ५,
५०/२८१/३, - १/१, १, १/५६/३
३६. 'शान्तिसुधा बरसावै जिनवाणी, वस्तुस्वरूप
बताये जिनवाणी॥'
-अज्ञानतिमिरं हन्ति, विद्या
बहु-विकासिनी'।
३७. 'ज्ञान समान न आन जगत में सुख को
कारन। इह परमामृत
जन्म-जरा-मृत-रोग-निवारन'
(छहढाला - दौलतराम)
३८. भगवती आराधना - २०५२/१७८४
३९. धवला - ९/४, १, ५४, ११०, १०७, १०८,
११३, ११४
४०. मूलाचार - २७४-२७५
४१. 'रुधादि-पूय-मंसं, दव्वे खेत्ते
सद-हाथ-परिमाणं।
- क्रोधादि-संकिलेसा, भाव-विसोही
पढण-काले॥२७६॥ - मूलाचार
- धवला - ९/४, १, ९९, १००, १०१, १०२,
१०५, १०६
४२. धवला - ९/४, १, ५४/११९
४३. मूलाराधना - २७७-२७९।
४४. एत्थ वक्खाणसेहिं सुणंतेहिं वि
दव्व-खो त्त-काल-भाव-सुद्धीहि
वक्खाण-पढण वावरो कायव्वो
तत्र॥ धवला पु. ९ पृ. २५३
४५. धवला - ९/४, १ १०७, १०८
४६. णव-सत्त-पंच-गाहा-परिमाणं
दिसिविभागसोहीए।
पुव्वहे अवरहे प्रदोसकाले य
सज्झाए॥२७३॥ - मूलाचार
४७. मूलाचार गाथा २६७, २६८
४८. मूलाचार - गाथा २६६ पृ. २२२।
४९. मूलाचार - २८१, पृष्ठ- २३८
५०. मूलाचार- गाथा २८२
५१. वही- २८
५२. वही- गाथा-२८४
५३. मूलाचार - गाथा २८५ ?
५४. वही, गा. २८६
५५. प्रश्नोत्तर संग्रह भ. २ पृष्ठ ३०-३२
५६. धवला - १/१ गाथा ५० एवं ५१

- कानूनगो वार्ड, कुवां वाली बाखर,
बीना-४७०११३ (मध्यप्रदेश)

भगवान ऋषभदेव के पश्चात् एक लम्बे समय तक प्रकृति में पर्यावरण संतुलन की स्थिति बनी रही।

पारिस्थितिकी तंत्र -

पारिस्थितिकी तंत्र के अंतर्गत प्रकृति के विभिन्न घटकों का उनके उत्पत्ति स्थान अथवा निवास के अंतर्गत ही अध्ययन किया जाता है। ओइम (१९६३) नामक वैज्ञानिक ने इसकी परिभाषा देते हुये कहा कि यह समस्त जीवों का आपसी (परस्पर) एवं उनके आसपास मौजूद अजैविक पदार्थों से सम्बन्ध ही है। उन्होंने कहा कि जैविक एवं अजैविक घटकों में सतत रूप से विभिन्न पदार्थों का आदान-प्रदान चलता रहता है जिसे कि 'पदार्थों का चक्रण' कहा जाता है। यदि पर्यावरण के विभिन्न संघटक व्यवस्थित रूप में हों तब वहाँ का पारिस्थितिकी तंत्र सुदृढ़ होता है। अव्यवस्थित होने पर यही अवयव समूचे पर्यावरण को अनुपयोगी एवं प्रदूषण युक्त बना देते हैं।

जैन धर्म के सिद्धान्त -

सबसे पहिला एवं प्रमुख जैन सिद्धान्त "अहिंसा" का पालन करना है। सबसे मुख्य बात यह है कि जैन धर्म में बड़े जीवों की अहिंसा के साथ सूक्ष्मतम निगोदिया जैसे जीवों के संरक्षण को भी प्रमुख कर्तव्य बताया गया है। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से भी सिद्ध हो गया है कि बैक्टीरिया जैसे सूक्ष्मतम एवं अदृश्य जीवों को प्रकृति की विभिन्न क्रियाविधियों के संचालन में महती भूमिका होती है। जमीन की उर्वराशक्ति बढ़ाने, वातावरण की नाइट्रोजन को प्रोटीन जैसे तत्वों में परिवर्तित करने, विशाल वृक्षों की जड़ों में रहकर उनकी वृद्धि में सहायक होने, अनेक प्रकार की जीवन रक्षक दवाओं के निर्माण, दुग्ध उद्योग आदि में इन बैक्टीरिया की महती आवश्यकता होती है। इसी प्रकार अनेक प्रकार की सूक्ष्म फफूंदियां भी प्रकृति की अनेक क्रियाविधियों में प्रमुख भूमिका निभाती हैं। आंकड़ों के अनुसार इस पृथ्वी पर लगभग १३-१४ मिलियन (१ मिलियन ३ दस लाख) प्रजातियों के जीव मौजूद हैं। यह स्वयं के परिस्थितिकीतंत्र में रहकर ही अपना समुचित जीवन यापन कर सकते हैं। थोड़ा सा भी परिवर्तन इन जीवों को संकट में डालने के लिये काफी होता है। उदाहरण के तौर पर वर्तमान में हो रहे "ग्लोबल वार्मिंग" के कारण हजारों जलीय एवं स्थलीय पशु-पक्षियों का जीवन संकटापन्न स्थिति में आ गया है।

"परिग्रह" को जैन धर्म में पापरूप माना गया है। यहां परिग्रह का अर्थ है कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संग्रहण अथवा उपयोग करना। वास्तव में जैनधर्म का यह सिद्धान्त ही इस प्रकृति के विनाश को काफी हद तक बचा सकता है। आवश्यकता से अधिक संग्रहण के कारण ही वनों का विनाश एवं प्रदूषण जैसी समस्याएँ उत्पन्न हुई हैं। जैनधर्म तो श्रावकों को परिग्रह मर्यादा के पालन का उपदेश सर्वप्रथम ही देता है।

वनस्पतियों में कीड़े एवं अन्य सूक्ष्म जीवों की बहुलता रहती है। चूँकि वनस्पतियाँ शैशव अवस्था में होती हैं अतः उनमें कई प्रकार के अपरिपक्व रसायनिक तत्व होते हैं जो कि सेवन करने पर हानिकारक हो सकते हैं। अतः प्रत्येक दृष्टिकोण से उक्त माह में वनस्पतियों का सेवन हानिकर है।

रात्रि भोजन -

वर्तमान में वैज्ञानिकों ने सिद्ध कर दिया है कि सूर्यास्त होते ही वातावरण अनेक प्रकार के सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। इनमें कुछ विशेष प्रकार की फफूंद एवं बैक्टीरिया प्रमुख हैं जो कि स्वास्थ्य के लिये हानिकारक होते हैं।

उक्त उदाहरण तो अल्पमात्र है। अगर समूचे जैनधर्म के सिद्धान्तों का अवलोकन करें तो पाते हैं कि वहाँ हर कदम पर पर्यावरण संरक्षण पर विचार किया गया है एवं सुखी जीवन यापन हेतु उचित एवं पाप रहित नियम बताये गये हैं। जैन साधु तो वास्तव पर्यावरण संरक्षण के महान् प्रतीक हैं। जिनके किसी भी क्रिया-कलापों से पर्यावरण का कोई भी सिद्धान्त नष्ट नहीं होता है।

- वानस्पतिकी अध्ययनशाला,
जीवाजी विश्वविद्यालय, ग्वालियर-४७४०११ (म.प्र.)

व्यवहार अभूतार्थ है अर्थात् विशेषता को दृष्टि में रखकर विषमता को पैदा करने वाला है किन्तु शुद्धनय भूतार्थ है क्योंकि वह समता को अपनाकर एकत्व को लाता है। समता को अपनाकर ही सम्यग्दृष्टि अर्थात् समीचीनतया देखने वाला होता है।

यहाँ भूत का अर्थ- सत् (विद्यमान) है और अभूत का अर्थ असत्- (अविद्यमान) है अथवा भूत का अर्थ सत्य-वास्तविक औ अभूत का अर्थ असत्य-अवास्तविक है। ऐसे सत्-विद्यमान और सत्य पदार्थ भूतार्थ है, उनको जानने वाला नय की भूतार्थ है, उसी प्रकार से असत्-अविद्यमान अथवा असत्य-पदार्थ अभूतार्थ हैं, उनको ग्रहण करने वाला नय भी अभूतार्थ है।^१ गुण-गुणी में भेद करने वाला व्यवहार होता है और अभेद करने वाला निश्चय होता है। जहाँ तक गुण-गुणी में भेद है, वहाँ तक अभूतार्थ संज्ञा है और जहाँ से अभेद प्रकट होती है वहाँ पर भूतार्थ है। क्योंकि शुद्धनय तो अभेद मात्र को ही विषय करता है अतः उसकी दृष्टि में शुद्ध गुणों के भेद भी असत्-अविद्यमान या असत्य ही है।^२ इसी विषय को स्पष्ट करते हुए देशनाकार आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज कहते हैं कि आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव निश्चय को ही भूतार्थ कहना चाहते हैं, विभाव अभूतार्थ है। जो उस निश्चय भूतार्थ को स्वीकारता है, वह सम्यग्दृष्टि है।^३ देशनाकार लौकिक उदाहरण के द्वारा समझाते हैं कि जिसका अनादिकाल से सेवन किया हो, उसका उस पर राग होता है जरा भी निश्चय की प्रधानता से कथन हुआ तो जीव घबड़ाने लगता है कि व्यवहार का लोप हो जायेगा। लोप किसी का होता ही नहीं है। विभाव है, था, रहेगा। लेकिन सत्यार्थ नहीं है एक जीव की अपेक्षा कथन नहीं किया है। सामान्य अपेक्षा कथन है। मिथ्यात्व है, था, रहेगा। इसी प्रकार सम्यक्त्व है, था, रहेगा। मिथ्यात्व का विनाश ही तो सम्यक्त्व है। यदि मिथ्यात्व नहीं होता तो संसार नहीं रहता, कुलिंगी न दिखते, जिनलिंग में दीक्षित होने के उपरान्त भी नाना परिणाम बुद्धि में चल रहे हैं यह क्या सम्यक्त्वपना है, जो अनेक-अनेक अपनी-अपनी आम्नाय चला बैठे। यहाँ प्रवचन में मुनियों को सावधान करने का भाव दिख रहा है। सम्यक्त्व का अभाव ही मिथ्यात्व है। यदि सम्यग्दृष्टि जीव दिख रहे हैं, वे मिथ्यात्व की सूचना दे रहे हैं और जो मिथ्यादृष्टि दिख रहे हैं वे सम्यग्दृष्टि की सूचना दे रहे हैं। अर्पितानर्पितसिद्धेः” एक अर्पित तो एक अनर्पित। व्यवहार जो है, अभूतार्थ है और जो निश्चय है, वह भूतार्थ है। विभाव अभूतार्थ क्यों है? निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार अभूतार्थ है, परन्तु व्यवहार अपेक्षा से निश्चयभूतार्थ है। व्यवहार में निश्चय को अभेद करा दोगे तो वह निश्चय नहीं अभूतार्थ हो जायेगा। यहाँ पर आचार्य श्री अमृतचन्द्रसूरि के अमृतकलश के एक कलश को प्रस्तुत कर समझाते हुए देशनाकार कहते हैं- अहो ज्ञानी! मिट्टी का घट है, परन्तु घट घी का कहा जाता है-

घृतकुम्भाभिधानेऽपि कुम्भो घृतमयो न चेत्।

जवोवर्णादिभ्यज्जीवो जल्पनेऽपि न तन्मयः॥^४

लोक में घृत के रखने के कारण मिट्टी के घड़े को भी घी का घड़ा है” ऐसा उसमें व्यवहार करते हैं, पर वह अपेक्षित कथन है, परमार्थ ऐसा नहीं है। परमार्थ से वह मिट्टी का ही घड़ा है। इसी प्रकार शरीरस्थ होने से जीव काला-गोरा या एकेन्द्रिय-नर नारक कहा जाता है, पर द्रव्य भेद से देखो तो जीव तो इस पुद्गल प्रकृति से भिन्न चैतन्यस्वरूप है, वह वर्णदि

इस भूतार्थ और अभूतार्थ के समझाने में आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज की प्रज्ञा विलक्षण है, उन्होंने आचार्य श्री कुन्दकुन्ददेव की गाथा-

भूयत्थेणाभिगदा जीवा जीवा य पुणपावं च।

आसवसंवरणिज्जर बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥३॥समयसार॥ का भाव स्पष्ट करते हुए समझाया है कि वही द्रव्य भूतार्थ है वही अभूतार्थ भी है और युगपत् व्यवहार दृष्टि से भी लौकिक कार्यों में भी एक ही द्रव्य भूतार्थ भी होता है, अभूतार्थ भी होता है। इसको एक लौकिक उदाहरण के माध्यम से समझा जा सकता है। जैसे किसी को भूख लगी है, तो उसको भोजन भूतार्थ है, यदि उसका उपवास है, तो उसे वही भोजन अभूतार्थ है। ऐसे ही आत्मा जब अशुभ भाव में परिणमन करे तो अभूतार्थ है और वही आत्मा शुभभाव में परिणमन करे तो भूतार्थ है। जब आत्मा की परिणति स्वभाव अभिमुख हो जाय तो भूतार्थ है और स्वभाव से विमुख हो जाय तो अभूतार्थ है।

यहाँ देशनाकार द्वारा शुभभाव में परिणत आत्मा को भी भूतार्थ कहा है, जो युक्ति सम्मत प्रतीत नहीं होता है क्योंकि आचार्य श्री कुन्दकुन्द देव का भाव तो स्वभाव में परिणत आत्मा को भूतार्थ कहना प्रतीत होता है।

आचार्य वर्य और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं कि व्यवहारनय अभूतार्थ है और भूतार्थ भी है। केवल व्यवहार ही भूतार्थ अभूतार्थ नहीं है शुद्ध निश्चयनय भी भूतार्थ भी है, अभूतार्थ भी है। यह समझ में आ जाय तो विसंवाद समाप्त हो जाये। विसंवाद क्यों हो रहा है? एक नय से कह देते हैं कि व्यवहार तो अभूतार्थ ही है, निश्चय भूतार्थ ही है। नहीं, निश्चय तो निश्चयनय की अपेक्षा से भूतार्थ ही है, व्यवहार की अपेक्षा से निश्चय अभूतार्थ है, निश्चय की अपेक्षा से व्यवहार अभूतार्थ है। व्यवहार तो व्यवहार की अपेक्षा से भूतार्थ ही है। क्यों है? जो व्यवहार व्यवहार ग्रहण कर रहा है, उसे निश्चय ग्रहण नहीं करता। एक उदाहरण इस प्रकार समझाया है कि रोटी तो रोटी है, पुड़ी तो पुड़ी है, दोनों गेहूँ के आटे रूप द्रव्य से बनी है, पर दोनों की पर्याय की प्रत्यासति भिन्न-भिन्न है। दोनों के स्वाद की भी भिन्नता है। जिसको पुड़ी रुचती है उसके लिए रोटी अभूतार्थ है और जिसको रोटी रुचती है उसको पुड़ी अभूतार्थ है।

जिसकी योग्यता निश्चय में है नहीं, उसके लिए व्यवहार ही भूतार्थ है। जो शुद्धात्मा को जानने की योग्यता नहीं रखते उन्हें देव-शास्त्र-गुरु की पूजा करना मिथ्यात्व से बचना भूतार्थ है। लेकिन जैसे मलेच्छ के लिए स्वस्ति शब्द अभूतार्थ है उसी प्रकार जिसने शुद्धात्मा को नहीं समझा उसे निश्चय अभूतार्थ है। परन्तु परमशुद्धोपयोगी ज्ञानी के लिए भूतार्थ है। इस भूतार्थ- अभूतार्थ दृष्टि को आचार्य अमृतचन्द्र देव और आचार्य जयसेन तो खुलासा किया ही है, आचार्य श्री विशुद्धसागर महाराज ने लौकिक उदाहरणों से समझना आसान कर दिया

भूतार्थदृष्टि भूतार्थनय-निश्चय नय का आश्रय लेने वाले की होती है। निश्चयनय की विवक्षा से सम्यक्त्व का स्वरूप बतलाने के लिए ही आचार्य कुन्दकुन्ददेव ने कहा है-

भूयत्थेणाभिगदा जीवा जीवा य पुण्ण-पावं च।

आसव-संवर-णिज्जर-बंधो मोक्खो य सम्मत्तं॥

उसकी ये सब अवस्थाएँ सत्यार्थ है, इनका अभाव नहीं है, तथापि वे अवस्थाएँ कर्म निमित्तविकारी पर्यायें हैं। अतः जीव के स्वभाव रूप नहीं है। जब जीव द्रव्यकर्म, भावकर्म, नोकर्म रहित होगा, तब वह शुद्ध परिणमन स्वरूप कहलायेगा।

हाँ, निश्चयनय का अवलम्बन लेना उत्तम है। जैसे बादाम का हलुआ उत्तम है किन्तु जिसे मोतीझरा (ज्वर) हुआ हो और उससे उसकी लीवर बिगड़ गया हो, उसे कुशल वैद्य मूंग की दाल का पानी ही पीने को कहेगा बादाम का हलुआ नहीं। उसी प्रकार सामान्य अनगार मुनि स्थविरकलपी मुनि तक पुरुष इस ज्वर के रोगी के समान है, उनके लिए पथ्य रूप में अध्यात्म भावना का चिंतन ही उपयोगी है बल्कि ज्वरनाशक जिनभक्ति गुरु उपासना ही औषधि है। पश्चात् जिनकलपी मुनि होने पर - उत्तम संहनन की प्राप्ति होने पर निर्विकल्प ध्यान रूप शुक्लध्यान में स्थिर होने की सामर्थ्य आ जाने से शुद्धनय का आश्रय लेकर वीतराग सम्यग्दृष्टि बन जाते हैं।

इस प्रकार सम्यक्त्व के स्वरूप का आश्रय लेकर आचार्यों ने व्यवहार को अभूतार्थ और भूतार्थ लेकर आचार्यों ने व्यवहार को अभूतार्थ और भूतार्थ सिद्ध किया तो निश्चय को भूतार्थ और अभूतार्थ बताया केवल अपेक्षा के आश्रय से ही यह भूतार्थ और अभूतार्थ दृष्टि का परिज्ञान हो सकता है।

संदर्भ :

१. समयसार गाथा-११
२. समयसार- आर्यिका ज्ञानमती माताजी, प्रथम भाग, पृष्ठ-५७
३. वही
४. समयदेशना, पृष्ठ-१६२, प्रथम भाग
५. तत्त्वार्थसूत्र ५/३२
६. अध्यात्म अमृत कलश ४०
७. समयदेशना प्रथम भाग, पृष्ठ-१६४
८. समयसार टीका - ब्र. शीतलप्रसाद, पृ. १२
९. समयदेशना, पृष्ठ-२०२

- अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,
दि. जैन कॉलिज, बड़ौत
जिला-बागपत (उत्तरप्रदेश) २५०६११

सत्य (Absolute Truth) का अनुभव किया। आत्मिक और बौद्धिक चिंतन वर्तमान विज्ञान में Thought Experiment के नाम से जाने जाते हैं, जिसका प्रयोग कर आइंस्टाइन ने सापेक्षता के सिद्धान्त की पुष्टि की। उन्नीसवीं और बीसवीं शताब्दि में वैज्ञानिकों ने महावीर द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्तों की पुनः खोज की और आइंस्टीन, बोहर, हायझेन बर्ग, मैक्स बार्न, डीब्रोली जैसे अनेक वैज्ञानिक ई० सन् १९८५ के बाद नोबल पुरस्कार से सम्मानित किये गये।

जिनवाणी में सत् का प्रतिपादन है और यही 'सत्' आज का विज्ञान है। दिगम्बर और श्वेताम्बर सम्प्रदायों में सैद्धान्तिक और वैचारिक मतभेद नहीं है। मतभेद है आचार संहिता में। यदि जिनवाणी को विज्ञान के आलोक में ग्रहण किया जाय तो दोनों सम्प्रदायों के विचार-आचार में मैतक्य स्थापित हो सकता है।

जिनवाणी के वैज्ञानिक स्वरूप का परिचय इस व्याख्यान में दिया गया है। भगवान महावीर की वैज्ञानिकता इन तथ्यों से सिद्ध होती है -

- १) आकाश, लोक और अलोक की जैन मान्यता एवं वैज्ञानिकों द्वारा प्रतिपादित क्रमशः Cosmic Space Observable Space और Empty Space में पूर्ण समानता है।
- २) द्रव्य सत्ता, द्रव्यों की नित्यता, अनित्यता, गुण-लक्षण द्रव्यों का परमाणु और प्रदेश स्वरूप, स्कन्ध, स्कन्ध निर्माण के नियम आदि विषयों पर भी दोनों में मैतक्य है।
- ३) परमाणु और चेतन तत्व जीव-अजीव पदार्थों का निर्माण 'उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य' सिद्धान्त के अनुसार वैसे ही करते हैं जैसे Atom और Energy विज्ञान के Law of Conservation of Mass and Energy के अंतर्गत करते हैं।
- ४) द्रव्यों के अस्तिकाय, परमाणु और प्रदेश स्वरूप का कथन कर भगवान महावीर ने Dual Nature of Matter का सिद्धान्त और क्वांटम थ्योरी की नींव रख दी।
- ५) महावीर का परमाणु विज्ञान का 'क्वांटा' है, अष्टस्पर्शी परमाणु एटम है और चर्तुस्पर्शी कर्मण परमाणु विज्ञान का फोनान (Phonon) है।
- ६) स्कंध निर्माण का 'परमाणु-परमाणु' बंध और जीव उत्पत्ति का 'परमाणु-प्रदेश' बंध वैज्ञानिक अवधारणा से भिन्न नहीं है।
- ७) भगवान महावीर ने जन्म और मृत्यु की प्रक्रिया जीव-विज्ञान की अवधारणा के अनुरूप प्रस्तुत की है।

रात्रिभोजन निषेध का वैज्ञानिक एवं आरोग्यमूलक विश्लेषण

प्राचार्य पं. निहालचंद जैन

श्रावक हो या साधु, दोनों को ही व्रतों की रक्षा के लिए अनस्तमित अर्थात् दिवा भोजन नामक व्रत का पालन करना आवश्यक है। त्याग पूर्वक व्रताचरण में जीवन व्यतीत करने वाला श्रावक ही बुद्धिमान है।

रात्रि में भोजन करने वालों के अनिवार्य रूप से हिंसा होती है। अत्याग में रागभाव के उदय की उत्कृष्टता होती है। कृत्रिम प्रकाश में सूक्ष्म जीवों की और अधिक उत्पत्ति हो जाती है, जो भोज्य पदार्थों में अनिवार्य रूप से मिल जाते हैं। अहर्निश भोजी पुरुष राग की अधिकता के कारण अवश्य हिंसा करता है।

छठी प्रतिमा रात्रि भुक्ति त्यागी की होती है जिसमें श्रावक-अन्न, पान, स्वाद्य और लेह इन चारों प्रकार के आहार को ग्रहण नहीं करता है।

श्रावक की पहचान तीन बातों से हैं- देवदर्शन, स्वच्छ वस्त्र से जल छानकर पीना और रात्रि-भोजन-त्याग। श्रावक द्वारा व्रतों के पालन करने का मूल उद्देश्य होता है, अहिंसा धर्म की रक्षा करना। सागार (श्रावक) हो अथवा अनगार (साधु) दोनों को ही व्रतों की रक्षा के लिए अनस्तमित अर्थात् दिवा भोजन नामक व्रत का पालन करना आवश्यक है।

सागारे वाऽनगारे वाऽनस्तमितमणुव्रतम्।

समस्तव्रत रक्षार्थं स्वर व्यंजन भाषितम्॥

संसार में वही श्रावक है, वही व्रती और बुद्धिमान है जो त्यागपूर्वक व्रताचरण में जीवन व्यतीत करता है। श्रावक के मूल गुणों में स्थूल रूप से रात्रि भोजन का त्याग करना, अनुभव और आगम से सिद्ध है। श्रावक के व्रतों का आरोहण उत्तरोत्तर ग्यारह प्रतिमाओं के अनुपालन करने में है। व्रतों में प्रवेश रात्रि भोजन निषेध से ही प्राप्त होता है। प्रथम दार्शनिक प्रतिमा में अन्नादिक स्थूल भोजनों का त्याग कहा है और इसमें रात्रि को औषधि रूप जल आदि ग्रहण किया जा सकता है।

निषिद्धमन्नमात्रादि स्थूल भोज्यं व्रते दृशः।

न निषिद्धं जलाद्यन्न ताम्बूलाद्यपि वा निशि९।

वस्तुतः पहली प्रतिमा को धारण करने वाला श्रावक अव्रती है। इसलिए वह पाक्षिक श्रावक कहलाता है। क्योंकि वह व्रतों को धारण करने के पक्ष में रहता है। रात्रि भोजन

६. भोजन पकते समय भोज्य की गंध वायु में फैलती है, उस वायु के कारण उन पात्रों में अनेक जीव आकर पड़ते हैं। अतः दयाधर्म पालन करने वाले पुरुषों को, रात्रि भोजन को विष मिले अन्न के समान मानकर सदा के लिए त्याग कर देना चाहिए।
रात्रि भोजन के पाप से मनुष्य नीच कुलों में दरिद्री के रूप में उत्पन्न होता है। उस पाप से अनेक दोषों से परिपूर्ण राग द्वेष से अंधी, शील रहित, कुरूपिणी और दुख देने वाली स्त्री मिलती है। बुरे व्यसनों में रंगे हुए पुत्र और क्लेश देने वाले भाई बन्धु मिलते हैं। वह भव-भव में दरिद्री, कुरूप, लंगड़ा, कुशीली, अपकीर्ति फैलाने वाला, बुरे व्यसनों को सेवन करने वाला, अल्पायु वाला, अंग-भंग शरीर वाला, दुर्गितियों में जाने वाला, कुमार्ग मागी और निंद्य होता है। अतः रात्रि में आहार का त्याग कर देने से वह अपनी इंद्रियों को वशीभूत करके संयमी बनता है।
७. जो पुरुष सूर्य के अस्त हो जाने पर भोजन करते हैं, उन पुरुषों को सूर्य द्रोही समझना चाहिए। जैसा कि धर्म संग्रह श्रावकाचार में कहा गया है -

**यो मित्रेऽस्तंगते रक्ते विदध्याद्भोजनं जन।
तद् द्रोही स भवत्पापः शवस्योपरिचाशनम्॥२६॥^{१९}**

रात्रि भोजन निषेधः वैज्ञानिक दृष्टिकोण -

सूर्य प्रकाश पाचन शक्ति का दाता है। जिनकी पाचन शक्ति कमजोर पड़ जाती है, उसके लिए डॉक्टर की यही सलाह है कि वह दिन में हल्का भोजन करें। उसके लिए रात्रि में भोजन करने का निषेध किया जाता है। रात्रि के समय हृदय और नाभि कमल संकुचित हो जाने से भुक्त पदार्थ का पाचन गड़बड़ हो जाता है। भोजन करके सो जाने पर वह कमल और भी संकुचित हो जाता है और निद्रा में आ जाने से पाचन शक्ति घट जाती है।

आरोग्य शास्त्र में भोजन करने के बाद तीन घंटे तक नहीं सोना चाहिए। सूर्य के प्रकाश में नीले आकाश के रंग में सूक्ष्म कीटाणु स्वतः नष्ट हो जाते हैं। रात्रि में कृत्रिम प्रकाश जितना तेज होता है उसी अनुपात में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति उतनी ही अधिक होती है जो भोजन में गिर जाते हैं जिससे हिंसा का पाप तो लगता ही है साथ ही अनेक असाध्य रोग पेट में उत्पन्न हो जाते हैं।

सूर्य के प्रकाश में अल्ट्रावायलेट किरणें एवं अवरक्त लाल किरणें होती हैं। जिस प्रकार एक्स-रे मांस और चर्म को पार कर जाती हैं उसी प्रकार उक्त दोनों प्रकार की किरणें कीटाणुओं के भीतर प्रवेश कर उन्हें नष्ट करने की शक्ति रखती हैं। यही कारण है कि दिन में सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति नहीं होती है। उक्त दोनों प्रकार की किरणें सूर्य के दृश्य प्रकाश के साथ रहती हैं।

जैसा कि हम जानते हैं कि ऑक्सीजन प्राण वायु होती है श्वास लेने में लाभकारी और उपयोगी है तथा कार्बनिक गैसों हानिकारक होती हैं, वृक्ष दिन में प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में कार्बोनिक गैसों का अवशोषण करके ऑक्सीजन गैस का उत्सर्जन करते रहते हैं। इस प्रकार दिन में पर्यावरण शुद्ध और स्वस्थकर रहता है जबकि रात्रि में वृक्ष कार्बोनिक गैसों को

वास्तविक सूर्य डूब जाने के बाद भी दो घड़ी या ४८ मिनट तक उसका आभासी प्रतिबिंब आकाश में दिखाई देता रहता है। सूर्य के इस आभासी प्रतिबिंब में दृश्य किरणों के साथ अवरक्त लाल किरणें एवं अल्ट्रा वायलेट किरणें नहीं होती हैं। वे केवल सूर्योदय के ४८ मिनट बाद आती हैं और सूर्यास्त के ४८ मिनट पूर्व ही समाप्त हो जाती हैं। उक्त कारण से दो घड़ी सूर्योदय के पश्चात् भोजन करने का विधान सुनिश्चित किया गया है।

इसी प्रकार वैष्णव धर्म में सूर्य ग्रहण के काल में भोजन करने का निषेध किया गया है, इसका भी वैज्ञानिक पहलू है। सूर्य ग्रहण के समय, उक्त दोनों प्रकार की अदृश्य किरणों की अनुपस्थिति दृश्य प्रकाश में रहती है। इन दोनों प्रकार की किरणों (इन्फ्रारेड एवं अल्ट्रावायलेट) के गर्म स्वभाव के कारण भोजन को पचाने की क्षमता होती है। कृत्रिम तेज प्रकाश का यदि वर्णक्रम देखें तो स्पष्ट होता है उनमें ये दोनों की किरणें नहीं पाई जाती हैं।

जैनधर्म में जमीकंद को अखाद्य या अभक्ष्य क्यों बताया गया है ? उसका भी बड़ा वैज्ञानिक कारण है। जहाँ सूर्य की किरणें नहीं पहुँच पाती वहाँ असंख्यात सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाती है। जमीन के अन्दर अंधकार में होने वाले, आलू मूली, अरबी आदि कंदमूलों में असंख्यात सूक्ष्म जीवों की उत्पत्ति हो जाने से उनका त्याग बताया गया है।

एक बात और अनुभव में आती है कि रोगी का रोग रात्रि में ज्यादा तकलीफदेह हो जाता है। रोगी का दिन आसानी से व्यतीत हो जाता है लेकिन रात्रि तामस होने के कारण वह रोग को बढ़ा देती है। दिन सात्विक होता है जो रोग में फायदा पहुँचाता है। अतः रात्रि में भोजन करना हानिकारक है। हमारे शरीर में सात्विक, राजस एवं तामस ये तीन गुण पाए जाते हैं। इनमें सात्विक गुण प्राकृतिक होता है। जबकि राजस और तामस वैकृतिक या वैभाविक परिणति वाले माने गये हैं। दिन में भोजन करने से प्राकृतिक सात्विक गुण की वृद्धि होती है। जिससे पुरुष में ज्ञान, बुद्धि, मेधा, स्मृति आदि गुणों का विकास होता है तथा रात्रि में भोजन करने से तामस गुणों की वृद्धि होती है जिससे व्यक्ति के अन्दर विषाद, अधर्म, अज्ञान, आलस्य और राक्षसी वृत्ति का जन्म होती है। रात्रि में खाया हुआ भोजन तामसी परिणामों का दाता होता है।

वैदिक और वैष्णव धर्म में रात्रि भोजन निषेध -

१. जो मद्य पीते हैं, मांस भक्षण करते हैं, रात्रि के समय भोजन करते हैं तथा कंद भोजन करते हैं उनके तीर्थयात्रा करना, जप-तप करना, एकादशी करना, जागरण करना, पुष्कर स्नान या चन्द्रायण व्रत रखना आदि सब व्यर्थ हैं। वर्षाकाल के चार मास में तो रात्रि भोजन करना ही नहीं चाहिए। अन्यथा चन्द्रायण व्रत करने पर भी शुद्धि नहीं होती है। (ऋषिवर भारत वैदिक दर्शन)

२. वैदिक ग्रन्थ यजुर्वेद आह्निक में लिखा है-

पूर्वान्हे भुज्यते देवैर्मध्यान्हे ऋषिभिस्तथा।
अपरान्हे च पितृभिः सायाह्वे दैत्य दानवैः॥२४॥

भोजी जीवों के लिए सुखदायी कहते हैं, मानो वे अग्निशिखाओं के मध्य जलते हुए वन में फलों की आशा रखते हैं।

**अहिंसाव्रत रक्षार्थ मूलव्रत विशुद्धये।
निशायां वर्जयेद्भक्तिमिहामुत्र च दुःखदाम्॥**

यशस्तिलकचम्पूगत उपासकाध्ययन के कथनानुसार अहिंसा व्रत की रक्षा के लिए इस लोक और परलोक में दुःख देने वाली रात्रि भोजन का त्याग कर देना चाहिए। मौन पूर्वक भोजन करने से तप एवं संयम की वृद्धि होती है और भोजन के प्रति लोलुपता कम होती है। अतः व्रती श्रावक को नियम से मौनपूर्वक भोजन करना चाहिए।

संदर्भ:

१. भव्योपदेश उपासकाध्ययन-श्रावकाचार, भाग-३, पृ.३७६
२. लाटी संहिता, पृ.-५, वही
३. वही, श्लोक ४७ एवं २८, पृ.९, वही
४. रात्रौ भुंजानानां यस्मादनिवारिता भवति हिंसा।
हिंसा विरतैस्तस्माद्व्यक्ति भुक्ति रवि।
रागा ह्युदय परत्वाद निवृत्तिर्नातिवर्तते हिंसा।
रात्रि दिवमाहरतः कथं हि हिंसा सम्भवति॥
पुरुषार्थसिद्धयुपाय। श्लोक १२९ एवं १३० श्रावकाचार भाग एक॥
५. स्वामिकार्तिकेयानुपेक्षागत श्रावकाचार- श्लोक ८१
६. श्राद्धं दैवतं कर्म स्नान दानं न चाहुतिः।
जायते यत्र किं तत्र नराणां भोक्तुमर्हति॥२६॥ धर्मसंग्रह श्रावकाचार, पृष्ठ-१२३
७. भंजते निशि दुराशा यके गृद्धि दोष वश वर्तिनोजनाः॥४३॥ अमितगति श्रावकाचार
८. वल्लभते दिननिशिथयोः सदा यो निरस्त यम संयम क्रियाः।
श्रंग, पुच्छ शफ संग वर्जितो मण्यते पशुवयं मनीषिभिः॥४४॥ अमितगति श्रावकाचार
९. किसनसिंह कृत क्रिया कोष (श्रावकाचार संग्रह भाग-५) संपादक- पं. हीरालाल शास्त्री-
श्लोक (पद) २८, पेज-१६५
१०. वही, पेज-१६७, पद- ६६
११. धर्मसंग्रह श्रावकाचार, श्लोक-२६, पृष्ठ-१२३ (श्रावकाचार संग्रह भाग-२, संपादक-वही)
१२. हेल्थ एण्ड डाइट (लेखक- स्वामी शिवानंद जी), पृष्ठ-२६०
१३. किसनसिंह कृत क्रियाकोश, दोहा-१६, पृष्ठ-१६४
१४. मार्कण्डेय पुराण, अध्याय-३३, श्लोक-५३
१५. योग वाशिष्ठ, श्लोक-१०८

- (लेखक की सद्य-प्रकाशित नवीन कृति
“जैनधर्म का वैज्ञानिक चिन्तन” से साभार)

डॉ. डब्ल्यू एम. अरवर के अनुसार - *"Value is that which satisfies the human desire."*⁶

प्रोफेसर ई. डी. चार्ल्स के अनुसार - *"Value is a conception, explicit or implicit or distinctive of an individual or characteristic of a group of the desirable which influenced the relationship from a variable modes, means and of action."*⁷

अतः स्पष्ट है कि जीवन में सुख, शांति, ऐश्वर्य और यश की प्राप्ति के लिए व्यक्ति जिन सद्गुणों के माध्यम से समाज का हित चिन्तन करता है - वे सद्गुण ही जीवन-मूल्य कहलाते हैं।

आचार्य जिनसेन ने आदिपुराण में निम्न मूल्यों पर विचार पल्लवित किए हैं:-

१. मानवतावादी मूल्य :

प्रत्येक चिंतनशील कवि और कलाकार अपनी कृति के मूल में मानवता के कल्याण का भाव लेकर ही कृति की संरचना करता है। उसकी कृति का मूल उद्देश्य मानव जाति का कल्याण है। अस्तु जन कल्याण का भाव ही मानवता है। राष्ट्रपिता महात्मा गाँधी जी के शब्दों में -

“मानवता उदात्त मन के संवेदनशील समाज सुधारक की अन्तश्चेतना का मुकुलित पुष्प है। व्यक्ति के मन की उदारता पुण्य फल है। यदि हम किसी गरीब और अभावग्रस्त व्यक्ति की तन से, मन से और धन से सेवा कर रहे हैं तो यह सच्ची मानव सेवा है; भगवान की पूजा है।”^{१८}

आदिपुराण में भी सब जातियों और धर्मों, वर्णों और सम्प्रदायों में सामंजस्य और समन्वय स्थापित करने के लिए व्यक्ति के जीवन के लिए तीनों गुणों का होना अनिवार्य माना गया है।

“सत्येव दर्शने ज्ञानं चारित्रं च फलप्रदम्।
ज्ञानं च दृष्टिसच्चर्यासांनिध्ये मुक्तिकारणम्॥
चारित्रं दर्शनज्ञानविकलं नार्थकृन्मत्।
प्रपातायैव तद्धि स्यादन्धस्येव विवल्गतम्॥”^{१९}

तात्पर्य यह है कि सत्य, दर्शन, ज्ञान और चरित्र व्यक्ति को फल प्रदाता है। सम्यक् दर्शन और चरित्र से ही मुक्ति की प्राप्ति होती है। इनसे रहित ज्ञान से मुक्ति प्राप्त नहीं होती है।

२. राष्ट्रीय मूल्य :

राष्ट्र के विकास और संरक्षण के लिए व्यक्ति जिन गुण धर्मों का नियमन और पालन करता है, ‘राष्ट्रीय मूल्य’ कहलाते हैं।

“राष्ट्रीय प्रत्येक जागरूक और चिन्तनशील व्यक्ति के व्यक्तित्व का अभिन्न अंग है। राष्ट्र के गौरव, सम्मान और स्वाभिमान के प्रति समर्पित भाव ही राष्ट्रीयता है। राष्ट्र की वायु, प्रकाश, जल, धरती और आकाश की अनन्त सम्पदा का उपयोग करते हुए

सहिष्णुता, त्याग, तप, दया, दान, अपनत्व, बंधुत्व, समन्वय और समता आदि ऐसे मानवीय गुण हैं जो नैतिकता की परिधि के अन्तर्गत आते हैं।

आदिनाथ तथा भरत ने भी समाज में नैतिकतावादी आचरण को अपनाने की शिक्षा दी है।

४. सौन्दर्यपरक मूल्य :

प्रकृति और पुरुष के जीवन में निहित वह अनन्त शक्ति, जो व्यक्ति के मन को अनन्त आनन्द की अनुभूति से संतृप्त करती है - सौन्दर्य कहलाती है। अतः अन्तर्मन का ऐसा सद्गुण जो चेतना के उज्ज्वलतम भाव से सम्पूरित है - 'सौन्दर्य' कहलाता है। महाकवि जयशंकर प्रसाद ने भी सौन्दर्य को मन की चेतना का उज्ज्वल वरदान कहा है -

“उज्ज्वल वरदान चेतना का,
सौन्दर्य जिसे सब कहते हैं।
जिसमें अनन्त अभिलाषा के
सपने सब जगते रहते हैं।”^{१२}

वास्तव में सौन्दर्य किसी वस्तु अथवा व्यक्ति का ऐसा अदभुत आन्तरिक गुण है, जिसमें किसी भी प्राणी को सम्मोहित करने की असीम शक्ति निहित होती है। अस्तु सम्मोहन शक्ति ही सौन्दर्य है।

नारी के सौन्दर्य की श्रेष्ठता का अनुपम प्रमाण है। रंग-रूप की उज्ज्वलता का प्रकाश है। वाणी और नयन का सम्मोहित भाव है। देह की तन्वगी काया का आकर्षक रूप है। इस प्रकार लावण्य सम्मोहन शक्ति है।

“लावण्यम्बुधौ पुंसु स्त्रीष्वस्यामेव संभृतम्।
यत्प्राप्ताः सरितः सर्वास्तमेतां सर्वपार्थिवाः॥”^{१३}

५. धार्मिक मूल्य :

जीवन में शुचिता और पवित्रता बनाए रखने के लिए मानव जिन सर्वमान्य आचार-संहिता का जीवन में अनुपालन करता है, वे आदर्श नियम और आचार-संहिता 'धर्म' की परिभाषा के अंतर्गत आते हैं। 'धर्म' जीवन को सुखी, संपन्न और सम्माननीय बनाने वाली जीवन-शैली है। सामाजिक व्यवस्था, सुरक्षा और जीवन में समत्व स्थापित करने के लिए धर्म आवश्यक है।

आदिपुराण में भी धर्म की व्याख्या और गुण बताए गए हैं। धर्म वही है जिसका मूल दया हो और संपूर्ण प्राणियों पर अनुकम्पा करना ही दया है। दया की रक्षा के लिए क्षमा आवश्यक है। इन्द्रियों का दमन करना, क्षमा धारण करना, हिंसा नहीं करना, तप, दान, शील, ध्यान और वैराग्य ये दयारूप धर्म के चिह्न हैं। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और परिग्रह का त्याग सब सनातन धर्म कहलाते हैं।

‘दयामूलो भवेद् धर्मो दया प्राण्यनुकम्पनम्।
दयायाः परिरक्षार्थः गुणाः शेषाः प्रकीर्तिताः॥
अहिंसा सत्यवादित्वमचौर्यं त्यक्तकामता।
निष्परिग्रहता चेति प्रोक्तो धर्मः सनातनः॥’^{१४}

लोगों ने बड़े आदर पूर्ण मन से भरत का स्वागत किया। यह स्वागत और स्नेह उनकी आत्मीयता और सांस्कृतिक चेतना की सूचक है।

“त्रिकुट मलयोत्सङ्गे गिरौ पाण्डयकवाटके।

जगुरस्य यशो मन्द्रमूर्च्छनाः किन्नराङ्गनाः॥

X X X X X X

तमालवनवीथीपु संवरन्त्यो यदृच्छया।

मनोऽस्य जरारूढयौवनाः केरलस्त्रियः॥”^{१९६}

प्रस्तुत श्लोकों में केरल की सांस्कृतिक चेतना की संस्कृति का ही वर्णन किया गया है। न केवल, उत्सव, त्यौहारा, अपितु श्रेष्ठ और योग्य महान व्यक्तियों का सर्वत्र स्वागत और सत्कार होता है, यही हमारे सांस्कृतिक मूल्य है।

७. व्यक्तिवादी मूल्य :

प्रगति पथ की ओर अग्रसर होना व्यक्ति का आदिम स्वभाव है। व्यक्ति अपने व्यक्तिगत, विकास, आनन्द और श्रेय की प्राप्ति के लिए जिन मूल्यों का प्रयोग करता है - वे मूल्य व्यक्तिवादी मूल्य कहलाते हैं।

भरत के अपने व्यक्तिगत मूल्य थे जिनके अनुपालन से उन्होंने राष्ट्र और समाज की रक्षा की तथा सुरक्षा और सुव्यवस्था का राज्य स्थापित किया। एक दिन सभा में सिंहासन पर बैठे भरत ने राजाओं को धर्म का उपदेश दिया - कुल धर्म का पालन, बुद्धि का पालन, स्वयं की रक्षा, प्रजा की रक्षा करना और सामंजस्यता आदि धर्म के पांच स्वरूप हैं - कुलाम्नाय की रक्षा करना - तात्पर्य यह है कि कुल के आचरण, परम्परा और मर्यादा का पालन करना क्षत्रिय का धर्म है। संकट और आपदा के समय भी स्थित बुद्धि से न्याय और विवेक संगत निर्णय लेना - मत्त्यनुपालन (बुद्धि की रक्षा करना) धर्म है।

दुष्ट पुरुषों का विग्रह और शिष्ट पुरुषों का अनुपालन समंजसत्व गुण है। राजा को दुष्ट गुणों से युक्त पुत्र अथवा शत्रु दोनों का निग्रह करना चाहिए। उसे समाज दृष्टि से, भेदभाव त्याग कर समभाव से न्याय करना चाहिए। सामंजस्य का अर्थ ही समाज दृष्टि है। दुष्ट और शिष्ट का भेद यही है कि जो व्यक्ति हिंसा और पाप कर्मों से निरत रहकर अधर्म करते हैं, दुष्ट कहलाते हैं और जो व्यक्ति अहिंसा और सत्य मार्ग के अनुगामी होते हैं; क्षमाशील और संतोषी होते हैं - शिष्ट कहलाते हैं। यथा -

“तच्चेदं कुलमत्यात्मप्रजानामनुपानम्

समज्जसत्त्वं चेत्येवमुद्दिष्टं पंचभेदभाक्॥

कुलानुपालनं तत्र कुलान्मान्यनुरक्षणम्।

कुलोचितसमाचारं परिरक्षणलक्षणम्॥”^{१९७}

“धर्मो रक्षत्यपापयेभ्यो धर्मोऽभीष्टफलप्रदः।

धर्मः श्रेयस्करोऽमुत्र धर्मेणेहाभिनन्दथुः॥”^{१९८}

“कृतात्मरक्षणश्रवैव प्रजानामनुपालने।

महावीर जयन्ती (२३ अप्रैल २०१३) के पुनीत प्रसंग पर

महावीर का स्वास्थ्य दर्शन

डॉ. चंचलमल चोरड़िया

सम्यक् जीवन शैली : स्वास्थ्य का मूलाधार -

महावीर का दर्शन मौलिक रूप से स्वस्थ और चिकित्सा का दर्शन नहीं है, वह तो आत्मा से आत्मा का दर्शन है। परन्तु जब तक आत्मा मोक्ष को प्राप्त नहीं हो जाती तब तक, आत्मा शरीर के बिना रह नहीं सकती। शरीर की उपेक्षा कर आत्म-शुद्धि हेतु साधना भी नहीं की जा सकती। महावीर की दृष्टि में शरीर का आत्म-साधना हेतु महत्त्व होता है, इन्द्रियों के विषय भोगों के लिए नहीं। उनका अधिकांश चिन्तन आत्मा को केन्द्र में रख कर हुआ, परन्तु उन्होंने शरीर के निर्वाह हेतु केवल ज्ञान के आलोक में, जिस सम्यक् जीवन शैली का कथन किया, वह स्वतः मानव जाति के स्वास्थ्य का मौलिक शास्त्र बन गया।

जीवन हेतु प्राण आवश्यक -

जिस शक्ति विशेष द्वारा जीव जीवित रहता है अर्थात् जीवन जीने की शक्ति को प्राण कहते हैं। संसार में दो तत्त्व मुख्य होते हैं। प्रथम- जीव या आत्मा अथवा चेतन और दूसरा अजीव अथवा जड़ या अचेतन। इन तत्त्वों से ही संपूर्ण ब्रह्माण्ड की संरचना होती है। इसी आधार पर ऊर्जा को भी मोटे रूप में दो भागों में विभाजित किया जा सकता है। पहली चैतन्य अथवा प्राण ऊर्जा और दूसरी भौतिक ऊर्जा। जिस ऊर्जा के निर्माण, वितरण, संचालन और नियंत्रण हेतु चेतना की उपस्थिति आवश्यक होती है, उस ऊर्जा को प्राण ऊर्जा और बाकी ऊर्जाओं को जड़ अथवा भौतिक ऊर्जा कहते हैं। जब तक शरीर में आत्मा अथवा चेतना का अस्तित्व रहता है, प्राण ऊर्जा क्रियाशील होती है। मानव जीवन का महत्त्व होता है, परन्तु उसकी अनुपस्थिति में अर्थात् मृत्यु के पश्चात् प्राण ऊर्जा के अभाव में मानव शरीर का कोई महत्त्व नहीं। अतः उसको जला अथवा, दफना कर नष्ट कर दिया जाता है। भौतिक विज्ञान प्रायः जड़ पर ही आधारित होता है। अतः उसकी सारी शोध एवम् चिन्तन जड़ पदार्थों तक ही सीमित रहती है। फलतः विज्ञान के इतने विकास के बावजूद आज के स्वास्थ्य वैज्ञानिक शरीर के किसी भी अवयव जैसे बाल, नाखून, कोशिकाएँ, रक्त, वीर्य जैसे किसी भी अवयव को निर्माण करने में अपने आपको असमर्थ पा रहे हैं, जिसका चेतना युक्त शरीर में स्वयं निर्माण होता है।

देखने, सूंघने, चिंतन-मनन करने, वाणी की अभिव्यक्ति आदि अलग-अलग होती है। कभी-कभी भौतिक उपचारों से कान, नाक, चक्षु जीभ आदि इन्द्रियों के द्रव्य उपकरणों में उत्पन्न खराबी को तो दूर किया जा सकता है परन्तु उनमें प्राण ऊर्जा न होने से भौतिक उपचार सदैव सफल नहीं होते। इसी कारण सभी नेत्रहीनों को नेत्र प्रत्यारोपण द्वारा रोशनी नहीं दिलाई जा सकती। सभी बहरे उपकरण लगाने के बाद भी सुन नहीं सकते। मूर्ति में मानव की आँख लगाने के बाद उसमें देखने की शक्ति नहीं आ जाती।

सारी प्राण शक्तियाँ आपसी सहयोग और समन्वय से कार्य करती है, परन्तु एक दूसरे का कार्य नहीं कर सकती। आँख सुन नहीं सकती। कान बोल नहीं सकता, नाक देख नहीं सकता इत्यादि। प्राण ऊर्जा का जितना सूक्ष्म एवं तर्क संगत विश्लेषण महावीर दर्शन में है उतना, आधुनिक चिकित्सा पद्धति में भी नहीं किया गया।

संयम ही स्वस्थ जीवन की कुंजी -

प्राण और पर्याप्तियों पर ही हमारा स्वास्थ्य निर्भर करता है। शरीर एवम् प्राण का परस्पर सम्बन्ध न जानने पर कोई भी व्यक्ति न तो प्राणों का अपव्यय अथवा दुरुपयोग ही रोक सकता है और न अपने आपको निरोग ही रख सकता है। आत्मिक आनन्द और सच्ची शांति तो प्राण ऊर्जा के सदुपयोग से ही प्राप्त होती है। यही प्रत्येक मानव के जीवन का सही लक्ष्य होता है। प्रतिक्षण हमारे प्राणों का क्षय हो रहा है। अतः हमारी सारी प्रवृत्तियाँ यथा संभव सम्यक् होनी चाहिये। पाँचों इन्द्रियों, मन, वचन का संयम स्वास्थ्य में सहायक होता है तथा उनका असंयम रोगों को आमंत्रित करता है। हवा, भोजन और पानी से ऊर्जा मिलती है परन्तु उनका उपयोग कब, कैसे, कितना, कहाँ का सम्यक्ज्ञान और उसके अनुरूप आचरण आवश्यक होता है? स्वाध्याय, ध्यान, कायोत्सर्ग भी ऊर्जा के स्रोत होते हैं, जिनका जीवन में आचरण आवश्यक होता है। प्राण ऊर्जा के सदुपयोग से शरीर स्वस्थ, मन संयमित, आत्मा जागृत और प्रज्ञा विकसित होती है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से पर्याप्तियों और प्राणों का बहुत महत्व होता है। अतः महावीर ने प्राण और पर्याप्तियों के संयम एवं सदुपयोग को सर्वाधिक महत्व दिया। जहाँ जीवन है वहाँ प्रवृत्ति तो निश्चित रूप से होती ही है। अतः पर्याप्तियों और प्राणों के संयम का मतलब हम उनका अनावश्यक दुरुपयोग अथवा अपव्यय न करें, अपितु अनादिकाल से आत्मा के साथ लगे कर्मों से छुटकारा पाने हेतु सदुपयोग द्वारा सम्यक् पुरुषार्थ करें।

आहार संयम - जीवन चलाने के लिए जितना आवश्यक हो भक्ष्य-अभक्ष्य का विवेक रखकर आहार-पानी आदि ग्रहण करना।

शरीर का संयम - शरीर की आवश्यक प्रवृत्तियों से बचना एवं सम्यक् पुरुषार्थ करना।

इन्द्रियों का संयम - इन्द्रियों की क्षमता से अधिक तथा अनावश्यक कार्य न लेना। वीर्य का नियंत्रण रखना अर्थात् ब्रह्मचर्य का पालन करना। इन्द्रिय विषयों को उत्तेजित करने वाली प्रवृत्तियों एवं वातावरण से यथा संभव दूर रहना।

श्वास का संयम - मन्द गति से दीर्घ श्वास लेना तथा पूरक और रेचक के साथ-साथ कुम्भक कर श्वास को अधिकाधिक विश्राम देना। जितना अधिक श्वास का संयम होगा,

NON-ABSOLUTISM-THE PHILOSOPHICAL BASIS OF TOLERANCE

Prof. Sagarmal Jain

Fanaticism or Intolerance is one of the prime curse of our age. Jainism, since its inception, believes in non-absolutism or Anekantavada and preaches for tolerant outlook and harmonious living. On the basis of its theories of non-absolutism and non-violence it has remained tolerant and respectful towards other religions, faiths and philosophical ideologies. Jain scholars, while opposing the different one-sided or absolute viewpoints of other ideologies and faiths, paid full regard to them and accepted that the opponent's convictions may also be valid from a certain standpoint. Jain men of learning oppose only their absolute truth-value, but accept their partial truth-value on the basis of their fundamental concept of non-absolutism or Anekantavada.

Jains hold that dogmatism and fanaticism are the born children of absolutism i.e. one-sided outlook or ekantavada (एकान्तवाद). An extremist or absolutist holds that what so ever he propounds is correct and what others say is false, while a non-absolutist or relativist is of the view that he and his opponent both may be correct if viewed from two different angles and thus a relativist i.e. Anekantavadi adopts a tolerant outlook towards other faiths and ideologies. It is the Jain doctrine of Anekantavada or non-absolutism on which the concept of religious tolerance and fellowship of faiths is based. For the Jain non-violence is the essence of religion, from which the Jain concept of non-absolutism emanates. Absolutism represents "violence of thought"; for it negates the truth-value of its opponent's view and thus hurts the feelings of others. Anekantavada i.e. non-absolutism is nothing, but a non-violent search for truth finds non-absolutism. Jain thinkers are of the view that the reality is a complex one, it can be looked and understood from different angles and thus various judgments may be made about it, for it has many facets, various attributes and various modes. Even two contradictory statements about an object may hold true, if they were made from two different angles or view points. Since we are finite beings, we can know or experience only a few facets of reality at one time from a certain angle. The reality in its completeness cannot be grasped by us. Only a universal observer i.e. an omniscient (Sarvajna = सर्वज्ञ) can comprehend it and explain it without a stand point or a view point. He can comprehend it and explain it only through different angles or view points. This premise can be understood from the following example, take it for granted that every one of us has a camera to click a snap of a tree, we can have hundreds of photographs, but still we find most portion of the tree photographically remains uncovered and what is more, the photographs differ from each other if they are taken from different angles. So is also the case with diversified human understanding and

social and cultural background and has its utility and truth value accordingly. As the different parts of the body have their own position and utility in their organic whole and works for its common good so is the case with different religions in human society. They should work for the common goal of human society and try to resolve the conflicts of ideologies and faiths and make life on earth peaceful. If every faith is working for human good, it has equal right to exist and work for that.

According to Siddhasena Divakara (5th century A.D.) the divergent view points or faiths may be charged false only when they negate the truth value of others and claim them selves exclusively true. But if they accept the truth value of other ideologies and faiths on the basis of Anekantavada, they attain righteousness. He further propounds that Every view point or faith in its own sphere is right, but if every one of them considers it self as a whole truth and disregards the views of their revivals, they do not attain righteousness, for all the viewpoints are partially true, their truth value remains in their own respective spheres or angles. If they encroach upon the province of other view points and consider them as a false, they are wrong. For a non-absolutist (अनेकान्तवादी) rightness of a particular faith or ideology depends on the acceptance of partial rightness of others. In words he believes in a harmonious coexistence and works for a common good of mankind. Acceptance of non-absolutism is the only way to remove the religious conflicts and violence from the earth and establish harmony among various ideologies and faith. It is only the concepts of non-absolutism which can develop a tolerant outlook and establish the peace on the earth.

Today when fundamentalism is posing a serious threat to communal co-existence and harmony, non-absolutism is not only essential, but the only way-out to protect the human race. According to Siddhasena Divakar a non-absolutist, who advocates the synoptic view of truth never discriminates the different faiths as right or wrong, he pays all of them proper regard, for he accepts their partial or relative truth value. Siddhasena Divakar (5th century A.D.) in his work *sanmatitarka* rightly observes all the schools of thought are valid, when they are understood from their own stands point or angle and so far as they do not discard the truth value of others. It is this non-absolutistic broader outlook can develop the harmony among conflicting ideologies and faiths.

Non-absolutism gives a broader perspective on the basis of this broader outlook Jainism holds that the followers of other sects can also attain emancipation or Moksha, if they are able to destroy attachment and aversion. They do not believe in the narrow outlook that the follower of Jainism only can achieve emancipation. In *Uttarajayana* there is a reference to "*anyalinga siddha*" (अन्यलिंग सिद्ध) i.e. the emancipate souls i.e. who have destroyed attachment and aversion which are the seeds of birth and death, may be get emancipation whether he belongs to any other sects (36/649). Haribhadra,

पं. भगवतीदास विरचित 'मइंकलेहा-चरिउ' में मूढ़त्रय विवेचन

डॉ. पुलक गोयल

प्राचीन भारतीय वाङ्मय को समृद्धता के शिखर पर पहुँचाने का महत्वपूर्ण कार्य संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश भाषाओं के माध्यम से हुआ है। संस्कृत को आज भी देश में व्यापक स्तर पर मान्यता प्राप्त है। प्राकृत और अपभ्रंश का साहित्य कभी इस देश के बहुसंख्यक लोगों द्वारा समादृत रहा है। राजदरबारों में संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश आदि के कवियों को आसन दिया जाता था। अपभ्रंश भाषा में जन-मन-रंजन की अद्भुत क्षमता है जिसका रसास्वाद वर्तमान क्षेत्रीय भाषाओं/ बोलियों में सहज होता ही है। अपभ्रंश भाषा में लाड़-प्यार है, तरुणाई का मदमस्त आकर्षण है, उत्साह है, उमंग है। अपभ्रंश में सरलता, सहजता, स्वाभाविक तरलता आदि कितने प्राकृतिक गुण हैं। प्रकृति ने इस भाषा को बनाया नहीं है, परन्तु प्रकृतिस्थ लोगों के आनन्द की यह मौलिक अभिव्यक्ति जरूर है।

अपभ्रंश का स्वर्ण युग बीत चुका है। अद्यावधि अपभ्रंश की संतति का स्वर्णकाल है। गुजराती, राजस्थानी, पंजाबी, सिंधी, मराठी, बिहारी, बंगला, उड़िया, असमिया और राष्ट्रभाषा हिन्दी तथा अन्य प्रादेशिक बोलियाँ भी इसकी संतान परम्परा का हिस्सा हैं। इन भाषाओं के विकास क्रम को समझने के लिए अपभ्रंश की सहायता लेना अनिवार्य है। इस कारण से अपभ्रंश को अकादमिक स्तर पर साहित्य प्रेमियों ने जीवित रखा है। यह अच्छा है परन्तु अपभ्रंश अपने मौलिक प्रयोजन से भटकने के कारण जन सामान्य से दूर हो गई है। अपभ्रंश कवियों ने इस भाषा को चुना और धर्मप्राण समाज की स्थापना हेतु इसका प्रयोग किया और जन समर्थन प्राप्त किया। अपभ्रंश की इस विशेषता को पुष्ट करते हुए प्रो. हरिवंश कोछड़ मूल समस्या के समाधान तक ले जाने का प्रयास कर रहे हैं - 'अपभ्रंश साहित्य अधिकांश धार्मिक आचरण से आवृत्त है। माला के तन्तु के समान सब प्रकार की रचनाएँ धर्मसूत्र से ग्रंथित हैं। अपभ्रंश कवियों का लक्ष्य था - एक धर्म प्रवण समाज की रचना। पुराण, चरिउ, कथात्मक कृतियाँ, शास्त्र आदि सभी प्रकार की रचनाओं में वही भाव दृष्टिगोचर होता है। कोई प्रेम कथा हो चाहे साहसिक कथा, किसी का चरित हो चाहे कोई और विषय हो, सर्वत्र धर्म तत्त्व अनुस्यूत है। अपभ्रंश लेखकों ने लौकिक जीवन एवं गृहस्थ जीवन से सम्बद्ध कथानक भी लिखे, किन्तु वे भी इस धार्मिक आवरण से आवृत्त हैं। भविसयत्तकहा, पउमसिरिचरिउ, सुदंसणचरिउ, जिणदत्तचरिउ आदि इसी प्रकार के ग्रन्थ हैं। मानों धर्म इनका प्राण था और धर्म ही इनकी आत्मा।'^{१४}

रमणी, १४. योगी रासा, १५. अनधमी, १६. मनकरहारास, १७. वीरजिनेन्द्र गीत, १८. रोहिणीव्रत रास, १९. ढमालराजमती नेमिसुर, २०. संज्ञानी ढमाल नामक रचनाएं रची थीं, जो उपर्युक्त गुटका में लिपिबद्ध हैं। इनके अतिरिक्त आपकी एक रचना मृगांकलेखा चरित का पता आमेर भण्डार की सूची से चलता है।^५

मूलकथा एवं धर्मोपदेश -

मइंकलेहा चरित के प्रणयन का मूलाधार शील की महिमा को प्रकाशित करना है। नायिका मृगांकलेखा अपरनाम चन्द्रलेखा का जीवन अत्यन्त संवेदनशील दर्शाया गया है। अंजना सती के जीवनवृत्त से इस नारी के जीवन की तुलना करते हुए ब्र. सुमन शास्त्री लिखती हैं- 'जीवन के ऐतिह्य वृत्त में अंजना की समकक्ष होते हुए भी विपत्तियों के मामले में उससे आगे खड़ी है। अंजना ने तो केवल पति वियोग और सासु की भर्त्सना सही। गर्भ भार ढोती हुई जंगलों-जंगलों में भटकती किन्तु उनके साथ उनकी सखी वसन्तमाला थी। पुत्र हनुमान के जन्मते ही मामा प्रतिसूर्य के घर पहुँच गई पर यह सती तो गर्भावस्था में भी जंगलों में नितान्त अकेली थी। पुत्र जन्म से पूर्व सखी चित्रलेखा बिछड़ गई। जन्मते शिशु को मांस लोभी श्वान उठा ले गया। शील के प्रताप से कामी वसन्त सेठ की कामुकी दृष्टि से बची तो बलि हेतु राजदरबार के चण्डी मंदिर में बलिवेदी के समक्ष खड़ी हो गई। अहिंसा के प्रभाव से राजा सुंदर को अहिंसक बना अभय को प्राप्त हुई तो राक्षसी माया और वनराज का ग्रास होते होते बची, यहाँ भी उसका शील जन्य पुण्य ही सहयोगी था। अन्त में वेश्या की शिकार हुई, उसने मृगांकलेखा को वेश्या कर्म हेतु प्रताड़ित किया, वहाँ भी शील ही रक्षक बना। वेश्या ने उस रूपवती को राजभय के कारण राजदरबार में भेज दिया। उस विवेक शीला को अपने शील रक्षार्थ पागल महिला का रूप धारण करना पड़ा। अन्ततोगत्वा पुण्य व शील प्रताप से कष्टों का विशाल सागर तैर गई और धर्म की शरण में उस धर्मवती को पुत्र और पति का समागम हुआ। कुछ समय तक सांसारिक सुख भोगकर संसार से विरक्त हो पति के साथ आर्थिका दीक्षा धारण कर संसार छोड़ दिया।'^६

संसार के समस्त प्राणियों को जो उत्तम सुख में पहुँचा दे, उसे धर्म कहते हैं। यह धर्म दो प्रकार का होता है - श्रावकधर्म और मुनिधर्म। मइंकलेहा-चरित में श्रावक धर्म का विशेष वर्णन है। कृति में सम्यक्त्व को सागारधर्म का सार कहा है। आज्ञा, मार्ग, उपेदश, सूत्र, बीज, संक्षेप, विस्तार, अर्थ, अवगाढ़ और परमावगाढ़ रूप सम्यग्दर्शन के दस भेदों की परिभाषायें प्रस्तुत की गई हैं। देव, शास्त्र और गुरु मूढताओं के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, प्रत्यक्ष, परोक्ष और लौकिक के भेद से प्रत्येक के सात भेद बताये गये हैं। गुरु मुढता में पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, संतसेव और मृगचारी इन पंचविध श्रमणाभास को समझाया है। पंच अणुव्रत, तीन अणुव्रत और चार शिक्षाव्रतों का विशद वर्णन है।

प्रातः उठकर जिनेन्द्र देव की वंदना कर स्नान और वस्त्र विशुद्धि पूर्वक जिनेन्द्र भगवान् का अभिषेक करना, राग रहित होकर स्तुति करना, अपरान्ह में जिननाथ की उक्तियाँ बोलना उत्तम प्रथम शिक्षाव्रत है। दोनों समय देव वंदना करना मध्यम और एक समय प्रसन्नता से

॥ पद्धडिया ॥

साभरण देव पूया पमाण,	वंदणु थुइ कित्तणु भत्तिठाणु ॥१॥
तं दव्व देव मूढत्त वुत्तु,	पुणु पाहुड दव्व ठवइ अजुत्तु ॥२॥
पुणु खित्तमूढ णरु लोइ भासि,	चइय अपूय रक्खइ अवासि ॥३॥
णिय णयर धामि पुर देसवासि,	पूया अवगण्णइ पावरासि ॥४॥
सो तित्थ भूमि धावइ अयाण,	पडिमा वड वण्णइ दुग्गठाणु ॥५॥
पुणु कालमूढ जिण सुत्ति वत्तु,	णहि तित्थणहु सम सरण जुत्तु ॥६॥
पूया अयालि वय विहि अयालि,	गुर वयणु ण मण्णइ जाम कालि ॥७॥
णिय कज्जि समण्णइ थप्पिदेणु,	भणु तस्स काल मूढत्तुएणु ॥८॥
अहुणा देवहु किर भाव मूढ,	मण भित्तरि चिंतइ चित्त गूढ ॥९॥
सव्वह वंदणु णिंदणु ण कासु,	वर बुद्धि सया गिरु घड़इ जासु ॥१०॥
अइसइ देवत्तणु सयल मज्झि,	घिय कज्जु अज्जु किं पइ असज्झि ॥११॥
इत्तउ किं लोउ अयाणु सव्वु,	गिर भाव देव मूढउ सगव्वु ॥१२॥
अहुणा परोक्ख मूढत्तु वुत्तु,	अरहंत णवइ कुलदेव जुत्तु ॥१३॥
केलदेव देवि वंदण विहाणु,	णिय गुत्त कित्ति सुर सत्ति दाणु ॥१४॥
अइसइ वड पुरिसहुं ठाणि जस्स,	वंदणु तियाल महु होउ तस्स ॥१५॥
सु परोक्ख देव मूढत्तु होइ,	अप्पां ण वियाणइ गोहु सोइ ॥१६॥
पुणु पयडु देव मूढत्तु अत्थि,	जिणु वंदइ हरिहर वम्ह सत्थि ॥१७॥
सम वंदणु पूयणु भत्ति जुत्तु,	सम सो-मण्णइ अहिमणि खुत्त ॥१८॥
सुपयक्ख मूढ वुत्तउ अणाणु,	ण वियाणइ सग्ग- पवग्ग ठाणु ॥१९॥
भासमि गिरु सीयल परोक्खमूढ,	अहुणा णवि रक्खामि भव्व गूढु ॥२०॥
चंडी मुंडी सीयल सयालि,	गुग्गा दुग्गा दिणिवर सयालि ॥२१॥
इच्छिच्छइ पुत्त कलत्त लच्छि,	वसि होइ मूढु णरु गिरु मइच्छि ॥२२॥

अर्थ - १. आभरणों से युक्त सरागी देवों की पूजा, वन्दना, स्तुति, कीर्तन एवं भक्ति इत्यादि स्थानों को देव मूढता कहा है। इन्हें द्रव्यादिक का उपहार देना भी अयुक्त ठहराया है। इसे ही द्रव्य देव मूढता कहा गया है।

२. अब लोक प्रसिद्ध क्षेत्र मूढता को कहते हैं - अपूज्य चैत्य/प्रतिमा (पद्मावती, क्षेत्रपाल, भैरव, यक्ष, मानभद्र, नागबाबादि) को अपने घरों में रखना या अपने नगर, ग्राम, पुर अथवा देश में स्थापित करना, इन्हें स्थान देना, इनकी पूजा करना पाप की राशि रूप क्षेत्र मूढता में परिगणित है। अज्ञानी जन इनकी पूजा के लिए तीर्थ स्थलों की ओर भागते हैं अथवा वटवृक्ष के मूल अर्थात् तल में दुर्गा की प्रतिमा स्थापित करना अथवा उनका स्थान बनवाना इसे लोक क्षेत्र देव मूढता कहा जाता है।

३. अब जिन सूत्र में वर्णित काल मूढता को कहता हूँ - 'तीर्थ के समान अन्य कोई योग्य शरण नहीं है'। ऐसा मानकर पूजा के अयोग्य काल में तीर्थों पर पूजा करना तथा व्रतविधान के अयोग्य समय (संक्रान्ति, मेघाच्छन्न, ग्रहणकाल अथवा दुष्काल, सांध्यकालादि दुर्दिनों) में व्रतादिक करना तथा इस समय गुरुओं के वचन न मानकर अपने कार्य सिद्धि हेतु

तह भासइ सत्थ सुणइ सयाणु,
किर काल सत्थ मूढउ रिसीसु,
सुदु भणइ अकालिए अयाणु सोइ,
भासइ ण सुणइ तियाल वेल,
सुद भाव मूढु जणि जाणु संत,
अहवा सत्तम गुण ठाणु आइ,
विय भाय सुक्कज्झाणि वियाणु,
थुइ करइ जिणेसर कव्व जुत्ति,
सुद्धप्प विसइ णहि दिज्जासु,
एवहि परोक्ख सुणि सत्थ मूढु,
जे सुहुम अद्धवसाण जाणि,
सु परोक्खमूढु सुद धारु होइ,
भणि सत्थमूढु सु पयक्ख गोहु,
अरहंत देउ दय धम्म सारु,
अप्पणु उवएसु करइ सयाणु,

सो सत्थ खित्त मूढउ वियाणु ॥१०॥
संकंति अमावस गहणु दीसु ॥११॥
णिरु पढइ पढावइ मुक्खु लोइ ॥१२॥
ठिदि थाइ समाइग ठाणि केल ॥१३॥
सुपमत्त उस्तंतहु आइ अंत ॥१४॥
अंतिम गुणि खीण कसाइ थाइ ॥१५॥
एकत्त वितक्क विचार ठाणु ॥१६॥
वहु सत्थ पढइ दिंत सुत्ति ॥१७॥
कर भाव सत्थ मूढुतु तासु ॥१८॥
तिय जोइ ण गोयर वत्थु गूढ ॥१९॥
वेदा ण तासु सुह असुह ठाणि ॥२०॥
अहवा सोयारु अयाणु कोइ ॥२१॥
अप्पणु णवियाणइ तच्च बोहु ॥२२॥
णिगंगथु जईसरु गुरु अमारु ॥२३॥
अप्पा आराहणि सइ अणाणु ॥२४॥

अर्थ - १. जो एकादश अंग को पढ़ता है। सप्त, तत्त्व, नव पदार्थ, पंचास्तिकाय, गति, स्थिति, मूर्त, अमूर्त लक्षणों से युक्त छहों द्रव्यों को, अवकाश देने वाले आकाश द्रव्य को, अकायवान् काल द्रव्य को, उत्पाद-व्यय-ध्रौव्य को तथा आगम में वर्णित द्रव्य-गुण-पर्यायों को तो जानता है किन्तु हेयोपादेय वस्तु तत्त्व को नहीं जानता ऐसे पुरुष निज आत्म-प्रकाश को नहीं जानते, वे निश्चित ही द्रव्य श्रुत मूढ़ होते हैं।

२. अब पुराणों में कथित क्षेत्र श्रुत मूढ़ता को कहते हैं। जो नीच स्थानों में अर्थात् वर्जित, गर्हित प्रदेशों में बहुत शास्त्रों को व्याख्यान करते हैं। जहाँ पर मल-मूत्र, शरीरगत सप्त धातुएँ विसर्जित हों, जहाँ उपद्रव हो, भय हो, रोग या रोगी-जन हों। जहाँ नपुंसकों के स्थान हों या उनका आवागमन हो। जहाँ मतिहीन दुष्ट-स्त्री-पुरुष रहते हों। जहाँ आगम-सिद्धान्त के श्रवण वा पृच्छना की परम्परा न हो। नयों के एक या अनेक भेदों में, निश्चय और व्यवहार दोनों नयों के श्रवण में जहाँ लोगों को खेद उत्पन्न होता है। वहाँ जो सुविज्ञ सत्शास्त्रों को पढ़ता अथवा सुनता है उससे क्षेत्र श्रुत मूढ़ता जानना चाहिए।

३. मकरादि संक्रान्तियाँ, अमावस्या, ग्रहण दिखलाई देने पर अथवा दिग्दाह के समय को ऋषिजन अकाल कहते हैं। जो अज्ञानी मूर्खजन इस अकाल में शास्त्र व्याख्यान करते हैं, पढ़ते-पढ़ाते हैं उसे कालश्रुत मूढ़ता जानो।

४. जो सुधीजन इस अकाल में त्रिकाल संध्याओं में न शास्त्र स्वाध्याय करते हैं, न ही सुनते हैं अपितु एक ही स्थान पर स्थित होकर कौतुक वश सामायिक की स्थापना कर क्रीड़ा करते हैं, उसे भावश्रुत मूढ़ता जानो। प्रमत्त गुणस्थान को आदि लेकर उपशान्त कषाय गुणस्थान तक शास्त्र को जानता हुआ जीव भावशास्त्र मूढ़ (?) होता है अथवा सप्तम अप्रमत्त

॥ घत्ता ॥

दंसण वयहीणु सयाणु जई, पर आइर तप्पर सवणो।
मायावी माणी मग्ग चुओ, दव्वमूढ गुरु सेवगणो॥२०॥

॥ पद्धडिया ॥

पुणु खित्तमूढ गुरु गणि पवुत्तु,
पुरगामि णयरि चेई अवासि
अप्पणु देव्लु करि देइ दव्वु
सो खित्तमूढ गुरु जणि अयाणु,
गुरु कालमूढु भासमि सुणेहु,
आहारु णिहारु अयालि जासु,
अप्पणु मणि चिंतइ करइ सोइ,
अहुणा परोक्ख गुरमूढ भेउ,
णग्गउ गुरु होउ चउत्थ कालि,
मायाविय सेवइ णाण हीणु,
णवि दीसइ अज्जु रिसीस वित्ति,
अविवेय ण जाणइ सव्व भेउ,
सु-परोक्खमूढ यहु अवणि ठाणि
गुर पयड मूढ भासइ गणेसु,
अणुवय सु महव्वय वित्ति भेउ,
तणि सुहमवत्थ वहु मुल्ल दव्वि
कंचण उपयरण रयण दिवंत,
जिह मग्गु णं धारण धेय चारु,
विसयालस णिद्धा भुत्त दुट्ठु,
ते पयड पिक्ख लोयहु समाणु,
पिय मण्णि पिया मह कवण अम्हि,
पुणु लोयमूढु जणि भणिउ सोइ,
जे मग्ग सिट्ठ अहवय पहाण,
पिक्खा पिक्खी तिह भत्ति दाणु,
वड मण्णहि एयह अम्मि कउण,
तेलोइ मूढ गुरु पह समग्ग,
णर भवि किर धम्म विवेय सारु,

अप्पणु थिर थाइ सणेहि भुत्तु॥१॥
थिरु थाइ सया जम धम्म भासि॥२॥
अप्पणु देव्लु भणि मुणि सगव्वु॥३॥
तिह भाव विहूणउ करुण दाणु॥४॥
दिणु रइणि भमइ पोसइ सुदेहु॥५॥
खडवस्स किया णवि कालि तासु॥६॥
सो कालमूढु गुरु मुणह लोइ॥७॥
मणि संयउ आणि ण मुणइ हेउ॥८॥
खडसंहण सतित्त ण थाइ चालि॥९॥
आभित्तारि भाउ ण मुणइ दीणु ॥१०॥
रिसि दीसहि भव्व विदेह खित्ति ॥११॥
सव्वह सामण्णइ अरुइ हेउ ॥१२॥
वहु वंधइ पाउ सु-धम्म हाणि ॥१३॥
णिरु णाण चरण बुज्झइ ण लेसु॥१४॥
ण वियाणइ किरिया कम्म हेउ ॥१५॥
सिय रत्त पीय गहि गहिय गव्वि॥१६॥
रायाइ यसइ जणि कमुधिवंत ॥१७॥
विज्जाविहीण मउ पवर फारु ॥१८॥
ण वियाणहि सिविणइ वित्ति सुट्ठु॥१९॥
अप्पणु मणि मण्णइ जणु सयाणु॥२०॥
गुर पयउ मूढमउ घडइ तम्हि ॥२१॥
सव्वइ सम जाणइ गुणु ण कोइ॥२२॥
णवि याणइ वुहियण रिसि अयाणु॥२३॥
लोयहु पहि चल्लइ णिरु सयाणु॥२४॥
यह वित्ति परंपर सुट्ठु सउण ॥२५॥
अविवेई माणुस ते अभग्ग। ॥२६॥
सिय अत्थि णत्थि वाणी वियारु॥२७॥

अर्थ -

१. जिन सूत्र में पाँच प्रकार की द्रव्य मूढता कही गई है। उनका आदर करना, उन पर दया करना तथा उन्हें द्रव्यादि का दान देना इसी के भेद जानना चाहिए। पार्श्वस्थ, कुशील, संसक्त, अवसन्न एवं मृगचारी/स्वेच्छाचारी ये पाँचों प्रकार के श्रमण जिन धर्म से पराड मुख कहे गये

विज्ञ समझते हों किन्तु वे प्रत्यक्ष ही सामान्य लोगों की भांति देखे जाते हैं। 'हम लोगों में कौन मिता या पितामह श्रेष्ठ या पूज्य माना जाता है' ऐसी जिनकी मति होती है उन्हीं जीवों में प्रत्यक्ष गुरु मूढ़ता घटित होती है।

७. अब लोक में व्याप्त लोक मूढ़ता को कहता हूँ - जो सबको एक समान मानते हैं, जिनकी दृष्टि में कोई गुण विशेष नहीं है। जो श्रेयोमार्ग अथवा व्रत प्रधान मार्ग को नहीं जानते तथा जो बुधिवन्त ऋषियों और अज्ञानियों में अन्तर नहीं मानते। जिनकी भक्ति और दान देखा-देखी होता है। जो निरे सयाने होकर भी लौकिक पथ पर चलते हैं। ये लोग तो अपने आपको ही बड़ा मानते हैं। जो यह मानते हैं कि यही आचार संहिता सुन्दर है, गुण युक्त है, वे लोग लोक गुरु मूढ़ हैं और उनका समग्र गुरु पथ लोक मूढ़ता से संसक्त है। ऐसे मनुष्य अविवेकी हैं, अभागी हैं। मनुष्य जन्म में धर्म का विवेक ही सारभूत है, और स्यात् अस्ति, स्यात्, नास्ति रूप जिनेन्द्रवाणी के विभेद ही प्रयोजनीय हैं।^{१३}

पं. भगवतीदास जी ने मङ्कलेहाचरित में इसी प्रकार अन्यान्य दार्शनिक विषयों का भेद-प्रभेद करके तथा समसामायिक उदाहरणों को जोड़कर जैनदर्शन के धार्मिक पक्ष को लोक लुभावन अपभ्रंश भाषा में प्रस्तुत किया है। इन विषयों पर शोधार्थियों का ध्यान अवश्य जाना चाहिए। विद्वानों के द्वारा भी प्रस्तुत प्रकरण एवं अन्य विविध सैद्धान्तिक प्रकरणों पर प्राचीन परंपरा का ध्यान रखते हुए विमर्श करना आवश्यक है। अपभ्रंश साहित्य के साथ धार्मिक दृष्टिकोण को जोड़कर यदि प्रयास करेंगे तो जैन समाज पुनः इस संपदा का अवलोकन/ आस्वादन कर पाएगी। अपभ्रंश के संजीवन हेतु मेरा यह लघु प्रयास विद्वज्जगत में विमर्शण के लिए प्रस्तुत है।

संदर्भ :

१. अपभ्रंश साहित्य, प्रो. हरिवंश कोछड़, पृष्ठ ४६-४७
२. मङ्कलेहा-चरित, प्रस्तावना, पृष्ठ १३
३. मङ्कलेहा कहा, प्रस्तावना, पृ. १२-१३
४. मङ्कलेहा-चरित, प्रस्तावना, पृ. १३-१४
५. हिन्दी जैन साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, पृ. १००-१०४
६. मङ्कलेहा-चरित, प्रस्तावना, प. ६६-६७
७. मङ्कलेहा-कहा, प्रस्तावना पृ. ५०-५२
८. मङ्कलेहा-चरित, द्वितीय संधि, दुवई १५, पृ. ८६-८७
९. मूलाचार, पूर्वार्द्ध, गाथा २५६, पृष्ठ-२१५
१०. रत्नकरण्डश्रावकाचार, श्लोक २२-२४
११. मङ्कलेहा-चरित, संधि २, पद्धडिया १७, प. ८८-९१
१२. मङ्कलेहा-चरित, संधि २, पद्धडिया १८, पृ. ९०-९३
१३. मङ्कलेहा-चरित, संधि २, पद्धडिया १८-१९, गाथा ५१-६०, पृ. ९२-९९

- श्री दि. जैन आ. सं. महाविद्यालय,
सांगानेर, जयपुर (राजस्थान)

जहाँ आत्मा है, वहीं संवेदन है। जहाँ संवेदन है, वहाँ आत्मा है। जैनदर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनों ने भी एक आत्मा की चर्चा की है पर एक होकर भी वहाँ आत्मा के पार्थक्य का अभाव है। वेदान्त आत्मा को एक और अद्वैत ही मानता है, अद्वैत का अर्थ है संसार में दूसरी कुछ वस्तु नहीं है। जब दूसरी वस्तु कोई है ही नहीं तब आत्मा को पृथक् मानने की कोई गुंजाइश नहीं रहती। दो भिन्न वस्तुओं के रहते हुए ही पार्थक्य संभव है। अद्वैत का प्रयोग भी बिना द्वैत को माने हुए नहीं हो सकता। इसलिए कुन्दकुन्द जहाँ आत्मा को एक कहते वहाँ दूसरे भिन्न पदार्थों की भी सत्ता मानते हैं अतः उससे पृथक् बताने के लिए उन्होंने एक और विभक्त आत्मा को बताने की प्रतिज्ञा की है।

एक का अर्थ भी कुन्दकुन्द के लिए वैशेषिक की तरह एक नित्य सर्वगत एक आत्मा से नहीं है किन्तु वह अपने नियत प्रदेशों में रहती हैं। ज्ञान, दर्शन ही उसका अपना स्वरूप है। उसके साथ दूसरा कुछ भी नहीं है। अमृतचंद ने अध्यात्मकलश में लिखा है। ‘अनुभवमुपयाते भांति न द्वैतमेव’ अर्थात् निर्विकल्पदशा में जब आत्मा अपना अनुभव करती है तब वहाँ द्वैत नामकी कोई वस्तु नहीं रहती।

उत्तमा स्वात्मचिन्तास्यान्मोहचिन्ता च मध्यमा।

अधमा कामचिन्ता स्यात्, परिचिन्ताऽधमाधमा॥

उत्तम पुरुष स्वात्मा की चिन्ता करते हैं। मध्यम वे होते हैं, जो शरीर की चिन्ता में डूबे रहते हैं। जघन्य वे होते हैं, जो दुनियाँ की चिन्ता में डूबे रहते हैं।

परीषहाद्यविज्ञानादास्रवस्य निरोधिनी।

जायतेऽध्यात्मयोगेन, कर्मणामाशु निर्जरा॥

इष्टोपदेश २४

आत्मा के चिंतन रूप ध्यान से, परीषहादि का अनुभव न होने के कारण, कर्मों के आस्रव को रोकने वाली निर्जरा शीघ्र होने लगती है।

एकोऽहं निर्ममः शुद्धो, ज्ञानी योगीन्द्रगोचरः।

बाह्याः संयोगजा भावा, मत्तः सर्वेऽपि सर्वथा।

इष्टोपदेश २७

मैं एक हूँ। मेरा और कोई नहीं है। मैं शुद्ध हूँ, ज्ञानी हूँ श्रेष्ठ योगियों द्वारा जाना जाता है। संयोग से उत्पन्न होने वाले सभी पदार्थ मुझसे सभी तरह से बाहर हैं।

मैं तो एकत्वविभक्त स्वरूप हूँ और चिद्स्वरूप को भूल करके ये पर सत्ता में निज सत्ता को गौण किये हूँ। यथार्थ मानना, जब तक बंधन महसूस नहीं होता, तब तक निर्बन्ध होना भी कौन चाहता है? आवश्यकता निर्बन्ध होने की नहीं है, आवश्यकता बंध को बंध स्वीकार की है। निर्बन्ध होना कठिन नहीं है लेकिन बंध स्वीकार करना कठिन है। जहाँ द्वैत होता है, वहाँ विसंवाद होता है, जहाँ अद्वैत है वहाँ विसंवाद नहीं है। इसलिए आत्मा अद्वैतवादी अविस्वादी है। एकत्वविभक्त चिद्रूप है, परभावों से भिन्न रूप हैं, वहीं भगवान आत्मा का स्वरूप है। जहाँ दो की कथा प्रारंभ होती है। “**बंधकहातेण विसंवादी होई**” वहाँ विसंवाद प्रारंभ हो जाता है। एक आत्मा, एक कर्म। आत्मा भिन्न हो जाये, कर्म भिन्न हो जाये तो सिद्धालय में

कटस्य कर्ताहमिति, सम्बन्धः स्याद् द्वयोर्द्वयोः।

ध्यानं ध्येययदात्मैव, सम्बन्धः कीदृशस्तदा॥ इष्टोपदेश २५

हे ज्ञानी ! अद्वैत-भाव यानी परम भाव, द्वैत यानी अपरमभाव। सुगत तत्त्व यानी परम तत्त्व, परगत तत्त्व यानी परातत्त्व। मैं चटाई का कर्ता हूँ। सम्बन्ध जब भी होता है दो में होता है। आत्मा ने आत्मा को आत्मा के द्वारा, आत्मा के लिए, आत्मा से, आत्मा में ध्याया अभेद कारक है। भेद कर दो तो, आत्मा ने अरहंत को, आत्मा से कल्याण के लिए, मन्दिर में बैठकर ध्याया में भिन्न कारक हैं।

ये भी सत्य है, वह भी सत्य है। भेद कारक का भी व्यवहार करना चाहिए। अभेदकारक का भी करना चाहिए पर ध्यान रखना, दोनों कारक ज्ञेय हैं, ध्येय शुद्धात्मा है।

एकत्वभाव वहीं आ सकता है, जहाँ विभक्त भाव होगा। एकत्व भाव पहले नहीं आता, विभक्तभाव लाना चाहिए और विभक्तभाव आ जायेगा, तो एकत्व भाव आ जायेगा। सभी के परिणाम एक से हैं। भिन्न समयवर्ती, एक समयवर्ती, अपूर्वकरण, अनिवृत्तिकरण जो परिणाम हैं एक समय में सभी जीवों के परिणाम एक से हों वह कैसे हो सकता है? पर के उपकार करने का त्याग करके अपने उपकार करने में तत्पर तो दिखाई देने वाले इस जगत की तरह अज्ञानी जीव अन्य पदार्थ का उपकार करता हुआ पाया जाता है।^{१५}

अनन्तधर्मणस्तत्त्वं पश्यन्ती प्रत्यगात्मनः।

अनेकान्तमयी मूर्ति नित्यमेव प्रकाशताम्॥

अध्यात्म अमृतकलश-२

परद्रव्यों से भिन्न अपने स्वरूप के एकत्व में स्थित आत्मा के अनन्तधर्मों के रहस्य को प्रकाश करने वाली अनेकान्तस्वरूपता ही जिसकी मूर्ति है ऐसी जिनवाणी सदाकाल संसार के प्राणिमात्र के हृदय में प्रकाशित हो।

निश्चयनय से आत्मा का यथार्थरूप क्या है आचार्य अमृतचन्द वर्णन करते हैं-

एकत्वे नियतस्य शुद्धनयतो व्याप्त्युदस्यात्मनः।

पूर्णज्ञानघनस्य दर्शनमिह द्रव्यान्तरेभ्यः पृथक्।

सम्यग्दर्शनमेतदेव नियमादात्मा च तावानयम्।

तन्मुक्त्वा नवतत्त्वसन्ततिमिमामात्यायमेकोऽस्तु नः॥ अमृतकलश-६

अपने समस्त आत्मप्रदेशों में जो ज्ञान रूप से ठोस है, अपने गुणों में तथा पर्यायों में व्याप्त रहने वाले शुद्धनय की अपेक्षा जो अपने ही स्वभाव में स्थित है। इस प्रकार जो इस आत्मा का अन्य समस्त द्रव्यों से पृथक् दर्शन है यही निश्चय से सम्यग्दर्शन है। जितना सम्यग्दर्शन का विषय है उतना ही आत्मा है, अन्य सब अनात्मा है, जड़ स्वरूप है। जब कि ऐसा निर्णय है तब जीव-अजीव-आस्रव-बन्ध संवर-निर्जरा-मोक्ष, पुण्य-पाप ऐसे नव-पदार्थों की श्रद्धा को जिसे व्यवहारतः सम्यग्दर्शन कहा था, उस नवतत्त्व की कथन परिपाटी रूप व्यवहार को छोड़कर यह विचार करो कि मेरा आत्मा तो इन नव पदार्थों से भिन्न अपने स्वरूप में एकत्व को लिए हुए है, जो अपने एकत्व में ज्ञानानन्दी स्वभाव में स्थित है, वही मैं हूँ, अन्य नहीं।

कितना महान है, जो नीर-क्षीर को अलग कर देता है। हे हंस आत्मा ! तू कितना महान है जो आत्मा और कर्म को अलग कर देता है। हे हंस आत्मन् ! नीर-क्षीर तो जड़ की क्रिया है और स्वात्मा और कर्म, चेतना की क्रिया है। अहो ज्ञानियों ! वन वाटिका से आज निकल जाओ और चेतन की वाटिका में प्रवेश करके तुम आत्मा को कर्मों से भिन्न निहारना प्रारम्भ करो। ये सूत्र बाल से लेकर वृद्धों को समझना है। शिखर तो अन्त में चढ़ता है। पर नींव पहले भरनी पड़ती है। बिना नींव भरे कलश कैसे चढ़ेगा, बिना भेद विज्ञान के वीतराग भाव कैसे आयेगा ? भेद विज्ञान तो आज से ही करना है। भेद विज्ञान शब्दों से नहीं करना। स्वभाव में करना।^{१०}

एकत्व भाव वहीं आ सकता है, जहाँ विभक्त भाव होगा। आचार्य कुन्दकुन्द स्वामी ने लिखा है -

आदा खु मज्झ णाणं में दंसणं चरित्तं च।

आदा पच्चक्खाणं आदा मे संवरो जोगो।।

अर्थात् आत्मा ही संवर, आत्मा ही योग है, आत्मा ही प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान है, आत्मा ही ज्ञान है इसलिए निश्चय की दृष्टि से जो कुछ है, सब आत्मा है।

आत्मा ही आत्मा का गुरु है यथा-

स्वस्मिन् सदमिलाषित्वादभीष्टज्ञापकत्वतः।

स्वयं हित प्रयोक्तृत्वादात्मैव गुरुरात्मनः।।

नाज्ञो विज्ञत्वमायाति, विज्ञो नाज्ञत्वमृच्छति।

निमित्तमात्रमन्यस्तु गतेर्धर्मास्तिकायवतः।। इष्टोपदेश ३४, ३५

जगत् के द्रव्य ज्ञेय तो हैं, पर हेय भी हैं, उपादेय तो एक चिदस्वरूप आत्मा है।

इसी प्रकार आचार्य पूज्यपाद प्रणीत इष्टोपदेश ग्रन्थ में आत्म तत्व का सूक्ष्मरीत्या प्रतिपादन है उसमें आचार्य कुन्दकुन्द के समयसार का सार भरा हुआ है। पूज्य आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज अध्यात्म रस के रसिक हैं। आत्मा का संवेदन अनुभवगम्य है। योगी साधन में निरत रहकर आत्मिक आनन्द का अनुभव करते हैं। उनके मुखारविन्द से निसृत अमृतमयी वचन हम अज्ञानी जनों को सन्मार्ग की ओर अग्रसर कराते हैं। पूज्य श्री की इष्टोपदेश ग्रन्थ पर सर्वोदयी देशना समत्व के सागर में निमज्जित कराकर असीम आनन्द प्रदात्री है।

संदर्भ :

१. आचार्य विशुद्धसागर : सर्वोदयी देशना, पृ. ९५

२. वही, पृ. १६३

३. वही, पृ. १६३

४. वही, पृ. २४४

५. वही, पृ. १९०

६. वही, पृ. ३२

७. वही, पृ. १८७

- विभागाध्यक्ष, जैन-बौद्ध दर्शन विभाग
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी

- (१) अध्यात्म एवं वैज्ञानिक संदृष्टि परक
- (२) अहिंसा और पर्यावरणीय तत्त्व सम्बन्धी
- (३) चारित्रमूलक- प्रस्तावना सम्बन्धी।

लेखक की आस्था है कि इक्कीसवीं सदी विज्ञान के आध्यात्मीकरण और अध्यात्म के विज्ञानीकरण के लिए समर्पित हो। उक्त दोनों समीक्ष्य पुस्तकें जैन साहित्य के कोषागार में वृद्धि करेंगी।

समीक्षाकार- पं. आलोक कुमार जैन
उपनिदेशक, वीर सेवा मंदिर, २१ दरियागंज नई दिल्ली

(३) अक्षर (न्यास की वार्षिक परिचायिका २०१३)

सम्पादक- प्राचार्य नरेन्द्रप्रकाश जैन,

प्रकाशक-श्रुतसेवा निधि न्यास, फिरोजोबाद (उ.प्र.),

समीक्ष्य कृति 'अक्षर' श्रुत सेवा निधि न्यास की वार्षिक परिचायिका है। इसकी स्थापना प्रा. नरेन्द्र प्रकाश जैन द्वारा की गई थी जिसका उद्देश्य अक्षय अक्षरों का समादर करना है। प्रतिवर्ष 'अक्षराभिषेकोत्सव' में श्रुताराधकों का सम्मान मातृवन्दना पुरस्कार, सरस्वती सम्मान एवं श्रुतसेवा सम्मान, नगर-गौरव सम्मान, समाजसेवा सम्मान, नवोदित प्रतिभा सम्मान आदि के द्वारा किया जाता है। शब्द (अक्षर) अमर है, कवि दानतराय जी लिखते हैं - *सबद अनादि अनन्त, ग्यान कारन बिन मत्सर। हम सब सेती भिन्न, ग्यानमय चेतन अक्षर॥* न्यास का संकल्प अक्षरसेवियों का सम्मान करते रहना है जो २००६ से अनवरत प्रवर्तमान है।

समीक्ष्य 'अक्षर' वार्षिकी में अक्षर पर शोधपूर्ण अभ्युक्तियाँ पठनीय हैं। जिनमें प्रमुख हैं- प्राचार्य नरेन्द्र प्रकाश जैन, डॉ. जयकुमार जैन मुजफ्फरनगर, प.पूज्य आचार्य विद्यानन्द मुनि, सुरेश जैन 'सरल', डॉ. सुरेन्द्र कुमार 'भारती' आदि।

इसके साथ सप्तवर्षीय सेवा सम्मान (२००६-२०१२ तक) की एक झलक इसमें प्रस्तुत की गयी है। निश्चित ही न्यास का यह सर्वश्रेष्ठ प्रकाशन युवा-साहित्यकारों और विद्वानों के लिए संदर्भित-शोध-अंक की भाँति उपादेय सिद्ध होगा। ग्लेसिंग आर्ट पेपर पर बहुरंगीन छपाई का सम्मोहन बरबस अपनी ओर खींच लेता है। एक एक पंक्ति पठनीय एवं चिंतनपूर्ण है। सम्पादक अपने आप में वरिष्ठ विद्वान, लेखक एवं प्रखर वक्ता होने से साहित्य की बहुआयामी विधा की झलक इसमें दिखती है, जिसने सिद्ध कर दिया कि अणु में विराटरूप कैसे छिपा होता है।

संस्था द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

क्रं.	पुस्तक ग्रंथ का नाम	लेखक/टीकाकार का नाम	मूल्य
१.	उपासना तत्त्व तथा उपासना का ढंग	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	५रु.
२.	जैन लक्षणावलि भाग-२,३	पं. बालचंद सिद्धांत चक्रवर्ती	१५००रु.
३.	युगवीर निबंधवली प्रथम खण्ड	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	२१०रु.
४.	जैन ग्रंथ प्रशस्ति संग्रह भाग-२	पं. परमानंद शास्त्री३	१५०रु.
५.	मेरी भावना अंग्रेजी सहित	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	५रु.
६.	महावीर जिन पूजा	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	१०रु.
७.	स्तुति विद्या	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	७०रु.
८.	श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	२०रु.
९.	समंतभद्र विचार दीपिका	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	३०रु.
१०.	ध्यान शतक	पं. बालचंद सिद्धांतशास्त्री	१००रु.
११.	दिगम्बरत्व की खोज	डॉ. रमेशचन्द्र जैन	१००रु.
१२.	परम दिगंबर गोम्मटेश्वर	नीरज जैन, सतना	७५रु.
१३.	Jain Bibliography I&II	Chhotelal Jain	१५००रु.
१४.	निष्कम्प दीप शिखा	पं. पद्मचंद शास्त्री	१२०रु.
१५.	हम दुःखी क्यों हैं	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	१०रु.
१६.	Basic Tenets of Jainism	Sh. Dashrath Jain	१०रु.
१७.	समयपाहुड	रूपचंद कटारिया	स्वाध्याय
१८.	वारसाणुवेक्खा	आ.कुंदकुंद (संकलित)	स्वाध्याय
१९.	महावीर का सर्वोदय तीर्थ	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	१०रु.
२०.	अनेकान्त त्रैमासिक शोध पत्रिका	डॉ. जयकुमार जैन	८०रु.वार्षिक
२१.	तत्त्वानुशासन	आचार्य रामेसन	१००रु.
२२.	समीचीन धर्मशास्त्र	पं. जुगलकिशोर जी 'मुख्तार'	१५०रु.
२३.	Pure Thoughts	Acharya Amitgati	५०रु.

नोट :- उक्त सभी ग्रन्थ ३० प्रतिशत कमीशन पर वीर सेवा मंदिर में विक्रय हेतु उपलब्ध है। धनराशि चैक/डाफ्ट अथवा मनीआर्डर द्वारा भेजी जा सकती है। वी.पी.पी. से भेजने का प्रावधान नहीं है, पोस्टेज खर्च अतिरिक्त देय होगा।

- महामंत्री

Year-66, Volume-3
RNI No. 10591/62

July-September 2013
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKĀNTA

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली
(प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना)
प्रो. डॉ. राजाराम जैन-नौयडा
प्रो. डॉ. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ
प्रा. डॉ. शीतलचन्द जैन, जयपुर
प्रो. डॉ. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौत
प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Director-Vir Sewa Mandir, New Delhi
(Pracharya Pt. Nihal Chand Jain, Bina)
Prof. Dr. Raja Ram Jain, Noida
Prof. Dr. Vrashabh Prasad Jain, Lucknow
Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur
Prof. Dr. Shreyans Kumar Jain, Baraut
Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

Æhis issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

आध्यात्मिक-भजन

हम तो कबहुँ न निज घर आये

हम तो कबहुँ न निज घर आये,
पर घर पिफरत बहुत दिन बीते,
नाम अनेक ध्याये।

हम तो कबहुँ न निज घर आये,
पद पद निज पद माति मगन है,
पर परनति लपटाये,

शुद्ध, बुद्ध, सुख कंद मनोहर
आत्म गुन नहीं गाये।

हम तो कबहुँ न निज घर आये,
नर, पशु, देव, नरक निज मान्यो
परजय बुद्धि कहाये,

अमल अखंड, अतुल अविनाशी
चेतन भाव न भाये।

हम तो कबहुँ न निज घर आये,
हित अनहित कछु समझयो नाहीं

मृग जल बुध ज्यों धाये,
द्यानत अब निज, पर पर हैं

सदगुरू बैन सुनाये।

हम तो कबहुँ न निज घर आये॥

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
1 श्रमण संस्कृति की व्यापकता	-प्रो. डॉ. राजाराम जैन	5-13
2 'अध्यात्म-रहस्य' में वर्णित स्वानुभूति का स्वरूप एवं प्रक्रिया	-डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल	14-24
3 तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कर्मास्रव की दार्शनिक मीमांसा.	- डॉ. रमेशचन्द्र जैन	25-30
4 कर्म और पुनर्जन्म की व्याख्या	- डॉ० बसन्त लाल जैन	31-39
5 मानव जीवन में श्रावकाचार : वर्तमान परिप्रेक्ष्य	- डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'	40-46
6 रत्नकरण्डक श्रावकाचार में वर्णित श्रावक-व्रतों का वैशिष्ट्य	- डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन	47-57
7 Anekanta and Interculturality	- Samani Dr. Chaitya Prajna	58-64
8 जैनदर्शन : मन का स्वरूप	- पवन कुमार जैन	65-75
9 भगवान अरिष्टनेमि का जीवन दर्शन : एक ऐतिहासिक अध्ययन	- डॉ. समणी संगीतप्रज्ञा	76-85
10 क्षपक की मनोवैज्ञानिकता : सल्लेखना के सन्दर्भ में	- प्राचार्य पं. निहालचंद जैन	86-91
11 पर्यावरण, आर्थिक विकास और जैन धर्म के सिद्धान्त	- डॉ. संगीता मेहता	92-96

श्रमण संस्कृति की व्यापकता

-प्रो. डॉ. राजाराम जैन

श्रमण-संस्कृति की गरिमा और महिमा युगों-युगों से बड़ी प्रभावक एवं लोकप्रिय रही है। एक पुरातत्त्ववेत्ता का कथन है कि “यदि हम दस मील लम्बी त्रिज्या (Radius) को लेकर भारत के किसी भी स्थान को केन्द्र बनावें, तो उसके भीतर निश्चय से ही जैन-भग्नावशेषों के दर्शन होंगे।” इसीलिये गहन खोजबीन करके इतिहासकारों - डॉ. भण्डारकर, डॉ. वि. ना. पाण्डेय, डॉ. कामता प्रसाद, डॉ. ज्योति प्रसाद, डॉ. वा. दे. शरण अग्रवाल आदि ने भारत में इसकी व्यापकता पर पर्याप्त प्रकाश डाला ही है। अतः मैं यहाँ उसकी चर्चा न कर केवल विदेशों में उसकी व्यापकता पर प्रकाश डालने का प्रयत्न करूँगा।

संस्कृति शब्द का अर्थ बड़ा व्यापक है। उसके अन्तर्गत ज्ञान-विज्ञान, मनोविज्ञान एवं लोक-जीवन के अनेक तत्वों का समावेश माना गया है। सम्बन्धित आलेख विदेशों में उपलब्ध केवल प्राकृत-भाषा, जैन साहित्य, श्रमण-जैन समाज एवं जैन-मंदिरों की व्याप्ति-उपलब्धि तक ही सीमित रखा गया है।

पुराविदों के अनुसार ई. सन् की सहस्राब्दियों पूर्व श्रमण जैन संस्कृति तो विदेशों में व्याप्त थी ही उसकी परवर्ती परम्परा में विश्व-विजय के आकांक्षी यूनानी आक्रान्ता सिकन्दर-महान् के कल्याण नामके जैन-मुनि के सत्संग के कारण उसका (सिकन्दर) हृदय-परिवर्तन हो गया था और अनुनय-विनय कर वह उन्हें अपने साथ सर्वोदयी श्रमण-जैन संस्कृति के प्रचार-प्रसार करने हेतु प्राच्यकालीन तक्षशिला (पेशावर) से यूनान ले गया था। कल्याण-मुनि ने भी वहाँ तथा आसपास के प्रदेशों में पर्याप्त मात्रा में श्रमण संस्कृति का प्रचार-प्रसार और वहाँ के निवासियों को पुनः जागृत कर उन्हें अपना भक्त बना लिया था। यह परम्परा इसके बाद भी बनी रही।

तत्पश्चात् देव-शास्त्र एवं गुरु के परम आराधक महासार्थवाह कोटिभट-श्रीपाल, चारुदत्त, भविष्यदत्त, जिनेन्द्रदत्त और साहू नट्टल जैसे जैन-व्यापारियों ने भी विदेशों में जाकर व्यापार तो किया ही, अपने साथ वे तीर्थकर-मूर्तियाँ तथा जैन-साहित्य भी लेते गये जो वहाँ के निवासियों को भेंट में प्रदान किये। इस प्रकार उनका विदेशी-श्रमणों के साथ पूर्वागत मैत्री-भाव और भी अधिकाधिक प्रगाढ़ होता गया। इसकी चर्चा ब्रह्म. लामचीदास एवं ठाकुर बुलाकीदास (अठारहवीं सदी) ने अपने-अपने यात्रा-विवरणों में की है।

इतिहासकार डॉ. कीथ का कथन :

प्राच्य भारतीय इतिहास के मर्मज्ञ डॉ. कीथ ने विदेशों में श्रमण जैन संस्कृति की लोकप्रियता और उसकी व्यापकता पर अच्छा प्रकाश डाला है। उनके अनुसार^१ - “..... बेरिंग जलडमरूमध्य (Isthmus) से लेकर ग्रीनलैण्ड तक समस्त उत्तरी ध्रुवसागर के तटवर्ती क्षेत्रों में शायद ही ऐसा कोई स्थान बचा हो, जहाँ श्रमण-संस्कृति के अवशेष प्राप्त न होते हों।”

डॉ. कीथ आगे पुनः कहते हैं। कि - “साइबेरिया की तुर्क-जातियों के गमनागमन से यह श्रमण-धर्म तुर्किस्तान (वर्तमान टर्की) तथा मध्य-एशिया के अन्य देशों या उनके प्रदेशों में भी फैला। उसके अहिंसा, अपरिग्रह एवं विश्व-मैत्री के सिद्धान्तों ने मंगोलिया, चीन, तिब्बत और जापान को भी प्रभावित किया।”

“साइबेरिया के श्रमण-संस्कृति के रंग में रंगे हुए लोग प्रचुर-मात्रा में बेरिंग जलडमरूमध्य को पार करके उत्तरी-अमेरिका के पश्चिमी पर्वतीय-क्षेत्र के किनारे-किनारे आगे बढ़ते गये और इस प्रकार वे उत्तरी-अमेरिका में जा पहुँचे तथा उन्होंने वहाँ श्रमण-संस्कृति का प्रचार-प्रसार किया।”

“आस्ट्रेलिया में ईसाई-धर्म तथा अफ्रीका में इस्लाम धर्म के प्रचार के पूर्व वहाँ के प्राचीन जातीय धर्मों पर भी श्रमणों के आत्म-ज्ञान-विज्ञान एवं जैनाचार का प्रभाव पड़ा और इस प्रकार उक्त दोनों द्वीपों में प्रभावक रूप से श्रमण-संस्कृति का प्रचार हुआ। किन्तु बाद में स्थितियाँ बदल गई।”

इस प्रकार एशिया, अमेरिका, अफ्रीका, आस्ट्रेलिया और युरोप में श्रमण-संस्कृति की लोकप्रियता बढ़ी और परिवर्तित होती रही।”

जैसा कि पूर्व में कहा जा चुका है- ईसा पूर्व ३२६ के नवम्बर मास के लगभग सिकन्दर-महान् ने समकालीन (अखण्ड भारत के-) पंजाब के अटक के समीपस्थ तक्षशिला में पहुँचकर जब यह सुना कि यहां अनेक जिम्नोसोफिष्ट (नग्न जैन-साधु) एकान्त में रहकर कठोर तपस्या कर रहे हैं। तब जिज्ञासा-वश उसने (सिकन्दर ने) अपने अंशक्रेटस ;वदमेपातंजनेद्ध नामके एक विस्वस्त-पात्र को उन जिम्नोसोफिष्टों (नग्न श्रमण जैन साधुओं) को अपने पास बुला लाने हेतु भेजा।

आज्ञाकारी उस अंशक्रेटस ने तत्काल ही जाकर उस साधु-संघ के आचार्य दोलामस ;क्नसंउनेद्ध को सिकन्दर का आदेश सुनाया और उसे सिकन्दर के पास चलने को कहा। अंशक्रेटस ने उसे यह भी बतलाया कि भेंट होने पर सिकन्दर उसे (आचार्य दोलामस को) पारितोषिक भी देंगे। किन्तु उपस्थित न होने पर वह (सिकन्दर) उस आचार्य (दौलामस) का सिर काटकर फेंक देगा।

उक्त वार्तालाप के समय आचार्य दौलामस (daulamus) भूमि पर सूखी घास (पुआल) पर लेटे हुए थे और लेटे-लेटे ही उस (सिकन्दर-दूत-) अंशक्रेटस को उन्होंने उपेक्षा भरी वाणी में इस प्रकार उत्तर दिया कि- “सर्वश्रेष्ठ राजा-ईश्वर कभी भी बलात् किसी को हानि नहीं पहुंचाता। वह सृष्टि के प्रकाश, जल, मानवीय-तन या आत्मा को भी नहीं बनाता और न ही उनका संहार करता है।” पुनः उन्होंने कहा-

- “सिकन्दर कोई देवता नहीं। क्योंकि एक न एक दिन उसे मरना ही है और वह जो पारितोषिक मुझे देना चाहता है वह भी मेरे लिये निरर्थक है। मैं तो परिग्रह-त्यागी हूँ, घास पर निश्चिन्त होकर सोता हूँ। जिस प्रकार माँ अपने बच्चे की आवश्यकताओं की पूर्ति करती है, उसी प्रकार पृथिवी माता और हमारे भक्तगण मेरी भी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति करती रहती है। भिक्षावृत्ति में हमें भोजन मिल ही जाता है। कभी-कभी नहीं भी मिलता है, तो उससे भी मैं किसी प्रकार के कष्ट का अनुभव नहीं करता। अतः सिकन्दर भले ही मेरी गरदन काट डाले किन्तु मेरी अजर-अमर आत्मा को नहीं काट सकता। फिर भला मुझे डर किस बात का?

- मृत्योर्विभेषि मूढ, भीतं मृत्युर्न मुञ्चति।”

तुम जाकर उस सिकन्दर को कह दो कि दोलामस तुम्हारे पास नहीं आएगा। उसे तुम्हारी किसी भी वस्तु की आवश्यकता नहीं और हाँ, उसे यह भी कह देना कि सिकन्दर को यदि मुझसे कुछ चाहिए हो, तो वह सर्वप्रथम मुझ जैसा (अर्थात् नग्न जैन श्रमण-मुनि) बन जाय।”

सिकन्दर के संदेश-वाहक अंशक्रेटस ने लौटकर दौलामस का वह निर्भीक उत्तर सिकन्दर को कह सुनाया, तो वह सिकन्दर भी आश्चर्यचकित हो गया और उस वृद्ध नग्न साधु दौलामस से अपनी पराजय तत्काल स्वीकार कर ली।

उसी समय से उसके (सिकन्दर के) मन में यह भावना जागृत हो उठी कि ऐसे साधु को यूनान में ले जाकर उससे धर्म-प्रचार कराना अधिक जन-हितकारी होगा। यही निर्णय कर वह (सिकन्दर) दौलामस के साधु-संघ के एक प्रभावी नग्न-साधु कल्याण-मुनि को अपने साथ यूनान ले गया, जिसने वहाँ श्रमण-संस्कृति एवं जैनधर्म का खूब प्रचार किया।

यह ऐतिहासिक प्रसंग इतना भावोत्तेजक एवं रोचक सिद्ध हुआ कि प्रसिद्ध इतिहासकार Mcridle³ Plutarch⁴ E.I. Thamos⁵, Major General, Furlaung⁶ Burnior⁷ R.J.Stevenson⁸ आदि ने अपने-अपने इतिहास-ग्रन्थों में इसकी विस्तार पूर्वक चर्चा की है। मेजर जनरल फर्लांग का यह कथन विशेष महत्त्व का है, जो उन्होंने अपनी दीर्घकालीन खोजों के निष्कर्ष रूप में प्रस्तुत किया है। यथा -

..... “हिमालय के पार ओक्सियाना, बैक्ट्रिया और कास्पियाना बहुत पहिले से ही उसी प्रकार से धार्मिक सिद्धान्तों या आचरण में उन्नति कर रहे थे, जैसे भारतीय जैन-बौद्धों के हैं। ऐतिहासिक संदर्भों से प्रायः ही ऐसा ज्ञात होता है कि ई.पू. ७वीं सदी से बहुत पहले ही २० (बीस) से अधिक साधु-तीर्थकरों ने पूर्वीय संसार में धर्म का प्रचार किया था। हम बहुत उचित

रोति से यह विश्वास कर सकते हैं कि जैनधर्म, अत्यन्त प्राचीन काल से उन साधुओं के द्वारा चीन से कास्पियाना तक उपदेशित होता था। वह धर्म ओक्सियाना और हिमालय के उत्तर तक वर्धमान-महावीर से २००० (दो हजार) वर्ष पूर्व प्रचारित हो चुका था^{११}।

प्राप्त संदर्भों के अनुसार^{१०} टर्की (तुर्कीस्तान) के इस्तम्बोल नगर से लगभग ६५७ कोस की दूरी पर स्थित तारातम्बोल नाम के नगर में १७वीं सदी के एक-एक विशाल जैन मंदिर एवं जैन-उपाश्रय के अवशेष मिले हैं। यह भी पता लगा है कि वहाँ सहस्रों की संख्या में जैन-धर्मानुयायी निवास करते थे। वहाँ उदयप्रभ सूरि नाम के जैनाचार्य अपने संघ सहित यत्र-तत्र जैनधर्म का प्रचार करते थे।

समय-समय पर वहाँ अनेक देशों के जैन-यात्री आया करते थे। सम्राट शाहजहाँ के शासन-काल में सन् १६२६ ई. में मुल्तान (पंजाब, वर्तमान में पाकिस्तान में स्थित) का एक जैन-यात्री, जिसका नाम ठाकुर बुलाकीदास था, वहाँ की यात्रा करके लौटा था, जिसने राजस्थानी-भाषा में अपनी यात्रा के विस्तृत संस्मरण लिखे थे। उसके अनुसार - तिहाँ टर्की (तुर्कीस्तान) में इस्तम्बोल नगर बसै छै। तिहाँ थी ५०० कोस बब्बरकोट छै। तिहाँ थी ७० कोस तारातम्बोल छै। पच्छिम-दिस समिंदर कांठी नौड़ी छै। तटे जैन-पडासाद (प्रासाद-मन्दिर), पौसधसाल (उपाश्रय), सुतपद (श्रुतपद-शास्त्र-भण्डार), अनेक मंडन माहें प्रथाव (विस्तार) छै। श्रावक-श्राविका, साधु-साध्वी अनेक मंडन (भवन) माहें छै। तिहाँ उदयप्रभसूरि युगप्रधान जाति (आचार्य) छै। तटै सब प्रजा-राजा जैन छै।”

(इस यात्रा-विवरण की पाण्डुलिपि दिल्ली के रूपनगर स्थित श्वेताम्बर जैन मंदिर के शास्त्र-भण्डार में सुरक्षित है। (पाण्डुलिपि प्रति सं. ए५४/१४, पृ. १४२)

गन्धार-देश में श्रमण-संस्कृति -

वर्तमानकालीन अफगानिस्तान प्राचीनकाल में गन्धार-देश के अंतर्गत आता था। अफगानिस्तान का अपरनाम आश्वकायन भी मिलता है। यहाँ पर १७५ फीट खड्गासन आदि-तीर्थंकर ऋषभदेव की मूर्ति उपलब्ध हुई है, जो पर्वत-शिला पर तराशी गई थी। उसके मस्तक पर तीन छत्र भी उत्कीर्णित हैं। इसी मूर्ति के आसपास अन्य २३ तीर्थंकर-मूर्तियाँ भी शिलांकित हैं, उनके दर्शनार्थ विशिष्ट अवसरों पर आसपास के निवासी जैन-यात्री गण आया करते थे।

चीनी-पर्यटक ह्वेनत्सांग (६८६-७१२ ई.) ने भी वहाँ की यात्रा की थी तथा वहाँ पर स्थित दस देव-मंदिरों (जैन-मंदिरों) तथा वहाँ विचरण करने वाले अनेक निर्ग्रन्थों (जैन-मुनियों) की चर्चा की है।^{१२}

सुप्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. जेम्स डबवत के अनुसार^{१३} “हजरत ईसा की जन्म-शताब्दी से पूर्व ईराक, श्याम एवं फिलीस्तीन (आदि अनार्य देशों) में सैकड़ों की संख्या में श्रमण जैन-मुनि चारों ओर फैले हुए थे। पश्चिमी-एशिया, मिश्र, यूनान एवं एथियोपिया के पहाड़ों

और गहन-वनों में उन दिनों में अगणित भारतीय जैन-साधु वर्तमान थे। वे साधु वस्त्रों तक का परित्याग किये हुए थे।”

उक्त मूर- साहब आगे लिखते हैं कि “..... इन जैन साधुओं का प्रभाव यहूदी धर्मावलम्बियों पर विशेष रूप से पड़ा। उनके इस प्रभाव के कारण कुछ यहूदियों की एक विशेष जाति बन गई थी, जो “एस्सिनी” - जाति के नाम से प्रसिद्ध हुई और इन्होंने एस्सिनी-जाति के लोगों ने यहूदी-धर्म के क्रियाकाण्डों के पालन का परित्याग कर दिया। वे नगरों या ग्रामों से दूर एकान्त जंगलों या पहाड़ों पर घास-फूस की कुटी बनाकर उनमें अपनी साधना करने लगे थे। वे जैन-मुनियों के समान ही अहिंसा को अपना विशेष-धर्म समझते हुए मांसाहार के सर्वथा त्यागी हो गये थे। वे कठोर संयमी-जीवन व्यतीत करते थे तथा निष्परिग्रही रहते हुए रोगियों एवं असहाय दुर्बलों की निस्वार्थ भाव से सेवा किया करते थे।

मिश्र-देश में ऐसे साधुओं को “थेरापूते (स्थविर-पुत्र) कहा जाता था, जिसका अर्थ होता है स्थितप्रज्ञ मौनी-साधु।

सियाहत-नाम-ए-नासिर नामके एक लेखक ने लिखा है कि इस्लाम-धर्म के कलन्दरी-तबके (सम्प्रदाय) पर जैनधर्म का पर्याप्त प्रभाव पड़ा था। इन कलन्दरों की जमात (जाति) परिव्राजकों (जैन साधुओं) की ही जमात (जाति अथवा संघ या समुदाय) थी। उक्त कलन्दरों की विशेषता यह थी कि कोई भी कलन्दर किसी एक घर में दो रात से अधिक नहीं ठहरता था। वे लोग इन पांच नियमों को कठोरता के साथ पालन करते थे - (१) अहिंसा, (२) साधुता, (३) शुद्धता, (४) सत्यता और (५) अपरिग्रही-वृत्ति।

उनकी अहिंसक-वृत्ति के विषय में एक कथानक विशेष रूप से लोकप्रिय हुआ। तदनुसार एक बार दो कलन्दर-साधु यात्रा करते हुए बगदाद (इराक) पहुँचे। उनके सम्मुख एक शुतुर्मुर्ग ने एक गृहस्वामिनी का बहुमूल्य हीरों का हार निगल लिया। इस घटना को उन कलन्दरों के अतिरिक्त अन्य किसी ने देखा नहीं था। किन्तु वे अनजान बन गये। अतः उस (हार) की गहन खोज की जाने लगी। नगर-कोतवाल को उस (हार) के गुम जाने की सूचना दी गई। उस कोतवाल को उक्त दोनों कलन्दर-साधुओं पर उस चोरी का सन्देह हो गया। उन कलन्दरों ने भी उस मूक पक्षी-शुतुर्मुर्ग की हत्या करना या कराना धर्म-विरुद्ध समझकर उस तथ्य को छिपा लिया। फलतः कोतवाल ने उन दोनों कलन्दरों पर ही संदेह व्यक्त कर उनकी भयंकर पिटाई कर उन्हें कठोर सजा दी, जिसे उन्होंने सहन करके भी उसका रहस्य-भेदन नहीं किया। अहिंसा का ऐसा आदर्श उदाहरण अन्यत्र दुर्लभ है।

सुप्रसिद्ध इतिहासकार पं. विश्वम्भरनाथ पाण्डे के अनुसार सालेह-अब्दुल-कुदूस भी एक अहिंसावादी एवं अपरिग्रही परिव्राजक जैन-मुनि था, जिसे उसके सुधारवादी क्रांतिकारी विचारों के कारण ही कट्टरपंथियों द्वारा सन् ७८३ ई. में फाँसी की सजा दे दी गई थी।

श्रीलंका में श्रमण-संस्कृति -

प्राचीन काल में श्रीलंका भारत का ही एक अंग रहा था। इसी कारण वह भी श्रमण-संस्कृति का एक महत्वपूर्ण केन्द्र रहा था। वहाँ के उत्खनन में जैन-संस्कृति के अनेक अवशेष, स्मारक तथा तीर्थकरों की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। विक्रम की १४वीं सदी में जैनाचार्य जिनप्रभ-सूरि ने अपने चतुरसीति (-८४) महातीर्थ नामक कल्प में वहाँ के (१६वें तीर्थकर) - भगवान शान्तिनाथ के महातीर्थ का उल्लेख किया है। यथा -

.....श्रीलंकाया, पाताला - लंकायां त्रिकूटगिरौ श्रीशान्तिनाथः१३ ...।

इसी प्रसंग में उन्होंने क्रौंच-द्वीप (वर्तमान समरकन्द बुखारा-नगर) तथा हंसद्वीप के जैन महातीर्थों के भी उल्लेख किये हैं। हंसद्वीप में पांचवें तीर्थकर सुमतिनाथ के चरण-बिम्बों की स्थापना की भी चर्चा की गई है।

प्रो. ए. सी. सेन ने अपने ग्रन्थ (-On the Indian Sect of Jains) में लिखा है कि श्रीलंका के राजा पाण्डुकाभय (ई.पू. तीसरी सदी) ने वहाँ एक जैन-मंदिर तथा निर्ग्रन्थों (जैन-साधुओं) के लिए एक उपाश्रय (उदासीनाश्रम) का निर्माण कराया था। यथा -

The Ruling monarch pandukabhaya of cylon (Third century B.C.) built A Vihar And monastery for the Nirgranthas.

मंगोलिया में श्रमण-संस्कृति -

मंगोलिया अपने चतुर्दिक् फैले देशों के समान ही श्रमण-संस्कृति का प्रभावक केन्द्र था। एक जिज्ञासु भारतीय पुराविद् ने अपनी यात्रा के अनुभव मुम्बई समाचार (-गुजराती) पत्र दिनांक ०४/०८/१९३४ के अंक में इस प्रकार प्रकाशित कराए थे। - “आज मंगोलिया - देश में अनेक खण्डित जैन-मूर्तियाँ और जैन मंदिरों के तोरण-द्वार भूगर्भ से निकले हैं”^{१४}। कुछ विद्वानों ने मंगोलिया का अपरनाम मंगलावती भी बतलाया है।

ऋषभदेव एक ऐतिहासिक क्रांतिकारी नाम -

विश्व के सामाजिक इतिहास का अवलोकन करने से यह आश्चर्यजनक तथ्य सम्मुख आता है कि श्रमण-संस्कृति के जनक प्रथम तीर्थकर ऋषभदेव (अथवा वृषभदेव अथवा आदिनाथ या आदि-तीर्थकर) का व्यक्तित्व एवं कृतित्व लक्ष-लक्षाब्दियों तक विश्वव्यापी रहा है। उनके नामोच्चारण में विदेशों के स्थानीय जलवायु के प्रभावों के कारण भले ही कुछ परिवर्तन आया हो, किन्तु थे वे ऋषभदेव ही^{१५}।

मेडिटरेरियन वासियों द्वारा वे रेषेभ, रक्षेभ, अपोलो तथा बैल (ऋषभदेव का चिन्ह) भगवान् के नाम से एक आराध्य-देव के रूप में पूजित हैं। रक्षेभ से उनका तात्पर्य नाभि (ऋषभदेव के पिता) और मरुदेवी (ऋषभदेव की माता) के पुत्र ऋषभदेव^{१६} ही था और -

चाल्डियन देवता- नाबू को नाभि (ऋषभदेव के पिता) तथा मुरी या मुरु ही मरुदेवी (ऋषभदेव की माता) स्वीकार किये गये हैं।^{१७}

आरमीनिया के निवासियों के रक्षेभ निश्चय ही आदि तीर्थकर ऋषभदेव थे।^{१८}

कुछ इतिहाकारों के अनुसार सीरिया का पूर्व-नाम श्रीऋषभ (सी-श्री, रिया-ऋषभ) के नाम पर रखा गया था। वर्तमान में उसके एक नगर का नाम राषाफा है, जो स्थानीय जलवायु के प्रभाव से ऋषभ का ही परिवर्तित नाम है।^{१९}

पूर्वकालीन सोवियत-संघ के आरमेनिया में रेशावानी नाम का एक नगर तथा बेविलोन का एक नगर इसवेकजूर भी ऋषभ के परिवर्तित नाम है।^{२०}

फिनीशियनों के अतिरिक्त अकेडिया, सुमेरिया और मेसोपोटामिया के भी सिन्धु नदी के घाट-प्रदेश से सांस्कृतिक और व्यापारिक सम्बन्ध थे और वहाँ के व्यापारी ऋषभ के कृतित्व एवं व्यक्तित्व से प्रभावित होकर उनके सर्वोदयी सिद्धान्तों को अपने-अपने देशों में प्रचारार्थ लेते गये थे।^{२१}

तिब्बत, भूटान, नेपाल आदि में श्रमण-संस्कृति -

उक्त देशों तथा पार्श्ववर्ती क्षेत्रों में श्रमण-संस्कृति के यत्र-तत्र प्रचुर मात्रा में अवशेष मिलते हैं। उनसे स्पष्ट होता है कि पुराकाल में वहाँ प्रचुर मात्रा में जैनधर्मानुयायी निवास करते रहें और उन्होंने वहाँ जैन-मंदिर, जैन-तीर्थ एवं तीर्थकर-मूर्तियों के निर्माण कराए थे।

हिन्दी विश्व कोश^{२२} (तृतीय खण्ड, पृ.१२८) के अनुसार रूसी पर्यटक नोटोविच को तिब्बत के हिमिन-मठ में पाली-(प्रकृत) भाषा की एक पाण्डुलिपि प्राप्त हुई थी, जिसमें लिखा था कि ईसा ने भारत तथा भोट (तिब्बत) देश जाकर वहाँ अज्ञातवास किया था तथा वहाँ उन्होंने जैन-साधुओं के साथ साक्षात्कार भी किया था।

उक्त पाण्डुलिपि के अनुसार भोट (तिब्बत) देश में भगवान् महावीर का विहार हुआ था तथा वहाँ के निवासी डिमरी एवं डिंगरी जाति के लोग दिगम्बर-जैन थे। डिमरी एवं डिंगरी दिगम्बर शब्द का ही रूपान्तरित रूप है। वहाँ जैन पुरातात्विक-सामग्री पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होती है।

पुराविदों के अनुसार नेपाल सहस्राब्दियों पूर्व से ही श्रमण-संस्कृति का गढ़ था। वहाँ (नेपाल) के राष्ट्रिय-अभिलेखागार में अनेक प्राचीन-ग्रन्थ सुरक्षित हैं, जिनमें अर्धमागधी-आगम के “प्रश्न व्याकरण सूत्र” (पण्डवाकरण) की प्राचीन पाण्डुलिपि भी सुरक्षित है।

नेपाल की राजधानी काठमाण्डू के पास बागमती-नदी के किनारे पाटन के शंखमूल नामक स्थान से उत्खनन में लगभग १४०० चौदह सौस वर्ष प्राचीन भगवान् चन्द्रप्रभ तीर्थकर की कायोत्सर्ग-मुद्रा वाली एक मूर्ति उपलब्ध हुई है, जिसकी प्रतिष्ठा के लिये वहाँ एक विशाल जैन मंदिर का निर्माण कराया जा रहा है। प्राप्त सूचना के अनुसार वर्तमान में वहाँ लगभग ५०० जैन-परिवार निवास कर रहे हैं।

भूटान निवासी जैन ब्रह्मचारी लामचीदास ने सन् १७७१ में अपनी कैलाश-पर्वत की पद-यात्रा के प्रसंग में चीन, तिब्बत, तातार, कोरिया-चीन, महाचीन, खासचीन, को-चीन

तथा कुछ समुद्री-टापुओं की यात्रा की थी और वहाँ के आँखों देखे तथ्यों का संक्षिप्त वर्णन किया था। इस पद-यात्रा में उन्हें २२ वर्ष लगे थे। उसका आँखों देखा रोचक वर्णन और अपने अनुभवों को उन्होंने अपनी “मेरी कैलाश-यात्रा” नामकी पुस्तिका में ग्रथित किया है। जो वी. नि. सं. २४८६ (सन् १९५६) में मेरठ शहर से प्रकाशित हुई थी। यह यात्रा-वृत्तान्त उसी प्रकार महत्वपूर्ण है, जिस प्रकार मेगास्थनीज, फाहियान, ह्वेनत्संग, इत्सिंग एवं अलवेरुनी आदि विदेशी-पर्यटकों के यात्रा-वृत्तान्त।

ब्रह्मचारी लामचीदास ने कैलाश पर्वत के यात्रा मार्ग में पद-पद पर जैन-मूर्तियों के अवस्थित रहने की चर्चा की है।

ब्र. लामचीदास के अनुसार पैकिंग नगर में तुनावारे जैनियों के ३०० जैन मन्दिर थे और उनके जैनागम चीनी-लिपि में लिखित थे।^{१३}

उनकी यात्रा-विवरण के कुछ रोचक एवं सूचक तथ्य निम्न प्रकार हैं :-

१. को-चीन मुलुक की सीमा पर बहावल-पहाड़ की घाटी पर कोस २५० गये। इस पहाड़ पर बाहूवली (प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव के द्वितीय पुत्र) की प्रतिमाएँ, खड़े योग (कायोत्सर्ग) मुद्रा में बड़ी-बड़ी ऊँची जगहों पर है। (ध्यातव्य है कि जैन इतिहास के अनुसार बाहुबलि का राज्य इसी प्रदेश में था और जिसकी राजधानी तक्षशिला था)
२. को-चीन मुल्क के वीदम-देश होवी-नगर इस देश में कई नगरों में आमेढना-जाति के जैनी रहते हैं। इनकी प्रतिमाएँ सिद्ध (तीर्थंकर के निर्वाण-कल्याणक) के आकार (आकृति) की हैं।
३. चीन मुलुक के गिरगम-देश, ढांकुल नगर में यह यात्री (लामचीदास) गया। इस देश की राजधानी इसी ढांकुल-नगर में है। यहां के राजा एवं प्रजा सभी जैनधर्मानुयायी हैं। ये सभी लोग तीर्थंकर के अवधिज्ञान की पूजन करते हैं। इन्हीं प्रतिमाओं की मनःपर्ययज्ञान तथा केवलज्ञान की भी पूजा करते हैं।
४. चीन मुलुक के पैकिन शहर में तुनावारे (जाति के) जैनियों के शिखरवन्द ३०० जिन-मन्दिर हैं जिनमें कायोत्सर्ग एवं पद्मासनी मुद्राओं में जिनेन्द्र मूर्तियाँ हैं। इनका एक हाथ पर केश-लेंच कर रहा है (अर्थात् ये मूर्तियाँ दीक्षा-कल्याणक की हैं)।

उक्त मंदिरों में स्वर्ण के चित्र बने हुए हैं। छत्र हरे पन्न एवं मोतियों के डिब्बेदार हैं। सोने-चांदी के कल्पवृक्ष बने हैं। इन मंदिरों में वनों की रचना है जो दीक्षा-कल्याणक के सूचक हैं।

तिब्बत-देश में श्रृंगार-देश के वरजंगल-नगर में लामचीदास के कथनानुसार वाघामारे जाति के ८००० जैन परिवार निवास करते हैं। उनके यहां पर तीन, पांच एवं सात गुंबज वाले २००० सुन्दर जैन मंदिर हैं। एक-एक मंदिर पर सौ-सौ, दो-दो सौ कलश सुशोभित हैं। इन

मंदिरों में ऋषभदेव की माता मरुदेवी के बिम्ब भी विराजमान हैं। इन मंदिरों में रत्नों और पुष्पों के बरसने के चिन्ह छतों में अंकित हैं।

तिब्बत के ही एरूल नगर में जैनी राजा राज्य करता है। इस नगर में मावरे जाति के जैन निवास करते हैं। यहां एक नदी के किनारे २०,००० जैन मंदिर हैं और जेठ वदी तेरस, चउदस को दूर-दूर के जैन यात्री वन्दना करने आया करते हैं। नदी के किनारे ही संगमरमर पत्थर का १५० गज ऊँचा सुन्दर मेरुपर्वत भी बना हुआ है। जिनाभिषेक, मेला-समारोह आदि के कारण यहाँ हर्ष का वातावरण सदैव बना रहता है।

तिब्बत के अन्य नगर में सोहना जाति के जैनी निवास करते हैं। यहाँ के जैनी तीर्थकरों की राज्य-विभूति को वन्दन-नमस्कार करते हैं। मूर्तियों के सिर पर मुकुट बंधे हुए हैं।

तिब्बत की दक्षिण-दिशा में ८० कोश की दूरी पर सुन्दर वनों एवं सरोवरों से समृद्ध नगर में ब्रह्मचारी लामचीदास लगातार एक वर्ष तक रहा। यहाँ के जैनी जैन पंथी हैं। ये लोग तीर्थकर के दीक्षा कल्याणक के पूजक हैं।

यहाँ पर उनके १०४ शिखर बन्द सुन्दर रत्न जटित मन्दिर हैं। यहाँ वनों में भी तीस हजार जैन मंदिर हैं इनमें नन्दीश्वर-द्वीप की आकृति के बावन (५२) चैत्यालय भी निर्मित हैं। इन्हीं कारणों से उसे वनस्थली भी कहा जाता है।

ब्रह्मचारी लामचीदास ने वहाँ के जैनागमों का श्रवण कर तथा प्रभावित होकर ग्यारह प्रतिमाएं धारण की थीं। यहाँ पर समय-समय पर जैन समारोह होते रहते हैं।

तिब्बत-चीन की सीमा की दक्षिणी-सीमा में हनुवर-देश में १०-१०, १५-१५ कोस पर जैन पन्थियों के अनेक नगर थे जिनमें अनेक जैन मंदिर थे।

इसी हनुवर-देश के उत्तर में स्वर्ग के समान सुन्दर धर्माव नगर की उत्तर दिशा में एक विशाल वन है जिसमें तीन पंथियों, बीसपंथियों, तेतीस-पन्थियों त्रेपन-पंथियों अथवा अनेक पंथियों के जैन मंदिर हैं।

इस अनुवर देश का राजा एवं प्रजा सभी जैनी हैं। इस देश की कुल आबादी कई लाखों में है। इस प्रदेश में जंगली जानवर अधिक हैं। अतः उनसे सुरक्षा के लिए नगर-कोट के द्वार पर एक प्रहर दिन रहते हुए भी बन्द कर दिये जाते हैं। यहाँ से ब्र. लामचीदास कैलाश (अष्टापद) पर्वत की पदयात्रा के लिये चल पड़े। जिसकी चर्चा पीछे की जा चुकी है।

क्रमशः अगले अंक में

बी - ५/४० सी, सेक्टर - ३४

धवल गिरी - नोएडा - २०१३०१ उ.प्र.

‘अध्यात्म-रहस्य’ में वर्णित स्वानुभूति का स्वरूप एवं प्रक्रिया

- डॉ. राजेन्द्र कुमार बंसल

आचार्य कल्प पं. आशाधरजी की अद्वितीय जैन-साहित्य साधना, अगाध बुद्धि कौशल एवं स्वानुभव से परिपूर्ण धर्मामृत रूप जैनागम सार उनकी कृति ‘अध्यात्म-रहस्य’ में सहज ही दृष्टव्य है। पं. जी ने जैन-जैनेतर साहित्य का विषद् अनुभव कर सत्रह अध्यायों में धर्मामृत की रचना की। अपने पिता श्री की प्रेरणा से आपने धर्मामृत के अठारहवें अध्याय के रूप में ‘अध्यात्म-रहस्य’ की रचना की, जो संयोगवश उनकी भावनानुसार धर्मामृत का अंग नहीं बन सकी। योग अर्थात् ध्यान/समाधि विषयक होने के कारण इसका अपर नाम योगोद्दीपन भी हैं। इसकी पुष्टि निम्न समाप्ति सूचक वाक्य से होती है -

‘इत्याशाधर-विरचित-धर्मामृतनाम्नि सूक्ति-संग्रहे

योगीद्दीपनयो नामष्टादशोऽध्यायः’

पं. जी ने उक्त वाक्य में सूक्ति-संग्रह विशेषण लगाया है। यह विशेषण इस तथ्य की पुष्टि करता है कि पं. आशाधर जी ने धर्मामृत में जो लिखा है वह अरहंतदेव और उनकी गणधर-आचार्य परम्परा के प्रमाण पुरुषों की अर्थ सूचक सूक्तियों का संग्रह है, जिनआगम स्वरूप ही हैं।

‘अध्यात्म-रहस्य’ में संस्कृत भाषा के ७२ श्लोक हैं। इसकी प्रतिपाद्य विषय वस्तु अध्यात्म अर्थात् आत्मा से परमात्मा होने सम्बन्धित रहस्य अर्थात् मर्म का बोध कराता है। यह कृति धर्मामृत रूप भव्य प्रासाद का स्वर्ण-कलश है। इसे अध्यात्म-योग-विद्या भी कही जा सकती है। अध्यात्म-रहस्य का दार्शनिक आधार आचार्यों कृत समयसार, ज्ञानार्णव अमृताशीति, भावपाहुड अमृतकलश, परमात्मप्रकाश, समाधितंत्र, इष्टोपदेश, तत्त्वार्थसार, योगसार आदि अध्यात्म ग्रंथ हैं।

स्व. श्री पं. जुगल किशोर मुख्तार ‘युगवीर’ ने श्रम-साधना पूर्वक व्याख्या लिखकर वीरसेवा मन्दिर दिल्ली से वर्ष १९५७ में प्रकाशित की थी, जो अब अनुपलब्ध है।

आचार्य कुन्दकुन्द ने मोक्षपाहुड में और आचार्य पूज्यपाद ने समाधितंत्र में आत्मा के तीन भेद किये हैं - बहिरात्मा, अंतरात्मा और परमात्मा। पं. आशाधरजी ने इन्हें क्रमशः स्वात्मा, शुद्धस्वात्मा और परब्रह्म के रूप में युक्तिपूर्वक निरूपित किया है। इस प्रकार अनादि अविद्या युक्त स्वात्मा (द्रव्य दृष्टि शुद्धात्मा) से परब्रह्म-परमात्मा रूप पूर्ण विकसित मुक्तात्मा की प्राप्ति ही अध्यात्म-रहस्य का लक्ष्य है, जो सभी जीवात्माओं को इष्ट है। पं. आशाधरजी के

अनुसार कर्मजनित शारीरिक दुःख-सुख में अपनत्व रूप अविद्या का छेदन भेद-विज्ञान जन्म सम्यग्ज्ञान एवं उपेक्षा रूप विद्या से होता है। इसका प्रारंभ श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि इन चार सोपानों सहित आत्मानुभूति एवं शुद्ध उपयोग से होता है। शुद्ध उपयोग का साधक श्रुताभ्यास, शुद्धात्मा एवं भगवती भवितव्यता की भावना है। आपने रत्नत्रयात्मक शुद्ध-स्वात्मा को ही यथार्थ मोक्षमार्ग स्वीकार कर व्यवहार एवं निश्चय दोनों को कल्याणकारी घोषित किया है।

मंगलाचरण : भगवान् महावीर एवं गौतम गणधर की वंदना -

जो भक्तियोग में अनुरक्त सुपात्र निकट भव्यों को अपना पद (सिद्धत्व) प्रदान करते हैं अर्थात् जिनकी सच्ची-सविवेक-भावपूर्ण भक्ति से भव्यप्राणी उन जैसे ही हो जाते हैं, उन ज्ञानलक्ष्मी के धारक श्री भगवान् महावीर और श्री गौतम गणधर को नमस्कार हो (श्लोक १)। यह आराध्य से आराधक होने सूचक श्लोक है। पुनश्च उन सद्गुरुओं को नमस्कार है जिनके वचन रूपी दीपक से प्रकाशित (योग) मार्ग पर आरूढ़ योगी-ध्यानीमोक्ष-लक्ष्मी को प्राप्त करने में समर्थ होता है (श्लोक २)। सद्गुरु दो प्रकार के होते हैं - पहला व्यवहार-सद्गुरु जिसकी वाणी के निमित्त से योगाभ्यासी को शुद्धात्मा के साक्षात्कार की दृष्टि प्राप्त होती है, और दूसरा - निश्चय-सद्गुरु, 'आत्मैव गुरुरात्मनः' अर्थात् आत्मा ही आत्मा का सद् गुरु हैं जिसका अंतरनाद हो और सुनाई पड़े। अंतरात्मा की आवाज ही सन्मार्ग-दर्शक है (श्लोक ३)।

पारगामी योगी का स्वरूप -

जिसके शुद्धस्वात्मा में निजात्मा की राग-द्वेष-मोह रहित अवस्था में- सद्गुरु के प्रसाद से श्रुति, मति, ध्याति और दृष्टि - ये चार शक्तियाँ क्रमशः सिद्ध हो जाती हैं, वह योगी योग का पारगामी होता है (श्लोक ३)। इस प्रकार आत्म साक्षात्कार करने वाला योगी और उसकी दृष्टि देने वाला गुरु ही सद्गुरु हैं। श्री पं. आशाधरजी ने आत्मा के तीन भेद किये हैं : बहिरात्मा स्वात्मा, शुद्ध स्वात्मा अन्तरात्मा शुद्ध स्वात्मा, और परब्रह्म परमात्मा।

बहिरात्मा स्वात्मा का स्वरूप -

जो आत्मा निरंतर हृदय-कमल के मध्य में- उसकी कर्णिका में - अहं शब्द के वाच्य रूप से - 'मैं' के भाव को लिए हुए पशुओं, मूढ़ों तक को स्वसंवेदन (स्वानुभूति) से ज्ञानियों को स्पष्ट प्रतिभासित होता है, वह स्वात्मा है (श्लोक-४)। पर्याय की दृष्टि से स्वात्मा के शुद्ध और अशुद्ध दो भेद हो जाते हैं।

अंतरात्मा (शुद्ध स्वात्मा) का स्वरूप -

स्वात्मा ही जब किसी से राग-द्वेष-मोह नहीं करता हुआ सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप परिणत होता है, शुद्ध-स्वात्मा कहलाता है (श्लोक-५)।

परमात्मा (परब्रह्म) का स्वरूप -

जो निरन्तर आनन्दमय-चैतन्य रूप से प्रकाशित रहता है, जिसको योगी जन ध्याते हैं, जिसके द्वारा यह विश्व आत्म विकास की प्रेरणा पाता है, जिसे इन्द्रों का समूह नमस्कार करता है, जिसके जगत की विचित्रता व्यवस्थित होती है, जिसका हार्दिक श्रद्धान आत्म-विकास का

मार्ग (पदवी) है और जिसमें लीन होना मुक्ति है, ऐसा वह परमब्रह्म रूप सर्वज्ञ-सूर्य मेरे हृदय में सदा प्रकाशित हो (श्लोक ७२)। केवलज्ञानमय सर्वज्ञ ही परमप्रकाश रूप परब्रह्म है।

योगी की चार सिद्धियों (सोपानों) का स्वरूप -

१. श्रुति-श्रुत : जिनेन्द्र देव द्वारा उपदेशित ऐसी गुरुवाणी जो प्रथमतः ज्ञात एवं उपदिष्ट-ध्येय को अर्थात् ध्यान के विषय भूत शुद्धात्मा को धर्म्यध्यान तथा शुक्ल ध्यान में दृष्ट (प्रत्यक्ष) और इष्ट (आगम) के अविरोध रूप आयोजित एवं व्यवस्थित करती है उसका नाम श्रुति है (श्लोक ६)। ऐसी धर्म-देशना जो स्वात्मा को प्रशस्त ध्यान की ओर लगाकर शुद्धात्मा-ध्येय को प्राप्त कराने की दोष रहित विधि है, वह श्रुति है। 'एकाग्रचिन्ता निरोधो ध्यानं' - एकाग्र में चिन्ता निरोध को ध्यान कहा है। शुद्धात्मा में चित्तकृति के नियंत्रण एवं चिन्तान्तर के अभाव को ध्यान कहते हैं, जो स्व-संवित्तिमय होता है।
२. मति-बुद्धि : गुरुवाणी से प्राप्त श्रुति के द्वारा सम्यक रूप से निरूपित शुद्ध-स्वात्मा जिस मति या बुद्धि से युक्तिपूर्वक नय प्रमाण द्वारा सिद्ध किया जाता है - अध्यात्म शास्त्र में मति कही जाती है (श्लोक-७)। जो पदार्थ जिस रूप में स्थित है उसको उसी रूप में देखती हुई धी (मति) जो सदा आत्माभिमुख होती है वह बुद्धि के रूप ग्राह्य है; तब ही बन्धु उस बुद्धि के आत्म-सम्बन्ध को समझो (श्लोक १७)। ऐसी स्व-पर प्रकाशित बुद्धि का नाम सम्यग्ज्ञान है।
३. ध्यान रूप परिणत बुद्धि-ध्याति :- जो बुद्धि प्रवाह रूप से शुद्धात्मा में स्थिर वर्तती है - अपने शुद्धात्मा का अनुभव करती है - और शुद्धात्मा से भिन्न के ज्ञान का स्पर्श नहीं करती उस बुद्धि (ज्ञान की पर्याय) को ध्याति कहते हैं (श्लोक ८)। ध्यान रूप परिणत तथा ध्येय को समर्पित बुद्धि ही ध्याती कहलाती है।
४. दृष्टि (दिव्य दृष्टि) : जिसके द्वारा रागादि विकल्पों से रहित ज्ञान शरीरी स्वात्मा अपने शुद्ध स्वरूप में दिखाई दे और जिस विशिष्ट भावना के बल पर सम्पूर्ण श्रुतज्ञान स्पष्टतः अपने में प्रत्यक्ष रूप से प्रतिभासित होता है - वह अध्यात्म-योग-विद्या में दृष्टि-दिव्यदृष्टि कही जाती है (श्लोक ९)। अथवा जो दर्शन-ज्ञान लक्षण से आत्म-लक्ष्य को अच्छी तरह अनुभव करे - जाने वह संवित्ति 'दृष्टि' कहलाती है (श्लोक १०)। शुद्ध स्वात्मा का साक्षात्कार कराने वाली वह दृष्टि समस्त दुःखदायी विकल्पों को भस्म करती है, वही परमब्रह्म रूप है और योगीजनों द्वारा उपादेय होकर पूज्य-प्रार्थनीय है (श्लोक ११)।

श्रुताभ्यास का उद्देश्य : दिव्यदृष्टि एवं शुद्धोपयोग की प्राप्ति -

बुधजनों द्वारा श्रुतसागर (शास्त्राभ्यास) के मंथन का उद्देश्य या संवित्ति की प्राप्ति है जिससे अमृत रूप मोक्ष प्राप्त होता है; अन्य सब तो मनीषियों का बुद्धि कौशल निःसार है (श्लोक १२)। श्रुताभ्यास के द्वारा शुभ-उपयोग का आश्रय करता हुआ शुद्ध-स्वात्मा शुद्ध उपयोग में ही अधिकाधिक स्थिर रहने की भावना एवं श्रेष्ठ-निष्ठा धारण करता है (श्लोक-५५)। इसी कारण से स्वाध्याय को परम तप कहा है।

कर्मबंधरूप संसार दुःख का कारण : अविद्या -

प्रेम (तीन वेदरूप परिणति), रति, माया, लोभ और हास्य यह पाँच (वेद सहित सात) राग के भेद हैं। क्रोध, मान, अरति, शोक, भय और जुगुप्सा यह छः भेद द्वेष हैं। दर्शन मोहनीय के मिथ्यात्व सहित राग ही मोह कहलाता है। राग-द्वेष-मोह बंध का कारण होने से मुमुक्षुओं द्वारा उपेक्षणीय होने पर भी अज्ञानी जीव कर्मों से प्रेरित होकर 'यह मेरा हित है' या 'यह मेरा अहित है' ऐसा मानता हुआ पदार्थों में राग या द्वेष करता है और कर्म-बंध से पीड़ित होता है (श्लोक २८)। मोह के कारण वह ऐसा मानता है कि सुगति की प्राप्ति से इन्द्रिय-विषयों का बारम्बार सुख और दुर्गति से इन्द्रिय-विषयों की अप्राप्ति रूप दुःख होता है। उसकी यह मान्यता अविद्या रूप है और पाप का बीज है (श्लोक २२)। इस अविद्या का छेदन सम्यग्ज्ञान एवं उपेक्षारूप विद्या से शक्य हैं जिसका वर्णन आगे किया है।

उत्तम सुख (मोक्ष) का मार्ग : रत्नत्रय -

रत्नत्रय उत्तम सुख (मोक्ष) का मार्ग है। रत्नत्रय अर्थात् सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य रूप शुद्ध-स्वात्मा (अंतरात्मा) ही यथार्थतः मोक्षमार्ग है। अतः मुमुक्षुओं द्वारा वही पृच्छनीय, अभिलाषणीय और दर्शनीय है (श्लोक १४)। अन्यत्र भटकने की आवश्यकता नहीं है।

शुद्ध चिदानन्दमय स्वात्मा के प्रति तद्रूप प्रतीति, अनुभूति और स्थिति में अभिमुखता ही क्रमशः गौण (व्यवहार) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है और उस प्रतीति, अनुभूति तथा स्थिति में उपयोग की प्रवृत्ति मुख्य (निश्चय) सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य है (श्लोक १५)। शुद्धस्वात्मा की प्रतीति दर्शन, अनुभूतिज्ञान और स्थिति चारित्र्य है। इनकी अभिमुखता व्यवहार रत्नत्रय है और उपयुक्त अर्थात् उपयोग की प्रवृत्ति निश्चय रत्नत्रय है।

निश्चय रत्नत्रय की महत्ता -

सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्यरूप त्रिरत्न को स्वात्मा की बुद्धि में धारण-श्रद्धान कर जब जीव शुद्ध-स्वात्मा का इस तरह संवेदन (अनुभव) करता है कि संवेद्यमान (अनुभव में आने वाली) स्वात्मा में स्वयं में लीन हो जाता है तभी त्रिरत्नमय गुणों का उच्च विकास होता है (श्लोक १६)। इसे ही ज्ञानानुभूति कहते हैं।

व्यवहार-निश्चय सम्यग्दर्शन -

अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप स्वभाव से भिन्न आत्मा की छः द्रव्यों तथा सात-तत्त्वों के प्रति अभिरुचि व्यवहार सम्यग्दर्शन है। अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप स्वभाव की ओर प्रवृत्त आत्माभिमुखी रुचि का नाम निश्चय सम्यग्दर्शन है (श्लोक ६४)।

व्यवहार-निश्चय सम्यग्ज्ञान : (सविकल्प और निर्विकल्प) -

पर-पदार्थों के ग्रहण को गौण कर निर्विकल्प स्वसंवेदन को निश्चय सम्यग्ज्ञान कहते हैं। पर-पदार्थों के ग्रहण रूप सविकल्प ज्ञान को व्यवहार-सम्यग्ज्ञान कहते हैं। भेद विशेष तथा पर्याय को विकल्प कहते हैं, जो इनसे सहित हैं वह सविकल्प और जो इनसे रहित हैं वह निर्विकल्प कहा जाता है (श्लोक ६८)। जो ज्ञान आत्मा से भिन्न पर-पदार्थ से संसर्ग को प्राप्त हो रहा हो तथा वह किसी शब्द समूह का विषय बना हुआ हो, तभी सविकल्प कहलाता है (श्लोक ६९)।

व्यवहार-निश्चय सम्यक् चारित्र -

आत्मा की सर्व-सावद्य-योग (मन-वचन-काय) से हिंसादि कार्यों से निवृत्ति गौण (व्यवहार) सम्यक्चारित्र है और कर्म-छेदन से उत्पन्न आनन्द-परमानन्दमय वृत्ति मुख्य (निश्चय) सम्यक्चारित्र हैं (श्लोक ७०)।

उभय रत्नत्रय की कल्याणकारिता की घोषणा -

पूर्ण आत्म विकास में उभय रत्नत्रय कल्याणकारी है जो अपूर्णतया अल्पशुद्धि से पूर्ण शुद्धि की ओर ले जाता है और साधन-साध्य का कार्य करता है। पं. जी के अनुसार जो जीव काललब्धि आदि के वश से तत्त्वार्थ के अभिनिवेश रूप-श्रद्धात्मक शुद्धि को, तत्त्वार्थ निर्णयरूप सम्यग्ज्ञानात्मक शुद्धि को तथा तपश्चरणमयी सम्यक्चारित्र रूप शुद्धि को, जो विकल व्यवहार रूप अपूर्ण है, धारण करते हैं। वे स्वात्म प्रत्यय-निजात्म प्रतीतिरूप सम्यग्दर्शन, स्वात्म वित्ति-निजात्मज्ञानरूप सम्यग्ज्ञान और तल्लीनतामय-निजात्म निमग्नतारूप सम्यक् चारित्रमयी पूर्ण आत्म-शुद्धि को प्राप्त करने वाले भव्य सिंह हैं (श्लोक ७१)।

आत्माभिमुखी स्वात्मा की भावना एवं धारणा का स्वरूप -

१. अकर्त्ता-उभोक्ता स्वरूप की भावना : स्वात्मा को अपने शुद्ध में स्थिर तथा दृढ़ करने हेतु साधक भावना भाता है कि 'मैं ही मैं हूँ', इस आत्मज्ञान से भिन्न अन्य में, 'यह मैं हूँ, 'मैं यह करता हूँ', मैं यह भोगता हूँ', इस प्रकार की चेतना-विचार को त्यागता है (श्लोक १८)। आत्मज्ञान से भिन्न अन्य कार्य को चिरकाल तक बुद्धि में धारण नहीं करता, यदि प्रयोजनवश कुछ समय के लिए वचन और काय से करना भी पड़े तो अनासक्ति भाव से करना चाहिये (समाधितंत्र श्लोक ५०)। इससे कर्तृत्व-भोक्तृत्व भाव विसर्जित होता है।
२. रागादिक विभावों के विनाश की भावना : राग-द्वेष-मोह आत्मा के अतीव उग्र शत्रु हैं उनकी अनुत्पत्ति और विनाश के लिये स्वात्मा बड़ी तत्परतापूर्वक नित्य ही अपने शुद्ध-बुद्ध-चिद्रूप-स्वात्मा की भावना भाता है (श्लोक २६)। इससे रागादि के प्रति स्वामित्व भाव विसर्जित होता है
३. भाव-द्रव्य-नोकर्म के त्याग की भावना : कर्म और कर्म-फल से आसक्ति घटाने एवं उनसे निवृत्ति हेतु स्वात्मा भावना भाता है कि रागादिक भाव कर्म, ज्ञानावरणादिक द्रव्यकर्म और शरीरादिक नोकर्म मेरा स्वरूप नहीं है, मुझसे भिन्न बाह्य पदार्थ हैं - मैं उन्हें त्यागता हूँ और उनसे उपेक्षा धारण करता हूँ (श्लोक ६०)। आत्मा द्वारा निरन्तर अनुभव किये जाने वाले राग-द्वेष-क्रोधादि भाव, (कार्य में कारण के उपचार से) भाव-कर्म है तथा कर्मरूप परिणत पुद्गलपिण्ड में जो अज्ञान तथा रागद्वेषादिक फलदान की शक्ति है, जिसके वश संसारी जीव राग-द्वेष करता है, वह भाव कर्म है (श्लोक ६१)। जिस ज्ञानावरणादिक रूप पुद्गल कर्म के द्वारा चैतन्य स्वरूप आत्मा विकारी होकर कर्म-अनुरूप-अवस्था धारण करता है, द्रव्य-कर्म है (श्लोक ६२)। तथा जीव में जो अंगादिक है उनकी वृद्धि-हानि के लिये जो पुद्गल-समूह कर्मोदयवश

तद्रूप विकार को प्राप्त होता है, वह नोकर्म है (श्लोक ६३)। 'नो' शब्द अल्प, लघु या किंचित अर्थ का सूचक है। इससे ममत्व भाव विसर्जित होता है।

४. हेय-उपादेय विवेक भावना : सिद्धि अर्थात् स्वात्मोपलब्धि के लिये हेय-उपादेय, सत-असत का ज्ञान और तदनुसार भावना अपेक्षित है। व्यवहारनय की अपेक्षा बाह्य विषयक मिथ्यादर्शन-ज्ञान-चारित्र्य हेय हैं, असत है और सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र्य उपादेय (ग्राह्य) हैं और सत हैं। निश्चयनय की दृष्टि से मिथ्यादर्शनादिक हेय और असत् हैं तथा अध्यात्म विषयक सम्यग्दर्शनादिक उपादेय हैं, जो कि सत् हैं (श्लोक ६५)।

परमशुद्ध निश्चयनय से मेरे लिए न कुछ हेय है और न कुछ उपादेय (ग्राह्य) है। मुझे तो स्वात्मोपलब्धि रूप सिद्धि चाहिये, चाहे वह यत्नसाध्य हो या अयत्नसाध्य, उपाय करने से मिले या बिना उपाय के मिले (श्लोक ६५)। जो निष्ठात्मा-स्वात्मस्थित कृत-कृत्य हो गया है उसके लिए बाह्य-अभ्यन्तर त्याग-ग्रहण का प्रश्न ही नहीं उठता।

५. भवितव्यता आधारित अहंकार-विसर्जन की भावना : जीवन में अहंकार और ममकार के संकल्प-विकल्प दारुण आकुलता के निमित्त बनते हैं। इनका विसर्जन भगवती भवितव्यता का आश्रय लेने से होता है। कर्तृत्व के अहंकार के त्याग हेतु कहा है कि 'यदि सद्गुरु के उपदेश से जिनशासन के रहस्य को आपने ठीक निश्चित किया है, समझा है - तो 'मैं करता हूँ' इस अहंकार पूर्ण कर्तृत्व की भावना को छोड़ो और भगवती-भवितव्यता का आश्रय ग्रहण करो (श्लोक ६६)। कोई भी कार्य अंतरंग और बहिरंग अथवा उपादान और निमित्त, नियति (काललब्धि) पुरुषार्थ और भवितव्यता (होनहार) इन पाँच समवायपूर्वक होता है। अतः कर्तृत्व के अहंकार के विसर्जन हेतु पुरुषार्थपूर्वक कार्य करना इष्ट हैं किन्तु फल की एषणा (अभिलाषा) भवितव्यता पर छोड़ना चाहिये। इसीलिये जैन आगम में स्वामी समन्तभद्र ने स्वयंभूस्तोत्र में भवितव्यता को अलंध्य-शक्ति कहा है जिसे यहाँ 'भगवती' शब्द से सम्बोधित किया है। स्मरणीय है कि यहाँ कार्य में कर्तृत्व के अहंकार के त्याग की बात कही है न कि कार्य के त्यागने की। बिना कार्य के भवितव्यता का लक्षण ही नहीं बनता। अतः पद की भूमिकानुसार कार्य करना अपेक्षित है। निष्क्रियता का आश्रय भवितव्यता का उपहास है।

श्री पं जुगलकिशोर मुख्तार, युगवीर ने अध्यात्म-रहस्य हिन्दी व्याख्या में स्पष्ट किया है कि "भगवान सर्वज्ञ के ज्ञान में जो कार्य जिस समय, जहाँ पर, जिसके द्वारा, जिस प्रकार से होना झलका है वह उसी समय, वहीं पर, उसी के द्वारा और उसी प्रकार से सम्पन्न होगा, इस भविष्य-विषयक कथन से भवितव्यता के उक्त आशय में कोई अन्तर नहीं पड़ता; क्योंकि सर्वज्ञ के ज्ञान में उस कार्य के साथ उसका कारण-कलाप भी झलका है, सर्वथा नियतिवाद अथवा निर्हेतु की भवितव्यता, जोकि असम्भाव्य है, उस कथन का विषय ही नहीं है। सर्वज्ञ का ज्ञान ज्ञेयाकार है न कि ज्ञेय ज्ञानाकार (पृष्ठ ८३-८४)। भगवती-भवितव्यता के रहस्य को समझने से चित्त में समता-भाव

जाग्रत होता है जो आत्म साक्षात्कार के लिये सहायक है। अतः इसकी भावना भाना श्रेष्ठ है।

६. स्व-समर्पण हेतु आत्मा के अद्वैत-सच्चिदानंद स्वरूप की भावना : वस्तु स्वरूप के प्रति अहं भाव आये बिना आत्म-समर्पण नहीं होता। इसी दृष्टि से स्वात्मा विचार करता है कि 'निश्चय से आत्मा सत्, चित् और आनन्द के साथ अद्वैत रूप ब्रह्म है वह मैं ही हूँ, इस प्रकार निरन्तर अभ्यास से ही मैं अपने निर्मल आत्मा में लीन रहता हूँ (श्लोक ३०)। जो आत्मा को कर्मादिक से सम्बद्ध देखता है वह द्वैत रूप है जबकि जो भव्य-आत्मा अन्य पदार्थों से विभक्त भिन्न अपने को देखता है वह अद्वैत रूप परमब्रह्म को देखता है। अतः अद्वैत स्वरूप की भावना भाओ।

(अ) सत् स्वरूप :

आत्म स्वचतुष्टय रूप द्रव्य-क्षेत्र-काल-भाव की दृष्टि से प्रतिक्षण ध्रौव्य-उत्पत्ति-व्ययात्मक सत् स्वरूप हैं, सत्तावान है। पर-चतुष्टय की दृष्टि से असत् स्वरूप हैं (श्लोक ३१)। जैसा जगत है वैसा मैं कभी नहीं हूँ और जैसा मैं हूँ वैसा जगत कभी नहीं रहा; क्योंकि कथंचित् सर्व पदार्थों की परस्पर विभिन्नता का अनुभव होता है (श्लोक ३२)। पुद्गल में रूपादि गुण, धर्म द्रव्य में गति सहकारिता, अधर्म द्रव्य में स्थिति सहकारिता, कालद्रव्य में परिमणत्व और आकाश द्रव्य में, अवगाहनत्व गुण हैं। सर्वद्रव्यों की अर्थ पर्याय सूक्ष्म और प्रतिक्षण नाशवान है (श्लोक ३८)। जीव और पुद्गल की व्यंजन पर्याय वचन गोचर, स्थिर और मूर्तिक है। प्रत्येक द्रव्य अर्थ-व्यंजन पर्यायमय हैं और वे पर्यायें द्रव्यमय हैं (श्लोक ३९)।

(ब) चित् स्वरूप :

आत्मा ने अनादिकाल से अपने चैतन्य स्वरूप को जाना है, आज भी जान रहा है और अनन्तकाल तक अन्य किसी प्रकार से जानता रहेगा। जानने वाला ध्रुव चेतन द्रव्य मैं हूँ (श्लोक ३३)। प्रत्येक द्रव्य पूर्व पर्याय में नष्ट होता हुआ वर्तमान पर्याय में उत्पन्न होता हुआ सत् रूप से सदा स्थिर रहता हुआ 'यह वही है' इस प्रकार ज्ञान में लक्षित होता है उसी प्रकार सारा द्रव्य समूह त्रि-गुणात्मक अनुभव किया जाता है। मैं भी एक चेतन द्रव्य हूँ अतः अनादि संतति से उसी प्रकार अपनी चेतन पर्यायों के द्वारा परिवर्तित हो रहा हूँ और सदा से चेतनामय बना हुआ हूँ (श्लोक ३४-३५)। द्रव्य गुण-पर्यायवान हैं। जो सहभावी हैं वे गुण हैं और जो क्रमभावी हैं वे पर्याय हैं। जीवात्मा असाधारण चैतन्य गुण हैं जो जीव के साथ सदा रहता है और कभी उससे अलग नहीं हो सकता (श्लोक ३६)। स्वात्मा यह भावना भाता है कि जिस प्रकार मुक्ताहार में हार-मोती-शुक्लता पृथक्-पृथक् होते हुए भी प्रतीति में सभी हार गए हैं उसी प्रकार आत्म द्रव्य में 'मैं चेतन हूँ, मुझमें चैतन्य हैं और चेतन-पर्यायों में चैतन्य गुण रहता है', इस प्रकार मैं आत्म द्रव्य में तन्मय हो रहा हूँ, आत्म द्रव्य इनके साथ तन्मय हो रहा है। ऐसा प्रतीत-भावना निरन्तर बनी रहे (श्लोक ४०)।

(स) आनन्द स्वरूप :

चैतन्य गुण के समान आनन्द गुण भी आत्मा का है जो अन्य द्रव्य में नहीं पाया जाता। शुद्ध-स्वात्मा अपने में ही उस शाश्वत आनन्द गुण का चिन्तन करता हुआ यह अनुभव करता है कि ऐसा आनन्द चक्रवर्ती, इन्द्र, अहमिन्द्र और धरणेन्द्र को भी कभी प्राप्त नहीं होता। यह आनन्द गुण अतीन्द्रिय तथा स्वाधीन है जिसके समक्ष सभी लौकिक सुख फीके पड़ते हैं (श्लोक ४१)।

७. हृदय में परब्रह्म स्वरूप के स्फुरण की भावना : आत्मानुभव के लिए उत्सुक स्वात्मा आनन्दमय चैतन्य रूप से प्रकाशित परमब्रह्म की भावना भाता है कि वह इसके मन में सदा स्फुरायमान हो। उसकी इस प्रबल भावना के फल स्वरूप त्रिकर्म से रहित देह-देवालय में विराजमान आत्म प्रभु का साक्षात्कार हो पाता है (श्लोक ७२ भावार्थ)।

८. अन्तर्जल्प के परित्याग एवं आत्म-ज्योति-दर्शन की भावना : स्वात्मा- साधक को प्रेरणा दी गयी है कि वह उक्तानुसार भाव-भूमि में 'मैं ही मैं हूँ' इस प्रकार के अंतरजल्प से सम्बद्ध आत्मज्ञान की कल्पना में ही न उलझा रहे किन्तु इसका भी त्याग कर वचन-अगोचर अविनाशी-ज्योति का स्वयं अवलोकन करना चाहिये। (श्लोक १९) यहाँ विकल्प-रहित स्वात्म-दर्शन की भावना गायी है।

आत्मदर्शन का उपाय : विकल्प त्याग -

'मैं ही मैं हूँ' इस अंतरजन्य के त्याग के पश्चात् हृदय जिस-जिसका उल्लेख करता - चित्र खिंचता है, उस-उस को अनात्मा की दृष्टि से - यह आत्मा नहीं है, ऐसा समझ कर छोड़ना चाहिये। उस प्रकार के विकल्पों के उदय न होने पर आत्मा अपने स्वच्छ चिन्मयरूप में प्रकाशमान होता है (श्लोक २०)। इस प्रकार हृदय में विकल्पों के न उठने पर आत्मदर्शन होता है। यह आत्मदर्शन की एक पद्धति है।

वह आत्म ज्योति अनन्त पदार्थों के आकार-प्रसार की भूमि होने से विश्व रूप हैं और छद्मस्थों के लिये अदृश्य-अलक्ष्य होती हुई भी केवल चक्षुओं से देखी जाती हैं (श्लोक २१)। यह आत्म-ज्योति स्वभाव से विश्वरूपा है।

आत्म ज्योति का लक्षण - अंतरवर्ती उपयोग एवं उसके भेद :

वह आत्म-ज्योति क्या है, इसके समाधान में पं. आशाधरजी कहते हैं कि 'इस आत्म-ज्योति का लक्षण अहंता-दृष्टा के लिये उसका अंतरवर्ती उपयोग है; (श्लोक २२) उपयोग का 'अन्तर्वर्ती' विशेषण आत्मा के साथ उसके तादात्म्य-आत्मभूतता का सूचक है। इसी तथ्य को मुनि रामसिंह ने दोहा पाहुड गाथा १७७ में कहा है कि 'जैसे नमक पानी में विलीन हो जाता है यदि चित्त निज शुद्धात्मा में विलीन हो जायें तो जीव समरसरूप समाधिमय हो जाये (दोहा पाहुड पृष्ठ २०७)।

वस्तु-भेद के न्याय के अनुसार जिन दो में परस्पर लक्षण-भेद होता है वे दो एक-दूसरे से भिन्न होते हैं जैसे जल और अनल (अग्नि)। स्वात्मा और राग-द्वेष-मोह व शरीरादिक में यह लक्षणभेद युक्ति-सिद्ध हैं (श्लोक २३)।

चिन्मय आत्मा के स्व और पर अर्थ ग्रहण व्यापार को उपयोग कहते हैं। आत्मा दर्शन और ज्ञान-उपयोग रूप हैं। श्रुति की दृष्टि शब्दगत को दर्शनोपयोग और अर्थगत को ज्ञानोपयोग कहते हैं (श्लोक २४)।

भाव या अनुष्ठान के अनुसार उपयोग के तीन भेद हैं - अशुभ, शुभ और शुद्ध उपयोग। राग-द्वेष-मोह के भाव के द्वारा आत्मा की जो क्रिया-परिणति होती है, वह अशुभ उपयोग है। केवली-प्रणीत धर्म में अनुराग रखने रूप जो आत्मा की परिणति होती है, वह शुभ उपयोग है तथा अपने चैतन्य स्वरूप में लीन होने रूप आत्मा की जो परिणति बनती है, वह शुद्ध उपयोग है (श्लोक ५६)। शुभ-अशुभ से परे शुद्ध उपयोग परम समाधि रूप है।

आत्म-शुद्धि का सूत्र : शुद्ध उपयोग -

राग-द्वेष-मोह से आत्मा का उपयोग मलिन और अशुद्ध होता है। शुद्ध-उपयोग से आत्मा की शुद्धि होती है। शुद्ध उपयोग वह कहलाता है जो राग-द्वेष-मोह रहित होता है। इसी की पुष्टि में कहते हैं कि 'जो ध्यानी पुरुष स्वयं अपने शुद्ध आत्मा में राग, द्वेष तथा मोह से रहित शुद्ध उपयोग को धारण करता है वह शुद्धि को प्राप्त होता है (श्लोक २५)।

रागादि अविद्या के नाश का सूत्र : उपेक्षा-विद्या -

संसार-दुख का मूल कारण पर-वस्तुओं से सुख प्राप्ति की कामना रूप अविद्या है जो राग-द्वेष-मोह रूप हैं। इस अविद्या का छेदन उपेक्षा रूप विद्या से होता है। उपेक्षा रागादि के अभाव को कहते हैं। उपेक्षा भाव की वृद्धि के साथ अविद्या का हास और आत्म गुणों का विकास उत्तरोत्तर होता है। इसकी पुष्टि में कहते हैं कि 'मुझ में जो अविद्या विद्यमान है उसे उपेक्षा नाम की विद्या से निरंतर काटते हुए मुझमें मेरे स्वरूप की प्रकटता होती है और यह प्रकटता क्रम-२ से चरम सीमा को भी प्राप्त हो जाती है (श्लोक ४२)।' अतः उपेक्षा-भाव धारण करना इष्ट है। समत्व और उपेक्षा एकार्थी हैं।

आत्मानुभूति की प्रक्रिया -

स्वात्मा विचार करता है कि पर्याय दृष्टि से समस्त वस्तुओं के विस्तार-आकार से पूर्ण होता हुआ भी मैं द्रव्यदृष्टि से एक ही हूँ और निश्चयतः किसी भी शब्द का वाच्य नहीं होकर अनिर्वचनीय हूँ (श्लोक ४३)। अतएव इस अनिर्वचनीय परब्रह्म-परमोत्कृष्ट आत्मपद की-प्राप्ति के लिये इस सूक्ष्म शब्द-ब्रह्म के द्वारा - सोऽहं इस प्रकार अन्तर्जल्प से - मैं इस मन को संस्कारित करता हूँ (श्लोक ४०)। पश्चात् आठ पत्रों वाले अद्योन्मुख (उलटा) द्रव्यमन रूप कमल में, योग (ध्यान) रूप सूर्य के तेज से विकसित हृदय-कमल के भीतर स्फुरायमान परंज्योति-स्वरूप मैं हूँ, उसका अनुभव करना चाहिये (श्लोक ४५)।

उक्त प्रक्रिया में मोहान्धकार के नष्ट होने और इन्द्रिय तथा मनरूप वायु का संचार रुकने पर यह पर-पदार्थों से शून्य तथा सम्यग्दर्शनादि आत्मगुणों से अशून्य मैं ही अन्तर्दृष्टि से मेरे

द्वारा दिखाई दे रहा हूँ (श्लोक ४६)। इस प्रकार से अपने आपको ही देखता हुआ मैं परम-एकाग्रता को प्राप्त होता हूँ और संवर-निर्जरा दोनो से प्राप्त होने वाले आनंद को भोगता हूँ - और इस दृष्टि से संवर और निर्जरा रूप मैं ही हूँ (श्लोक ४७)। इस प्रकार स्वरूप में लीन योगी अपने में ही अपना दर्शन करता हुआ परम एकाग्रता को प्राप्त होता है, आत्माधीन आनंद को भोगता है। इससे पूर्व संचित कर्मों की निर्जरा और नवीन कर्मों का आगमन (आस्रव) रुक जाता है और सहज आत्म-विकास सधता है।

आत्मानुभवी योगी की सहज विचार परिणति : भेद-विज्ञान द्वारा अविद्या से समत्व की ओर -

भावकर्म, द्रव्यकर्म और नोकर्म से रहित शुद्ध-आत्मा का अनुभव करने वाला भव्य जीव विचार करता है कि 'शुद्ध निश्चयनय की अपेक्षा से अनन्तानंत चैतन्य शक्ति के चक्र का स्वामी होकर मैं अनादि अविद्या के संस्कार से इन्द्रिय एवं शरीर को अपना स्वरूप मान कर उसकी वृद्धि-हानि में अपनी वृद्धि-हानि मानता रहा (श्लोक ४८-४९)। इसी प्रकार स्व-स्त्री, पुत्रादि के शरीर को अपना मान कर उनके सुख-दुख को अपना सुख-दुख समझ कर भोगा है (श्लोक ५०)। अब मुझे अपनी भूल का ज्ञान हुआ और अब मैं भेद-विज्ञान से अपने तथा दूसरों के आत्मा को आत्म रूप से तथा देह को देह रूप से जानता हुआ निर्विकार साम्य सुधा का आस्वादन कर रहा हूँ (श्लोक ५१)।

आत्मयोगी की इन्द्रियदशा -

आत्मानुभवी योगी का चित्त वस्तुतत्त्व के विज्ञान से पूर्ण और वैराग्य से व्याप्त रहता है, तब इन्द्रियों की अनिर्वचनीय दशा हो जाती है। उसकी इन्द्रियाँ न मरी हैं, न जीती हैं, न सोती हैं और न जागती हैं (श्लोक ५२)। जाग्रत रहकर भी वे इन्द्रिय विषयों में प्रवृत्त नहीं होती और विषय अ-ग्रहण में निद्रा जैसी परवशता का कोई कारण नहीं होता। आत्मयोगी का उपयोग तत्त्व-ज्ञान और वैराग्य के सन्मुख बना रहता है।

पुरातन संस्कारों के जाग उठने से चित्त में संकल्प-विकल्प जाग्रत होने पर भी अंतरंग में विषद् ज्ञान रूप शुद्ध उपयोग की अविच्छिन्न धारा प्रवाहित होती रहेगी और क्या वह कल्पना स्थित स्मृति किसी वस्तु का स्मरण करेगी? अर्थात् नहीं करेगी? (श्लोक ५३)।

स्वानुभूति वृद्धि की भावना -

आत्मयोगी अपनी स्वानुभूति की वृद्धि की उत्तरोत्तर भावना भाता है और अपने आपको अनुभव करता हुआ राग-द्वेषादि हेय को छोड़कर आदेय, जो निजरूप है, को ग्रहण कर रत्नत्रयात्मक निज भाव का भोक्ता बना रहे, ऐसी भावना करता है (श्लोक ५४)।

शुद्धोपयोग कैसे होता है किस क्रम से होता है?

शुद्ध-आत्मा सर्वप्रथम अशुभ उपयोग के त्याग सहित श्रुताभ्यास के द्वारा शुभ उपयोग का आश्रय करता है, पश्चात् शुद्ध उपयोग में ही अधिकाधिक स्थिर रहूँ, ऐसी श्रेष्ठ-निष्ठा, भावना भाता है और उसे धारण करता है (श्लोक ५५)। इस प्रकार अशुभ भावों के त्याग और

शास्त्राभ्यास (स्वाध्याय) रूप शुभ भावों की प्रवृत्ति सहित शुद्ध उपयोग होता है। अशुभ से निवृत्ति और व्रत-समिति-गुप्ति शुभ में प्रवृत्ति का नाम व्यवहार चारित्र है। शुद्ध उपयोग शुद्धात्मा के आश्रयपूर्वक होता है। अतः शुद्ध उपयोग हेतु शुद्धात्मा की भावना भाना इष्ट है।

शुद्धात्मभावना का फल : ध्यान द्वारा शुद्धात्मा की प्राप्ति -

जो शुद्ध स्वरूप परमात्मा है, 'वही शुद्ध स्वरूप मैं हूँ', इस प्रकार बारम्बार भावना करने वाले आत्मा के शुद्ध स्वात्मा में जो लय बनता है, वह अनिवर्चनीय योग या समाधि रूप ध्यान कहलाता है (श्लोक ५७)। शुद्ध स्वात्मा के अनुभव काल में राग-द्वेषादि की कल्लोलें नहीं उठती अन्यथा आत्मदर्शन नहीं हो पाता। इस प्रकार शुद्धात्मा-भावना का फल शुद्धात्मा की प्राप्ति है। शुद्ध-बुद्ध-स्वचिद्रूप परमानन्द में लीन हुआ योगी किसी भी भय को प्राप्त नहीं होता। वह निर्भय हुआ परमानन्द का ही अनुभव करता है (श्लोक ५८)।

ऐसा योगी परम एकाग्रता को प्राप्त हुआ तथा अशुभ आस्रव को रोकता हुआ और उपार्जित पाप का क्षय करता हुआ, जीवित रहता हुआ भी निर्वृत्त - जीवन्मुक्त है (श्लोक ५९)। जीवन्मुक्त-अवस्था को प्राप्त कराने वाली यह परम-एकाग्रता शुक्लध्यान की एकाग्रता है जिससे चार घातिया कर्म जलकर भस्म हो जाते हैं। ध्यान की यह एकाग्रता अभिनन्दनीय है।

B-369, ओ.पी.एम. कालोनी,

पोस्ट-अमलाई जिला-शहडोल (म.प्र.) 484 117

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में कर्मास्रव की दार्शनिक मीमांसा

- डॉ. रमेशचन्द्र जैन

पुद्गल में विपाक करने वाले शरीर और अंगोपाङ्ग नामकर्म की प्रकृति का उदय होने पर मन, वचन और काय से युक्त हो रहे जीव की जो कर्म और नोकर्मों के आगमन की कारण हो रही शक्ति योग है, यह भाव योग कहा जा सकता है। इस भावयोग रूप पुरुषार्थ से आत्मा के प्रदेशों का परिस्पन्द हो जाना स्वरूप द्रव्ययोग उपजता है। ग्रहण की जा चुकी या ग्रहण करने योग्य हो रहीं मन, वचन, कायों की वर्गणाओं का अवलम्ब पाकर आत्मा के वह कम्प रूप योग उत्पन्न हुआ अनादि काल से तेरहवें गुणस्थान तक सदा कर्मनोकर्मों का आकर्षण करता रहता है। भावयोग अपरिस्पन्दात्मक है और द्रव्ययोग परिस्पन्दात्मक है।^१ योग आत्मा के निकट ज्ञानावरणादि कर्मों के आस्रव का हेतु है।^२ योग ही जीवों का कर्म से बन्ध होने जाने का प्रधान कारण है। योग नहीं होता तो सभी जीव शुद्ध सिद्धपरमेष्ठी भगवान् हो जाते।

सांख्य मत मीमांसा -

सांख्य मतानुयायी कहते हैं कि योग तो प्रधान यानी सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणों की समता स्वरूप प्रकृति का परिणाम है। अतः वह बन्ध का हेतु नहीं हो सकता है। जैनाचार्यों का कहना है कि सांख्यों का यह कहना युक्ति रहित है; क्योंकि यह बात सिद्ध है कि बन्ध उभय पदार्थों में स्थित होता है।

प्रश्न - तब तो जीव द्रव्य और अजीव द्रव्य इन दोनों का परिणाम बन्ध मान लिया जाय।

उत्तर - (किसी तटस्थ विद्वान् का) यह कहना कठिन है; क्योंकि जीव और कर्म के बन्ध हो जाने के कारण उन जीव और कर्म दोनों के परिणाम विशेष कहे हैं।^३

गोम्मटरसार ग्रन्थ में कहा गया है -

जोगा पयडि पदेसा ठिडि अणुभागा कसअदो होंति॥ योग से प्रकृति और प्रदेश बन्ध तथा कषाय से स्थिति और अनुभाग बन्ध होते हैं।

आचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार के कर्तृकर्ममहाधिकार में जीव और पुद्गल के सम्बन्ध के विषय में निश्चय और व्यवहार दोनों दृष्टियों से वर्णन किया है-

जीव परिणाम हेतुं म्मत्तं पुग्गला परिणमन्ति।

पुग्गलकम्मणिमित्तं तहेव जीवो वि परिणमदि॥

ण विकुच्यति कम्मगुणे जीवो कम्मं तहेव जीवगुणे।

अण्णोण्ण णिमित्तेण दुपरिणामं जाण दोण्हं पि॥

एदेण कारणेण दुक्ता आदा सएण भावेण।

पुग्गलकम्मकदाणं ण दु कत्ता सब्बभावाणं॥

- समयसार ८६-८८

जीव के (रागी द्वेषी) परिणामों का निमित्त पाकर पुद्गल द्रव्य कर्मत्व रूप परिणमन करता है। वैसे ही पौद्गलिक कर्मों के उदय का निमित्त पाकर जीव रागादि रूप परिणमन करता है। तथापि जीव कर्म के गुण रूपादिक को स्वीकार नहीं करता, उसी भांति कर्म भी जीव के चेतनादि गुणों को स्वीकार नहीं करता, किन्तु मात्र इन दोनों का परस्पर एक दूसरे के निमित्त से उपर्युक्त विकारी परिणमन होता है। इस कारण से वास्तव में आत्मा अपने भावों से ही अपने भावों का कर्त्ता होता है, किन्तु पुद्गल कर्मों के द्वारा किए गए सर्व भावों का कर्त्ता नहीं है।

सांख्यकारिका में कहा गया है -

तस्मान्न बध्यते अद्धा न मुच्यते नाऽपि संसरति कश्चित्।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः॥ सां. का. ६२॥

इसलिए वस्तुतः किसी पुरुष का न तो बन्धन और न संसरण ही होता है और न मोक्ष ही। अनेक पुरुषों के आश्रय से रहने वाली प्रकृति का ही संसरण, बन्धन और मोक्ष होता है।

सांख्य की इस मान्यता का जैनाचार्यों ने खण्डन किया है। तत्त्वार्थसूत्र में आचार्य गृध्रपिच्छ ने कहा है कि कषाय सहित जीव के साम्प्रायिक और कषाय रहित जीवों के ईर्यापथ आस्रव होता है। इस पक्ष की असिद्धि को दिखलाते हुए सांख्य विद्वान् कहते हैं कि जीव सर्वदा शुद्धस्वभाव है। शुद्ध, उदासीन, भोक्ता, चेतयिता तथा द्रष्टा आत्मा हमारे यहाँ माना गया है। अतः जीव का कर्मों से परतन्त्रपना सिद्ध नहीं है। इस कारण जैनों का हेतु आश्रयसिद्ध है।

आचार्य विद्यानन्दि के अनुसार यह कथन ठीक नहीं है; क्योंकि नित्य ही शुद्ध आत्मा मानने पर जीव के संसार का अभाव होने का प्रसंग आएगा। यदि सांख्य कहता है कि प्रकृति का ही संसार है तो यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि आत्मा की कल्पना व्यर्थ होने का प्रसंग आने पर मोक्ष भी उस प्रकृति का होगा। सभी पुरुषार्थों को प्रकृति करेगी तो आत्मतत्त्व की कल्पना व्यर्थ है। आप यह नहीं समझना कि प्रकृति ही संसार और मोक्ष को करने वाली है; क्योंकि वह अचेतन है, घट के समान।

प्रश्न- चेतन पुरुष का संसर्ग हो जाने से वह प्रकृति ही उस संसार अवस्था को धार लेती है।^{१६}

उत्तर- जिस प्रकार चेतन का संसर्ग हो जाने पर प्रकृति का आत्मा के परन्तत्र हो जाना स्वरूप संसार होना माना गया है, उसी प्रकार प्रकृति का संसर्ग हो जाने से चेतन आत्मा का भी उस प्रकृति के पराधीन हो जाना स्वरूप संसार सिद्ध हो जाता है; क्योंकि संसर्ग में अवश्य ठहरता है। जैसा कि कहा है -

“नित्यशुद्धस्वभावत्वाज्जीवस्यकर्मपारतन्त्र्यमसिद्धमिति चेन्न, तस्य संसाराभावप्रसंगात्। प्रकृतेः संसार इति चेन्न, पुरुषकल्पना वैयर्थ्यप्रसंगात् तस्या एव मोक्षस्यापि घटनात्। न च प्रकृतिरेव संसारमोक्ष भागचेतनत्वात् घटवत्। चेतन संसर्ग विवेकाभ्यां सा तद्भागेवेति चेत्। तर्हि यथाप्रकृतेश्चेतनसंसर्गात्पारतन्त्र्यलक्षणः संसारस्तथा चेतनस्यापि प्रकृति संसर्गात् तत्पारतन्त्र्यं सिद्धं, संसर्गस्य द्विष्टत्वात्।”

सांख्य - संसार अवस्था में प्रकृति परतन्त्र हो रही है, किन्तु वह परतन्त्रता कषायों को हेतु मानकर नहीं उपजी है। कषायें तो जीव के हो सकती हैं, जड़ प्रकृति के नहीं।

जैन - ऐसा नहीं मानना चाहिए। आपके यहाँ क्रोध, रण, द्वेष, मोह आदि कषायों को प्रकृति का परिणाम कहा है। प्रसन्नता, लाघव, राग, द्वेष, मोह, दीनता, शोक ये सब सतोगुण, रजोगुण, तमोगुण वाली प्रकृति के परिणाम माने गए हैं, अतः उस प्रकृति के परतन्त्रपन का कषाय नामक हेतुओं से उपजना सिद्ध हो जाता है।^९ जैनों के यहाँ क्रोध आदि को आत्मा का विभाव परिणाम कहा है।^{१०} निश्चय नय की अपेक्षा क्रोध आदि को पुद्गल का विकार कह दिया है।^{११} यह स्याद्वाद की अपेक्षा घटित होता है।

सांख्य के नित्यैकान्त में दुःख, शोक आदि में कर्त्तापन, करणपन संगत नहीं है -

सांख्यमत में शक्तियाँ, स्वभाव, परिणति स्वरूप अतिशयों से रहित हो रहे आत्मा का कर्त्तापन स्वीकार नहीं किया गया है। क्रिया में स्वतन्त्र होकर व्यापार कर रहा पदार्थ कर्त्ता कहा जाता है। अतिशयों से रहित कूटस्थ पदार्थ कर्त्ता नहीं हो सकता है। किसी एक सहकारी कारण से उस कर्त्ता में अतिशय किया माना जाएगा तो प्रश्न उठता है कि वह अतिशय कर्त्ता से भिन्न किया गया है या अभिन्न किया गया है। प्रथम पक्ष के अनुसार सहकारी कारण कर यदि कर्त्ता से भिन्न अतिशय का किया माना जाएगा तो उस कर्त्ता की पूर्ववर्तिनी अकर्त्तापन अवस्था से प्रच्युति नहीं होने के कारण कर्त्तापन का विरोध है। द्वितीय पक्ष के अनुसार सहकारी कारणों का उस आत्मा से अभिन्न अतिशय किया माना जाएगा तो उस आत्मा का ही किया जाना होने से आत्मा का अनित्यपना ही हो जाएगा। कथंचित् नित्यपना इष्ट करोगे तो दूसरे स्याद्वादियों के मत का आश्रय लेना दुर्निवार है।

इस कथन से प्रधान के परिणाम महत् आदि के कारणत्व का निराकरण कर दिया। स्याद्वाद का आश्रय लिए बिना किसी परिणाम की प्राप्ति नहीं होती है। इस प्रकार महत्त्व आदि का अधिकरणपना अथवा कर्मपना सिद्ध नहीं हो सकता है।

बौद्धमत मीमांसा - बौद्धों के यहाँ चक्षुरादिकरण तथा शरीरादि अधिकरण श्रेय नहीं है; क्योंकि उनकी दुःख आदि काल में स्थिति नहीं है। यदि बौद्धों का यह मन्तव्य हो कि दुःख आदि चित्त ही अपने कार्य करने में कर्त्ता हैं और उस कर्त्ता के उसी समान समय में वर्त रहे चक्षु आदि करण हैं तथा तत्कालीन क्षणिक शरीर अधिकरण हो जाता है। केवल व्यवहार से कर्त्ता, करण, अधिकरण भाव हैं, पारमार्थिक रूप से न कोई कर्त्ता है, न कोई करण,

अधिकरण आदि हैं। बौद्धों का यह मत ठीक नहीं है; क्योंकि दुःख आदि चित्त स्वरूप कर्ता के चक्षु आदिक करण और अधिकण नहीं हो सकते। इसका कारण यह है कि बौद्धों के यहाँ विज्ञान से बाहर हो रहे रूप आदि के ज्ञान की उत्पत्ति में उन चक्षुरादि के करणपन का कथन किया गया है तथा मन भी करण नहीं हो सकता; क्योंकि दुःखादि चित्त के उसी समान काल में उस अनन्तर अतीत विज्ञान स्वरूप मन संभव नहीं है।

बौद्ध - रूपादि स्कन्धपञ्चक की युगपत् उत्पत्ति होती रहती है, जब कि पांच विज्ञानों की धारायें चल रही हैं तो दुःख, शोक आदि के अनुभव स्वरूप पूर्व समयवर्ती वेदना स्कन्ध को उत्तर समयवर्ती दुःख आदि की उत्पत्ति में कर्तापन है और उसी वेदना स्कन्ध को दुःख आदि की उत्पत्ति में अधिकरणपना है। सबको स्व में अपना अधिकरणपना प्राप्त है। दुःख आदि के हेतु हो रहे बहिरंग अर्थ विज्ञान स्वरूप वेदना स्कन्ध को करणपना समुचित है, जो कि वेदना स्कन्ध उत्तर समयवर्ती उस कार्य से पूर्व समय में वर्त रहा होकर मन इस नाम निर्देश के योग्य हो रहा है।

जैन - यह नहीं कहना चाहिए; क्योंकि अन्वयरहित होकर नष्ट हो चुके वेदना स्कन्ध के कर्तापन और करणपन का विरोध है। उत्तर समयवर्ती अपने कार्य के काल में पूर्व समयवर्ती उस वेदना स्कन्ध स्वरूप कर्ता या करण का नाश नहीं माना जाएगा, तब तो बौद्धों के यहाँ पदार्थों के क्षण में नष्ट हो जाने रूप स्वभाव का भंग हो जायगा, जो कि बौद्धों को कथमपि सहन नहीं है।^{१९}

ब्रह्मद्वैत मीमांसा - तत्त्वार्थसूत्र में कहा गया है कि ज्ञान और दर्शन में किए गए प्रदोष, निहव, मात्सर्य, अन्तराय, आसादन और उपघात ये ज्ञानावरण और दर्शनावरण कर्मों के आस्रव हैं।^{१९} इस पर ब्रह्मद्वैतवादी शंका करते हैं -

शंका - जिस जीव के जिस विषय में हो रहे प्रदोष, निहव आदि दोष हैं, उसके उन विषयों का आवरण कर रही अविद्या ही है, फिर उन गुणों का आवरण करने वाला कोई कर्मण स्कन्ध स्वरूप पुद्गल सिद्ध नहीं हो पायेगा, जिस कारण उस ज्ञान या दर्शन में हुए प्रदोष आदिकों से ज्ञान और दर्शन का आवरण करने वाले ज्ञानावरण पुद्गलों की प्रसिद्धि नहीं हो सकती। अमूर्त हो रहे ज्ञान, दर्शन आदि आवरण करने वाला मूर्त कर्म किस प्रकार हो सकता है? मूर्त सूर्य के ही मूर्त बादल आवरक हो सकते हैं। घर की दीवालें या छतें मूर्त शरीर, भूषणों, वस्त्रों को छिपा लेती हैं, आकाश को नहीं।

समाधान - ऐसा कहने पर हम जैन भी प्रश्न उठायेंगे कि आपके यहाँ वे अविद्या, भेद विज्ञान मोह आदिक अमूर्त होते हुए किस प्रकार एकत्व ज्ञान, प्रतिभासाद्वैत आदि का आवरण कर देते हैं? अमूर्त अविद्या आदि का सद्भाव होने पर ज्ञान आदिकों का आवरण होना मानोगे तो अमूर्त आकाश को भी उन ज्ञान आदिकों के आवरणपन का चारों ओर से प्रसंग आ जावेगा अथवा अमूर्त ज्ञान का दूसरा अमूर्त ज्ञान आवरण बन बैठेगा।

अद्वैतवादी - गगन आदिक तो उन ज्ञान आदिकों के विरुद्ध नहीं है, अतः वे उनके आवरण नहीं हो सकते हैं।

जैन - तिस कारण से यानी ज्ञानादिक का विरोधी नहीं होने से मूर्त शरीर भी ज्ञान आदि का आवारक नहीं है। जो उन ज्ञान आदि से विरुद्ध पदार्थ होगा, उसी को उन ज्ञान आदिकों के आवारकपन की सिद्धि है। मदिरा, भाँग आदि द्रव्यों के समान^{१३} उन पौद्गलिक कर्मों को भी उन ज्ञान आदिकों के विरोधीपन की प्रतीति हो रही है। सभी पुद्गल न तो ज्ञान के सहायक हैं और न विरोधी। अनेक पुद्गलों से सम्यग्दर्शन ज्ञान, चारित्र्यों को सहायता होती है और कितने ही पौद्गलिक पदार्थों से मिथ्यादर्शन, ज्ञान, चारित्र्यों को सहायता मिलती है, कोई एकान्त नहीं है। ज्ञानावरण आदि पौद्गलिक कर्म अवश्य ही ज्ञानादि गुणों के आवारक हैं यह निर्णित विषय है।

न्यायवैशेषिक मीमांसा - जैनों के अनुसार जीव का सब ओर से परतन्त्रपना (पक्ष) कषायों को हेतु मानकर उपजा है (साध्य), अन्य प्राणियों की अपेक्षा नहीं रखता हुआ परतन्त्रपना होने से (हेतु)। जैसे कि यहाँ लोक में कमल के मध्य में प्राप्त हुआ चक्षुरिन्द्रिय विषय लोलुपी भ्रमर अपनी लोभ कषायों के अनुसार परतन्त्र हो रहा है (अन्वय दृष्टान्त)। कषायों के उदय रूप से विशेषतया निवृत्ति हो जाने पर परतन्त्रता निवृत्त हो जाती है, जैसे कि यहाँ जगत् में किसी एक जीव के कषायों की शान्त अवस्था के समय में परतन्त्रता नहीं पायी जाती है^{१४} (व्यतिरेक दृष्टान्त)। इस प्रकार अन्वय व्यतिरेक द्वारा जीवों की पराधीनता का कारण कषायों का उदय सिद्ध है।

वैशेषिक या नैयायिक - संसारी जीव की परतन्त्रता तो महेश्वर की सृजन करने की इच्छा की अपेक्षा रखने वाली है, अतः अन्य जीवों की अपेक्षा नहीं रखनापन हेतु का विशेषण पक्ष में नहीं रहा, अतः असिद्ध दोष हुआ।

जैन - संसारी जीवों के महेश्वर या ईश्वर की सिसृक्षा के अपेक्षी होने का खण्डन किया गया है; क्योंकि कार्यत्व, अचेतनोपादानत्व, सन्निवेशाविशिष्टत्व आदि सभी हेतु^{१५} दूषित हैं। आप्त परीक्षा में कर्तृवाद का निराकरण किया गया है।

जैनों का कहना है कि जिस प्रकार नील द्रव्य का नील गुण उस पट में भी नील बुद्धि को करता हुआ नीला बना देता है, इस कारण उस पट को उस नील का अधिकरणपना प्राप्त है, उसी प्रकार संरम्भ आदिकों में जो आस्रव हो रहा है, वह जीवों में ही आस्रव हैं, इस कारण जीव के परिणाम के संरम्भ आदिक ही आस्रव के अधिकरण हैं यों कहने पर भी वे जीव आस्रव के अधिकरण हो जाते हैं। “अधिकरणं जीवाजीवाः” इस सूत्र में जीव पद का ग्रहण करने से जीव के परिणामों का ग्रहण हो जाता है। जीव और जीव परिणामों में कथंचित अभेद है। अतः जीव भी आस्रवों के अधिकरण हैं, यह युक्तियों से सिद्ध हो जाता है।

वैशेषिक - नील और नीलवान् का सर्वथा भेद मानने पर भी नील रंग से धुले हुए पानी में डुबा दिए गए वस्त्र में संयुक्त हो गए नीली द्रव्य में नील गुण का समवाय हो रहा है। अतः कपड़ा नीला ही है, यह प्रत्यय संयुक्त समवाय सम्बन्ध से सुघटित हो जाता है। नील गुण नील में रहा और वस्त्र में नील संयुक्त हो रहा है।

जैन - इस प्रकार तो आत्मा, आकाश आदि में भी नीलपने के ज्ञान हो जाने का प्रसंग आएगा। नील द्रव्य उन आकाश आदि के साथ संयुक्त हो रहा है, अतः संयुक्त समवाय सम्बन्ध से वस्त्र के समान आत्मा आदि भी नीले हो जायेंगे, जो कि इष्ट नहीं है।

वैशेषिक - उन आत्मा, आकाश आदि के साथ नील द्रव्य का विशेष जाति का संयोग नहीं है, केवल प्राप्ति हो जाना मात्र सामान्य संयोग है। पट के साथ नील द्रव्य का विशेष संयोग है जो कि हर्ष, फिटकरी, पानी और पट की स्वच्छता, आकर्षकता आदि कारणों से विशेष जाति का हो जाता है। अतः आत्मा नील है, यह प्रसंग नहीं आने पाता है।

जैन - वह संयोग की विशेषता तिस परिणामन हो जाने के अतिरिक्त दूसरी क्या हो सकती है? अर्थात् पट की नीलस्वरूप परिणति है और आत्मा या आकाश की नील परिणति नहीं है। संयोग हो जाने पर पुनः बन्ध परिणति अनुसार पट में भी नील का समवाय हो जाता है, किन्तु आत्मा के साथ नील द्रव्य की बन्ध परिणति^{१६} नहीं हो पाती है।

वैशेषिक के यहाँ कर्त्तापन, करणपन नहीं बन सकता है - वैशेषिक के यहाँ सर्वथा नित्य आत्मा के बुद्धि आदि चौदह गुण सर्वथा भिन्न माने गए हैं। जब तक आत्मा पूर्व अतिशयों का त्याग कर उत्तर स्वभावों का ग्रहण नहीं करेगा, तब तक उसके कर्त्तापन, करणपन नहीं बन सकते हैं। परिणामी जल में तो अग्नि का सन्निधान हो जाने पर शीत अतिशय की निवृत्ति और उष्ण अतिशय का प्रादुर्भाव हो जाता है। नैयायिक या वैशेषिक के यहाँ आत्मा को परिणामी नहीं माना गया है तिस ही कारण से दुःख, शोक आदि की उत्पत्ति में मन भी करण नहीं हो सकता है; क्योंकि करण मानने पर मन को सभी प्रकार के अनित्यपने का प्रसंग आयेगा। कर्त्तापन या करणपन के समान आत्मा के आत्मा के दुःखों का अधिकरणपना भी नहीं बन पाता है; क्योंकि जब तक पहिले के उस दुःख के अधिकरणपन स्वभाव का त्याग नहीं किया जायेगा, तब तक उस दुःख के अधिकरणपन स्वभाव का विरोध है। यदि पहिले के अकर्त्तापन, अकरणपन, अनधिकरणपन स्वभावों का त्याग माना जाएगा तब तो वैशेषिकों के यहाँ सर्वथा नित्यपन के नष्ट होने की आपत्ति आ जाएगी। इस प्रकार सिद्ध हुआ कि नित्यानित्यात्मक आत्मा में दुःख आदि परिणतियाँ संसार अवस्था में हो रही हैं। प्रकृति, बुद्धि या अपरिणामी आत्मा, नित्यात्मा अथवा अन्य जड़ पदार्थों में दुःख, शोक आदि परिणाम सम्भव^{१७} नहीं है।

इस प्रकार तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में विभिन्न दर्शनों के परिप्रेक्ष्य में कर्मास्रव की मीमांसा कर जैनदर्शन को परिपुष्ट किया गया है।

सन्दर्भ - पेज ३९ देखे

कर्म और पुनर्जन्म की व्याख्या

- डॉ० बसन्त लाल जैन

संसार का प्रत्येक प्राणी सुख की इच्छा करता है और दुःख से डरता है। इसलिए जिनेन्द्र देव ने दुःख को दूर करने वाली और शाश्वत सुख को उत्पन्न करने वाली शिक्षा को ही अपने उपदेश का विषय बनाया है। समीचीन सुख की प्राप्ति तभी सम्भव है जब बन्ध के हेतुओं का अभाव और निर्जरा द्वारा समस्त कर्मों का आत्मा से अलग होना निश्चित हो जाय।

कर्म का आत्मा के साथ संयुक्त होने से ही आत्मा विभिन्न योनियों तथा ऊँची- नीची गतियों में भ्रमण करता रहता है। प्राणी जो कुछ भी कर्म करता है, उन कर्मों का फल उसे भोगना ही पड़ता है। क्योंकि कर्मों का फल कर्म करने वाले को दिये बिना नहीं रहता, यह उसका स्वाभाविक गुण है।

कर्म सिद्धान्त के अनुसार ही शुभ कर्मों का फल शुभ-दायक और अशुभ कर्मों का फल अशुभ दायक होता है। जब यह जीव राग - द्वेष से युक्त होता है तब वह नवीन कर्मों का बंध करता है और इन नवीन कर्मों के कारण ही उसे नरक, मनुष्य, तिर्यच और देव गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। इन गतियों में जीव के जन्म ग्रहण करने पर राग-द्वेष परिणाम होते रहते हैं और राग-द्वेष से कर्मों का बन्ध होता रहता है। जिससे प्राणी नरकादि गतियों में जन्म लेता है। इस प्रकार कर्म प्रवाह के फलस्वरूप नवीन जन्म होता रहता है। इस नवीन जन्म को ही पुनर्जन्म, पुनर्भव, जन्मांतर, भावान्तर, परलोक, पुनरुत्पत्ति आदि नामों से जाना जाता है।^(१)

कर्म सिद्धांत का यह नियम है कि प्राणी जो भी कर्म करता है उसके फल को भोगने के लिए उसे दुबारा जन्म लेना पड़ता है, क्योंकि पूर्वकृत कर्म- फल पूर्व जन्म में पूरा नहीं हो पाता है। अर्थात् कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं जिनका फल इस जन्म में - (वर्तमान पर्याय) में मिल जाता है और कुछ कर्म इस प्रकार के होते हैं जिनका फल इस जन्म में नहीं मिलता है, इसलिए अगला जन्म- (पुनर्जन्म) लेना पड़ता है। जिन कर्मों का फल वर्तमान जन्म में फलित नहीं होता है, उसको भोगने के लिए उचित समय पर वर्तमान शरीर का त्याग करके नवीन शरीर धारण करना पड़ता है। यह पुनर्जन्म कहा जाता है। इस पुनर्जन्म में जो आत्मा पूर्व पर्याय में रहती है वर्तमान शरीर को त्याग करने को मृत्यु और नवीन शरीर धारण करने को जन्म कहा जाता है। इस जन्म और मृत्यु के बीच आत्मा सदा एक सी रहती है।

यहाँ पर मृत्यु का मतलब स्पष्ट है कि वर्तमान शरीर जरूर या रोगी होने पर या आयुपूर्ण होने पर उस शरीर में रहने वाला आत्मा उस शरीर को त्याग देता है

और शेष कर्मों का फल भोगने के लिए आत्मा नवीन शरीर धारण कर लेता है, इस प्रकार आत्मा का नवीन शरीर धारण करने को पुनर्भव कहा गया है। व्यावहारिक भाषा में जिस

प्रकार मनुष्य फटे, पुराने वस्त्रों को छोड़कर नवीन वस्त्रों को धारण करता है, उसी प्रकार आत्मा भी अपने पुराने जीर्ण-शीर्ण शरीर को छोड़कर नये शरीर को धारण कर लेता है।

कर्म और आत्मा :

प्राणियों के पुनर्जन्म में कर्म का महत्वपूर्ण योगदान है। जैन चिन्तकों ने यद्यपि आत्मा और कर्म का अपना-अपना स्वतंत्र अस्तित्व को स्वीकार किया है फिर भी इनका परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। जीव और कर्म का बीज और वृक्ष की तरह कार्य - कारण सम्बन्ध है। कर्म से कषाय और कषाय से कर्म, यह परम्परा बीज और वृक्ष की तरह अनादि काल से प्रवाहित हो रही है और तब तक होती रहेगी जब तक संसार में जीवों का अस्तित्व है।

षट्खण्डागम' ग्रंथराज के अनुसार - 'यत् क्रियते तत् कर्म'^(२) अर्थात् किसी कार्य या व्यापार का करना कर्म कहलाता है। जैसे- पढ़ना, लिखना, सोना आदि क्रियाएँ कर्म हैं। जैन-साहित्य में कर्म को पुद्गल परमाणुओं का पिण्ड माना गया है। तदनुसार यह लोक तेईस वर्गणाओं से व्याप्त है। उनमें से कुछ पुद्गल परमाणु कर्म- रूप से परिणत होते हैं, उन्हें कर्मवर्गणा कहते हैं। कर्म बनने योग्य पुद्गल परमाणु राग - द्वेष से आकृष्ट होकर आत्मा की स्वाभाविक शक्ति का घात करके उसकी स्वतंत्रता को रोक देते हैं, इसलिए ये पुद्गल परमाणु कर्म कहलाते हैं।

तत्त्वार्थवार्तिक के अनुसार - "निश्चयनय की दृष्टि से वीर्यान्तराय और ज्ञानावरण के क्षयोपशम की अपेक्षा रखने वाले आत्मा के द्वारा आत्म-परिणाम और पुद्गल के द्वारा पुद्गल परिणाम एवं व्यवहारनय की दृष्टि से आत्मा के द्वारा पुद्गल परिणाम और पुद्गल के द्वारा आत्म-परिणाम करना कर्म है।"^(३)

अनादि कालीन कर्म - बंध से युक्त जीव जब रागादि कषायों से संतप्त होकर मानसिक, वाचिक या कायिक क्रिया करते हैं तब वह कर्मण वर्गणा के पुद्गल-परमाणु आत्मा की ओर आकृष्ट होते हैं। जिस प्रकार लोहा चुम्बक की ओर आकर्षित होता है या जिस प्रकार अग्नि से संतप्त लोहे का गोला पानी में डालने पर चारों ओर से पानी खींचता है। ऐसे क्रियाओं के करने से आत्म, प्रदेशों में उसी प्रकार विक्षोभ या कम्पन होता है, जिस प्रकार तूफान के कारण समुद्र के पानी में चंचल तरंगें उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार आत्म प्रदेशों के परिस्पन्द होने को योग कहते हैं।^(४) योग के कारण ही कर्म-योग्य पुद्गल परमाणुओं का आत्मा की ओर आना ही आस्रव कहलाता है। अर्थात् पुण्य - पाप रूप कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं। आस्रव जीव के शुभ - अशुभ कर्मों के आने का द्वार है। आस्रव के कारण परमाणु आकर आत्म - प्रदेशों में दूध और पानी की तरह मिल जाता है, तब वे कर्मण पुद्गल-परमाणु कर्म कहलाते हैं।^(५) परस्पर एक क्षेत्रवगाही होकर आत्मा और पुद्गल परमाणुओं का घनिष्ठ सम्बन्ध को प्राप्त होना ही कर्म है। कर्म और आत्मा के इस प्रकार के सम्बन्ध को बन्ध कहा जाता है।^(६) क्योंकि कर्म आत्मा की स्वाभाविक शक्ति का घात करके इस प्रकार परतंत्र कर देते हैं कि आत्मा विभाव रूप से परिणमन करने लगती है।^(७)

राग - द्वेष और मोह के कारण कर्म - रुपी रज आत्म - प्रदेशों में चिपक जाती है। अर्थात् संसारी जीव के राग - द्वेष रूप परिणाम होते हैं और रागादि परिणामों से नवीन कर्मों का बन्ध होता है जिससे नरकादि गतियों में भ्रमण करना पड़ता है। इन गतियों में जीव के जन्म ग्रहण करने पर उससे शरीर, शरीर से इन्द्रियाँ और इन्द्रियों से विषयों का ग्रहण और विषयों के ग्रहण से राग-द्वेष परिणाम होते हैं और पुनः उन राग-द्वेष से कर्मों का बन्ध होता है।

कर्म बन्ध की प्रक्रिया :

संसार का प्रत्येक प्राणी अपने कर्मों से बंधा हुआ है। कर्मों के उदय में इसके राग-द्वेषादि रूप भाव होते हैं तथा राग-द्वेषादि भावों के कारण पुनः कर्म बन्ध होता है इस प्रकार बीज और वृक्ष की भाँति कर्म बन्ध का क्रम अनादि काल से ही चला आ रहा है।^(९)

कर्म बन्ध का हेतु आस्रव है। कर्मों के आगमन को आस्रव कहते हैं। जीव के मन, वचन और काय की प्रवृत्ति के निमित्त से कर्मण वर्गणाओं का कर्म रूप से परिणमन होना आस्रव है तथा आस्रवित कर्म-पुद्गलों का जीव के राग-द्वेष आदि विकारों के निमित्त से आत्मा के साथ एकाकार हो जाना ही बंध है। बंध आस्रव पूर्वक ही होता है। आस्रव और बंध दोनों युगपत होते हैं उनमें कोई समय भेद नहीं है।^(१०) आस्रव और बंध का यही सम्बन्ध है। सामान्यतया आस्रव के कारणों को ही बंध का कारण (कारण का कारण होने से) कह देते हैं, किन्तु बंध के लिए अलग शक्तियाँ काम करती हैं।

शरीर और आत्मा दोनों के संयोग से उत्पन्न क्रियात्मक शक्ति रूप सामर्थ्य जनित कम्पन के द्वारा आत्मा और कर्म परमाणुओं का संयोग- (आस्रव) होता है और आत्मा के साथ संयुक्त होकर कर्म योग्य परमाणु कर्म रूप में परिवर्तित हो जाते हैं। इस प्रक्रिया को कर्म-बंध की प्रक्रिया कहते हैं।^(११)

कर्म-बंध के कारण :

जैनाचार्य ने कर्म - बंध के लिए दो प्रमुख कारकों का नाम बताया है - १. योग और २. कषाय। योग शक्ति के कारण कर्म वर्गणाएं कर्म रूप से परिणत होती हैं तथा कषायों के कारण उनका आत्मा के साथ संश्लेष रूप एक क्षेत्रवगाह सम्बन्ध होता है।^(१२)

जैनाचार्य कुन्दकुन्द ने समयसार में अज्ञान के साथ राग-द्वेष, मोह, मिथ्यात्व, अविरमण, कषाय और योग को बंध का कारण माना है।^(१३) रामसेन ने तत्त्वानुशासन में मिथ्यादर्शन, मिथ्याज्ञान और मिथ्या चारित्र को बंध का कारण बताया है।^(१४) तत्त्वार्थ सूत्र में मिथ्यादर्शन, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग इन पाँच तत्वों को बंध का कारण बताया गया है।^(१५) विपरीत श्रद्धा या तत्त्व ज्ञान के अभाव को मिथ्यात्व कहते हैं। जीवादि पदार्थों का श्रद्धान न करना मिथ्यादर्शन है। हिंसा, झूठ, चोरी, कुशील और परिग्रह से विरत न होना अविरति है। कुशल कार्यों के प्रति अनादर या अनास्था होना प्रमाद है। आत्मा के भीतरी वे कलुष परिणाम, जो कर्मों के श्लेश के कारण होते हैं या जीव के जिन भावों के द्वारा संसार की प्राप्ति हो वे कषाय भाव हैं। क्रोध, मान, माया और लोभ के भेद से कषाय के चार भेद हैं। इनमें क्रोध और मान, द्वेष-रूप है तथा लोभ और माया, राग-रूप है। राग और द्वेष ही समस्त अनर्थों का मूल है।

कर्म - बंध से मुक्ति का उपाय :

कर्म बंधन से मुक्ति पाने के लिए दो उपायों का वर्णन शास्त्रों में मिलता है। प्रथम उपाय के द्वारा नवीन कर्मबंध को रोका जाता है, और दूसरी विधि के द्वारा आत्मा से पूर्वबद्ध कर्मों को अपने विपाक के पूर्व ही तपादि के द्वारा अलग किया जाता है। ये क्रमशः संवर और निर्जरा के नाम से जाने जाते हैं। आचार्य उमास्वामी जी के अनुसार - 'आस्रव निरोधः संवरः'^(१६) अर्थात् कर्मों के आस्रव के निरोध को संवर कहते हैं। आचार्य अकलंक देव ने तत्त्वार्थ वार्तिक में लिखा है कि जिस प्रकार नगर की अच्छी तरह से घेराबंदी कर देने से शत्रु नगर के अन्दर प्रवेश नहीं पा सकता है ठीक उसी प्रकार गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परीषह-जय और चारित्र्य द्वारा इन्द्रिय कषाय और योग को भली-भाँति संवृत कर देने पर आत्मा में आने वाले नवीन कर्मों का रुक जाना संवर है।^(१७)

आचार्य उमास्वामी जी ने तत्त्वार्थसूत्र में नये कर्म बंध को आने से रोकने के लिए सात उपायों की चर्चा की है।^(१८) वे इस प्रकार हैं - गुप्ति, समिति, धर्म, अनुप्रेक्षा, परिषह जय, चरित्र और तप।

निर्जरा - बंधन से छुटकारा पाने के लिए उपर्युक्त विधि द्वारा नये आने वाले कर्मों को रोकना चाहिए तथा पूर्व संचित या पुराने कर्मों के विनाश के लिए निर्जरा का अभ्यास करना चाहिए। आत्म-प्रदेशों से कर्मों का छूटना निर्जरा कहलाता है। आत्मा के साथ बंधे हुए पुराने कर्मों का क्षय करना निर्जरा का कार्य है।^(१९) कर्मों की निर्जरा दो प्रकार से होती है -; पद्ध सविपाक और ;पपद्ध अविपाक निर्जरा।^(२०) यथा समय स्वयं कर्मों का उदय में आकर फल देकर अलग होते रहना सविपाक निर्जरा है। तपश्चरण के द्वारा कर्मों का आत्मा से अलग करना अविपाक निर्जरा है। अतिपाक निर्जरा ही मोक्ष का कारण है। मोक्ष स्वरूप निरुपण करते हुए आचार्य उमास्वामी जी ने कहा है कि - बंध के हेतुओं का अभाव होने से और पुराने कर्मों का निर्जरा होने से समस्त कर्मों का आत्मा से समूल अलग होने से ही मोक्ष प्राप्ति होती है। एक बार मोक्ष की प्राप्ति होने के बाद पुनः जन्म या पुनर्जन्म की आवश्यकता नहीं रह जाती है।

आत्मवादी विचारकों के अनुसार पुनर्जन्म की व्याख्या--''

भारतीय विचारधारा में दो प्रकार के विचारों का वर्णन मिलता है। प्रथम विचारधारा के अनुसार 'आत्मा के पुनर्जन्म सिद्धांत' को मान्यता प्राप्त है लेकिन दूसरी विचारधारा के अनुसार पुनर्जन्म सिद्धांत को मान्यता प्राप्त नहीं है। प्रथम विचारधारा के पोषक - न्याय वैशेषिक, सांख्य, योग, बौद्ध और जैन दर्शन और दूसरी विचारधारा में चार्वाक, यहूदी, ईसाई और इस्लाम धर्म को रखा जाता है। इनको एक जन्म वादी कहा जाता है। इनके अनुसार मृत्यु के बाद आत्मा नष्ट नहीं होती है। वह न्याय के दिन तक प्रतीक्षा में रहती है और न्याय के दिन तत्सम्बन्धी देवता द्वारा उनके कर्मों के अनुसार स्वर्ग या नरक भेज देते हैं।

न्याय - दर्शन के मतानुसार शुभ-अशुभ कर्म करने से इसके संस्कार आत्मा में पड़ जाते हैं। वैशेषिक मतानुसार राग - द्वेष से धर्म और अधर्म की प्रवृत्ति होती है। इस प्रकार की प्रवृत्ति सुख-दुःख को उत्पन्न करती है तथा ये सुख-दुःख जीव के राग-द्वेष को उत्पन्न करते हैं।

जिससे जन्म-मरण का चक्र चलायमान रहता है।^(१९) षड्दर्शन रहस्य में पं० रंगनाथ पाठक लिखते हैं कि “जब तक धर्माधर्म रूप प्रवृत्ति जन्य संस्कार बना रहेगा तब तक कर्मफल भोगने के लिए शरीर ग्रहण करना आवश्यक रहता है। शरीर ग्रहण करने पर प्रतिकूल वेदनीय होने के कारण बाधनात्मक दुःख का होना अनिवार्य रहता है। मिथ्या ज्ञान से दुःख जीवन पर्यन्त अविच्छेदन - निरन्तर प्रवर्तमान होता है। यही संसार शब्द का वाच्य है। यह घड़ी की तरह निरन्तर अनुवृत्त होता रहता है। प्रवृत्ति ही पुनः आवृत्ति का कारण होती है।^(२०) महर्षि गौतम के अनुसार “मिथ्या ज्ञान से राग - द्वेष आदि दोष उत्पन्न होता है। इन दोषों से प्रवृत्ति होती है तथा प्रवृत्ति से जन्म और जन्म से दुःख होता है।^(२१) न्याय और वैशेषिकों का मत है कि आत्मा व्यापक है। धर्म और अधर्म प्रवृत्तिजन्य संस्कार मन में निहित होते हैं। अतः जब तक आत्मा का मन के साथ सम्बन्ध रहता है तब तक आत्मा का पुनर्जन्म होता रहता है।

सांख्य और योग दर्शन में यह मान्यता है कि “जीव अपने शुभाशुभ कर्मों के परिणाम स्वरूप अनेक योनियों में भ्रमण करता है।^(२२) सांख्य-योग चिन्तकों का सिद्धांत है कि शुभ और अशुभ कर्म स्थूल शरीर के द्वारा किये जाते हैं लेकिन वह उन कर्मों के संस्कारों का अधिष्ठाता नहीं है। शुभ और अशुभ कर्मों के अधिष्ठाता के लिए स्थूल शरीर से भिन्न सूक्ष्म शरीर की कल्पना की गयी है।^(२३) पांच कर्मेन्द्रिय, पांच ज्ञानेन्द्रिय, पांच तन्मात्राओं, बुद्धि एवं अहंकार से सूक्ष्म शरीर का निर्माण होता है।^(२४) मृत्यु होने पर स्थूल शरीर नष्ट हो जाता है किन्तु सूक्ष्म शरीर वर्तमान रहता है। इस सूक्ष्म शरीर को आत्मा का लिंग भी कहते हैं, जो प्रत्येक संसारी पुरुष के साथ रहता है। यही सूक्ष्म शरीर पुनर्जन्म का आधार है। आत्मा के मुक्त हो जाने पर वह उससे अलग हो जाता है।

मीमांसा दर्शन में न्याय - वैशेषिक की तरह मन को पुनर्जन्म का कारण मानकर पुनर्जन्म सिद्धांत की व्याख्या की गयी है। और वेदांत दर्शन में सांख्यों की तरह सूक्ष्म शरीर की कल्पना करके पुनर्जन्म का विश्लेषण किया गया है।

बौद्ध दर्शन के अनुसार “कुशल (शुभ) कर्म सुगति का और अकुशल-अशुभ कर्म दुर्गति का कारण है। ‘भव चक्र सम्बन्धी प्रतीत्यसमुत्पाद सिद्धांत के अनुसार “अविद्या और संस्कार ही हमारे पुनर्जन्म के कारण हैं। अविद्या का अर्थ है - अज्ञान। अवास्तविक को वास्तविक समझना, अनात्म को आत्म मानना अविद्या है। अविद्या - अज्ञान के कारण संस्कार होते हैं। संस्कार को मानसिक वासना भी कहते हैं। संस्कार से विज्ञान उत्पन्न होता है। विज्ञान वह चित्तधारा है जो पूर्व जन्म में कुशल-अकुशल कर्मों के कारण उत्पन्न होती है और जिसके कारण से मनुष्य को आँख, कान आदि विषयक अनुभूति होती है।^(२५) विज्ञान के कारण नामरूप उत्पन्न होता है। रूप को नाम और वेदना, संज्ञा, संस्कार और विज्ञान को रूप कहते हैं। मन और शरीर के समूह के लिए नाम-रूप का प्रयोग किया जाता है। नाम रूप षडायतन को उत्पन्न करता है। पांच इंद्रियां और मन षडायतन कहलाता है। षडायतन स्पर्श का कारण है। इंद्रिय और विषयों का संयोग स्पर्श है। स्पर्श के कारण वेदना उत्पन्न होती है। पूर्व इंद्रियानुभूति वेदना कहलाती है। वेदना तृष्णा को उत्पन्न करती है। विषयों को भोगने की लालसा तृष्णा कहलाती है। तृष्णा उपादान को उत्पन्न करता है। सांसारिक विषयों के प्रति आसक्त रहने की लालसा उपादान है। उपादान भव का कारण है। भव का अर्थ है- जन्म

ग्रहण करने की प्रवृत्ति। भव - जाति (पुनर्जन्म) का कारण है और जाति से ही जरा-मरण होता है। इस प्रकार इस पुनर्जन्म का चक्र चलता रहता है। अविद्या और तृष्णा ही पुनर्जन्म - चक्र के मुख्य चक्के हैं। बौद्ध दर्शन में पुनर्जन्म की यही प्रक्रिया है।^(२८)

जैन विचारकों का मत है कि “आत्मा का पर-द्रव्य के साथ संयोग होने पर उसको विभिन्न योनियों में घूमना पड़ता है।”^(२९) हिंसा, झूठ, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह रूप अशुभ कर्म करने से जीव नरकादि अशुभ और निम्न योनियों में भ्रमण करता है और अहिंसादि शुभ कर्म करने से जीव मनुष्य देव आदि शुभ योनियों में जन्म लेता है।^(३०) यहाँ पर यह ध्यातव्य है कि आत्मा और कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध है, जिसके कारण जीव अनादि काल से आवागमन रूप पुनर्जन्म के चक्र में भ्रमण करता रहता है।

जैनाचार्य कुन्दकुन्द के अनुसार - “इस संसारी जीव के अनादि कर्म-बंध के कारण राग द्वेष रूप स्निग्ध एवं अशुद्ध भाव होते हैं, उन अशुद्ध राग द्वेष रूप परिणामों के कारण ज्ञानावरणादि रूप आठ द्रव्य कर्मों का बंध होता है। इन द्रव्य कर्मों के उदय से जीव नरक, तिर्यच मनुष्य और देव गतियों को प्राप्त करता है। इन गतियों में जन्म लेने से शरीर की उपलब्धि होती है और शरीर उपलब्ध होने पर इन्द्रियां होती हैं और इन्द्रियों के होने पर जीव विषय ग्रहण करता है तथा विषयों के ग्रहण करने से राग द्वेष उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार संसारी जीव कुम्भकार के चक्र के समान इस संसार में भ्रमण करता रहता है।”^(३१) इस कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि पुनर्जन्म का प्रमुख कारण कर्म और जीव का परिणाम है।

आचार्य अमृतचंद स्वामी के अनुसार - “यह जीव शरीर में दूध और पानी की तरह मिल कर रहता है तो भी अपने स्वभाव को छोड़कर शरीर रूप नहीं हो जाता है। रागादि भावों सहित होने के कारण यह जीव द्रव्यकर्म रूपी मल से मलिन हो जाने पर मिथ्यात्व रागादि रूप भाव कर्मों तथा द्रव्य कर्मों से रचित अन्य शरीर में प्रविष्ट होता रहता है। इस प्रकार यह सिद्ध हो जाता है कि जीव स्वयं शरीरांतर में जाता है।”^(३२)

अन्य दर्शनो में जिसे सूक्ष्म शरीर की मान्यता प्रदान की है, जैन दर्शन में उसे पांच शरीरों में से एक कर्मण शरीर कहा गया है, जो समस्त अन्य शरीरों की अपेक्षा सूक्ष्म होता है।^(३३) और जो समस्त संसारी जीवों को होता है। संसारी जीव की मृत्यु के बाद औदारिकादि समस्त शरीर नष्ट हो जाते हैं, केवल कर्मण शरीर जीव के साथ रहता है। यही कर्मण शरीर जीव को विभिन्न योनियों में ले जाता है।^(३४) जब तक जीव मुक्त नहीं हो जाता है तब तक इस शरीर का विनाश नहीं होता है। कर्मण शरीर ही अन्य समस्त शरीरों का कारण होता है।^(३५) इस शरीर के नष्ट होने पर ही जीव का पुनर्जन्म नहीं होता है।

कर्म सिद्धांत के अध्ययन से यह बात मालूम होता है कि एक आनुपूर्वी नामक नामकर्म होता है। यही नामकर्म जीव को अपने उत्पत्ति स्थान तक उसी प्रकार पहुँचा देता है, जिस प्रकार रज्जू(रस्सी) से बंधा हुआ बैल अर्धौट स्थान पर ले जाया जाता है। आनुपूर्वी कर्म वक्रगति करने वाले जीव की सहायता करता है। कर्मण शरीर युक्त जीव अभिष्ट जन्म स्थान पर पहुँच कर औदारिकादि शरीर का स्वयं निर्माण करता है। जैन दर्शन में पुनर्जन्म की यही विधि है।

पुनर्जन्म सिद्धान्त की सिद्धि-

भारतीय मनीषियों ने अनेक युक्तियों एवं प्रमाण द्वारा पुनर्जन्म सिद्धान्त को सिद्ध किया है।^(३६)

१. नवजात शिशु में हर्ष, भय, शोक, माँ का स्तनपान आदि क्रियाओं से पुनर्जन्म सिद्धांत की पुष्टि होती है। क्योंकि उसने इस जन्म में हर्षादि का अनुभव नहीं किया है, जब कि ये सब क्रियाएं पूर्वाभ्यास से ही सम्भव हैं। अनन्त वीर्य ने सिद्ध विनिश्चय टीका में इसी तर्क से पुनर्जन्म सिद्धांत की सिद्धि की है। जिस प्रकार एक युवक का शरीर शिशु की उत्तरवर्ती अवस्था है, इसी प्रकार शिशु का शरीर पूर्व जन्म के पश्चात् होने वाली अवस्था है। यदि ऐसा न माना जाय तो पूर्व जन्म में भोगे हुए तथा अनुभव किये हुए का स्मरण न होने से तत्काल प्राणियों में उपर्युक्त भयादि प्रवृत्तियाँ कभी नहीं होगी लेकिन उनमें उपर्युक्त प्रवृत्तियाँ होती हैं। अतः पुनर्जन्म की सत्ता स्वीकार्य योग्य है।
२. प्रायः सभी प्राणियों में सांसारिक विषयों के प्रति राग द्वेषात्मक प्रवृत्ति का होना भी पुनर्जन्म को सिद्ध करता है। न्यायदर्शन-वात्स्यायन भाष्य में इसका विस्तृत विवेचन किया है।
३. संसार के सभी प्राणी एक समान नहीं होते हैं। कोई जन्म से अन्धा, बहरा, लूला होते हैं तो कोई बहुत सुन्दर रुपवान होते हैं, आदि। इस प्रकार जीवों में व्याप्त विषमता किसी अदृश्य कारण की ओर संकेत करती है। यह अदृश्य कारण पूर्वजन्म में किये गये कर्मों का फल है; जिसे भोगने के लिए दूसरा जन्म लेना पड़ता है। अतः जीवों के जीवन स्तर से भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।
४. कुछ व्यक्ति अलौकिक प्रतिभा वाले होते हैं और कुछ अज्ञानी होते हैं। इसका कारण यही है कि जिस जीव ने जिस कार्य का पहले के जन्म में अभ्यास किया होता है, वह उसमें प्रवीण हो जाता है और अनभ्यस्त आत्मा मूढ़ होती है। जन्म जात विलक्षण प्रतिभा के आधार पर भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती है।
५. प्रत्यक्ष और स्मरण के योग - रूप ज्ञान - प्रत्यभिज्ञान के आधार पर भी पुनर्जन्म की सिद्धि होती है। जैन शास्त्रों में देवों के वर्णन के अन्तरगत देवों में एक व्यंतर देवों का भी वर्गीकरण किया गया है। यक्ष, राक्षस, भूतादि व्यंतर देव प्रायः यह कहते हुए सुने जाते हैं कि मैं वही हूँ जो पहले अमुक था। यदि आत्मा का पुनर्जन्म न माना जाय तो भूत, प्रेत को इस प्रकार का प्रत्यभिज्ञान नहीं होना चाहिए। अतः व्यंतरों का प्रत्यभिज्ञान पुनर्जन्म को सिद्ध करता है।
६. पूर्वभव का स्मरण पुनर्जन्म को सिद्ध करने वाला ज्वलन्त प्रमाण है। नारकी जीवों के दुःखों का वर्णन करते हुए पूज्यपाद ने कहा है कि "पूर्वभव के स्मरण होने से उनका बैर दृढ़तर हो जाता है, जिससे वे कुत्ते - गिद्ध की तरह एक दूसरे का घात करने लगते हैं। योगसूत्र के कथन से भी सिद्ध है कि आत्मा का पुनर्जन्म होता है। यदि

पुनर्जन्म न हो तो पूर्वभव के स्मरण - कथन करने का कोई अर्थ नहीं होता है। जब तक दूसरा जन्म न माना जाय तब तक 'पूर्वभव' नहीं कहा जा सकता।

पुनर्जन्म सिद्धांत के कथन से जीव को न केवल नैतिक बनने की प्रेरणा मिलती है बल्कि वह आत्मा की अशुद्धता को क्रमशः दूरकर शुद्धात्मा की प्राप्ति के लिए प्रयत्नशील हो जाता है, शुद्धात्मा - परमात्मा की प्राप्ति ही जीवन का अंतिम उद्देश्य है।

सन्दर्भ :

१. (क) प्रेत्यामुत्र भवान्तरे। अमरकोष ३/४/८
- (ख) मृत्वा पुनर्भवन्नं प्रेत्यभावः। अष्टसहस्री पृष्ठ १६५
- (ग) प्रेत्यभावः परलोकः॥ अष्टसहस्री पृष्ठ ८८
- (घ) प्रत्यभावो जन्मान्तर लक्षणः॥ अष्टसहस्री पृष्ठ १८१
- (ङ.) पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः। न्यायसूत्र १/१/१९
२. षट्खंडागम भाग ६/पृष्ठ १८
३. तत्त्वार्थ - वार्तिक ६/१/७
४. पपद्ध सर्वार्थसिद्धि २/२६ एवं ६/१; पपद्ध तत्त्वार्थसूत्र ६/१; पपद्ध पंचाध्यायी २/४५
५. पंचास्तिकाय गाथा ६५ - ६६
६. तत्त्वार्थसूत्र ८/२. तत्त्वानुशासन ६.
७. सर्वार्थसिद्धि ७/२५ तत्त्वार्थवार्तिक १/४/१७ पृष्ठ २६
८. पंचास्तिकाय गाथा - १२८-३०, भगवती सूत्र ९.
९. जैन तत्व विद्या, पृष्ठ ३१७
१०. तत्त्वार्थसूत्र ८/२
११. मूलाचार का समीक्षात्मक अध्ययन पृष्ठ ५१८
१२. द्रव्य संग्रह गाथा ३३, जैन धर्म और दर्शन, पृष्ठ १२९.
१३. समयसार गाथा १०९, २३७, २४१, १७७.
१४. तत्त्वानुशासन ८.
१५. तत्त्वार्थ सूत्र ८/१.
१६. तत्त्वार्थ सूत्र ९/१.
१७. तत्त्वार्थवार्तिक १.४.११. तत्त्वार्थ सूत्र ९/१.
१८. तत्त्वार्थ सूत्र ९/२-३.
१९. भगवती अराधना गाथा १८४७.
२०. सर्वार्थसिद्धि ८/२३ पृष्ठ ३९९.
२१. वैशेषिक सूत्र ६/२/१४. भारतीय दर्शन की रूप रेखा पृष्ठ २६२.
२२. षड्दर्शन रहस्य पृष्ठ १३५.
२३. न्याय सूत्र १/१/२.
२४. सांख्य सूत्र ६/४१.
२५. सांख्य सूत्र ६/१६.
२६. सांख्य सूत्र प्रवचन भाष्य ६/९.
२७. बौद्ध दर्शन तथा अन्य भारतीय दर्शन पृष्ठ ३९५.
२८. भारतीय दर्शन की रूप रेखा पृष्ठ १५०.
२९. ज्ञानार्णव २१/२२.
३०. ज्ञानार्णव, संसारभावना ८.
३१. पंचास्तिकाय १२८/३०.
३२. पंचास्तिकाय गाथा ३४.
३३. तत्त्वार्थ सूत्र २/३६ - ७. / सर्वस्य - वही २/४२.
३४. सर्वार्थसिद्धि २/२५ पृष्ठ १८३.
३५. सर्वार्थसिद्धि ३६. भारतीय दर्शन

काकन्दी दिगम्बर जैन तीर्थक्षेत्र,
पोस्ट-खुखुन्दु, जिला- देवरिया (उ.प्र.)

संदर्भ :

१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक ६/१ पं. माणिकचन्द्र कौन्देय, न्यायाचार्य की व्याख्या, पृ. ४३१
२. स च कार्यवीड् मनः कर्म तेनैवात्मनि ज्ञानावरणादिकर्मभिर्बन्धस्य करणात् तस्य बन्धहेतुत्वोपपत्तेः। त.श्लोक ६/१ पृष्ठ ४३२
३. प्रधान परिमाणो योग इत्युक्तं, तस्यात्मबन्धहेतुयोगात्। प्रधानस्यैव बन्धहेतुरसाविति चायुक्तं, बन्धस्योभयस्थत्व सिद्धेः। तर्हि जीवाजीव परिणामो बन्ध इति चेत्, सत्यं जीवकर्मणोर्बन्धस्य तदुभयपरिणामहेतु कत्ववचनात्। त.श्लो. ६/१/ पृ. ४३३
४. सकषायकषाययोः संपरायिकेर्यापथयोः। तत्त्वार्थसूत्र ६/४
५. पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥ सांख्य कारिका-१७? तरमाच्च विपर्यासात्सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य कैवल्यं माध्यस्थ्यं दृष्टृत्वमकर्तृभावश्च॥ सां. का. १९
६. तस्मात्तत्संयोगादचेतनं चेतनवदिव लिङ्ग। गुणकर्तृत्वे च तथा कर्तेव भवत्युदासीनः॥ सा. का. २०
७. तत्र यह सुखहेतुः तत् सुखात्मकं सत्त्वम्, यत् दुःखहेतुस्तद्ध दुःखात्मकं रजः, यन्मोहहेतुस्तन्मोहात्मकं तमः। वाचस्पति मिश्र : सांख्य तत्त्व कौमुदी- १३वीं कारिका की व्याख्या सत्त्वं लघुप्रकाशकमिष्टमुपपष्टम्कं चलं च रजः। गुरुवरणकमेव तमः प्रदीपवच्चार्थतो वृत्तिः॥ सांख्यकारिका-१३
८. समयसार - गाथा, १८८
९. समयसार, गाथा-२२ एवं समयसार, गाथा-४९
११. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ६/११ पृ. ५००-५०१
१२. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ६/११, पृष्ठ ४९९८-४९९
१३. तत्प्रदोषनिहवमात्सयन्ति रायासादनोपघाताज्ञानदर्शनावरणयोः - त.वा. ६/१०
१४. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ६/१० की व्याख्या पृ. ४९०-४९२
१५. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ६/३ की व्याख्या पृ. ४४८
१६. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ६/३ की व्याख्या, पृ. ४४९
१७. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ६/८ की व्याख्या, पृ. ४५६
१८. तत्त्वार्थश्लोक वार्तिक ६/११ की व्याख्या, पृ. ५०१

- डॉ. रमेशचन्द्र जैन
मुहल्ला- कुँवर बालगोविन्द,
बिजनौर - २४६ ७०१ (उ.प्र.)

मानव जीवन में श्रावकाचार : वर्तमान परिप्रेक्ष्य

- प्रो. डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

जीवन की क्रमिकता अधिकांश दर्शनों में स्वीकार की गयी है। यदि कोई कहे कि- 'मैं वर्तमान में जो हूँ, मात्र वही हूँ - न मेरा कोई अतीत है और न कोई भविष्य' - इस कथन में कितनी सच्चाई है? इसे कहने या समझने की जरूरत नहीं है।

वर्तमान जीवन का पहले के जीवन से और आगे आने वाले (भविष्य) जीवन से श्रृंखला रूप सम्बन्ध न हो तो क्या किसी को अपने वर्तमान जीवन में कर्तव्यों की सम्पूर्ति में सच्ची अभिरूचि पैदा हो सकती है- अथवा बनी रह सकती है? क्यों कोई स्थायी प्रभाव वाला कार्य करना चाहेगा, जिसका सीधा लाभ उसे न मिलता हो? अर्थात् नहीं।

वास्तव में वर्तमान केवल वर्तमान ही नहीं है- वर्तमान का अतीत भी है और उसका भविष्य भी है, और यही काल की क्रमिकता है। उसी प्रकार जीवन की क्रमिकता अटूट होती है, जब तक कि आत्मा संसार से मुक्ति न प्राप्त कर ले।

जीवन की क्रमिकता का तात्पर्य है- 'पूर्वजन्म तथा पुनर्जन्म की विद्यमानता और कर्म-सिद्धान्त की अटलता।' जीवनों की यह श्रृंखला अनन्त काल से चलती आयी है और तब तक चलती रहेगी, जब कि सभी प्रकार के कर्म-बन्धनों से आत्मा मुक्त नहीं हो जाती।

लोकमान्य बालगंगाधर तिलक के द्वारा उद्घोषित और संकल्पित राष्ट्रीय स्वतंत्रता के महामंत्र- "स्वराज्य माझा जन्म सिद्ध अधिकार आहे। तो मी घेईन च"। ('स्वराज्य मेरा जन्म सिद्ध अधिकार है। उसे मैं लूँगा हूँ।') को इसी तारतम्य में हम लोग अपने दृष्टिपथ एवं विचार-परिधि में रखकर के 'शाश्वत स्वतंत्रता' अथ च 'स्वाधीनता प्राप्त करने हेतु क्रियान्वित ;मामबनजपवदद्ध के लिए जोड़कर युग-युगों से कर्मों की बेड़ियों में जकड़े और जन्म-मरण के चक्र में उलझे अपने आत्मा को सर्व-तन्त्र स्वतंत्र शाश्वत सुख-मोक्ष का राहगीर बनने की नींव-स्वरूप अपने 'गृहस्थ जीवन की आचरण संहिता' ;व्वकम वव्वदकनबज वव्विभ्वनेम भ्वसकमतेद्ध अर्थात् 'श्रावक के आचरण' में परखने और तदनु रूप अपने जीवन में सहेजने का संकल्प लेना आवश्यक है।

लोकमान्य तिलक के उक्त कथन से ध्वन्यर्थ- कि संसार में जीवन-यापन करने वाले प्राणी का मूल लक्ष्य- भव समुद्र को पारकर "मुक्ति" - लक्ष्मी को प्राप्त करना है यही हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है और इसी मुक्ति रूपी महल में प्रवेश करने हेतु सम्यक् रत्नत्रय रूप कर्तव्यों के पालन का, उन्हें आत्मसात् करने का सुदृढ़ संकल्प होना चाहिए। वस्तुतः "सौम्य, शान्त और तनाव रहित जीवन हमारा जन्म सिद्ध अधिकार है।

यहाँ हमारा अनुरोध यह है कि - अधिकार तो है परन्तु यदि आदमी कर्तव्य की जमीन पर खड़े हुए बगैर उसे पाना चाहेगा, तो वह विफल हो जाएगा।

श्रावकाचार गृहस्थों की आचरण संहिता है। वह बहुत व्यावहारिक है। उसमें जो समाधान सुझाये हैं, वे स्वस्थ नागरिक के अधिकारों और कर्तव्यों का बोध कराते हैं।' वे व्यावहारिक हैं और तमाम समस्या वृत्तों को छूते हैं।

साहित्यकार श्री विष्णु प्रभाकर जी का यह कथन वर्तमान नागरिकों की जीवन शैली के यथार्थ का समर्थ निदर्शक है-

“गरीबी की गरिमा, सादगी का सौंदर्य, संघर्ष का हर्ष, समता का स्वाद और आस्था का आनन्द, ये सब हमारे आचरण से पतझर के पत्तों की तरह झर गये हैं।”

“मानव जीवन में श्रावकाचार की भूमिका” विषय पर चिंतन का लक्ष्य भी यही है कि - मनुष्य के जीवन का यह पतझर खत्म होवे और बसन्त का वैभव पुनः प्रकट होवे।

इस संदर्भ में हमारा सुस्पष्ट चिन्तन है कि यह तब संभव है, जब व्यक्ति और समाज नैतिकतापूर्ण चिंतन के साथ मनन और तदनुसार सन्मार्ग में प्रवृत्त होवे- प्रशस्त आचरण को अपनी जीवन शैली का आवश्यक अंग बनावे। अन्यथा भौतिक समृद्धि के लिए होने वाली आपाधापी में हमारे जीवन में पतझर के खात्मा और बसन्त के वैभव का समागम की कोई संभावना नहीं है।

यहाँ हमारा कहना है कि - आम आदमी सौम्य, शान्त और तनाव- रहित जीवनचर्या के लिए श्रावक की आचरण संहिता को पहले चरण में स्वाध्याय करे और तब द्रव्य, क्षेत्र, काल, भावों के अनुरूप उसे अपनी दैनन्दिन व्यवस्था से यथासंभव जोड़े। ऐसा करते समय उसे अपने सर्वोच्च अधिकार 'शिव-सुख' की प्राप्ति का भान तो रहे ही, साथ ही तदनुरूप कर्तव्यों/आचरण संहिता के पालन का बोध भी बना रहे।

‘छहढाला’ की ये पंक्तियाँ वह हमेशा गुनगुनाता रहे -

“आतम को हित है सुख, सो सुख, आकुलता बिन कहिए।

आकुलता शिव मांहि न ताते शिव मग लाग्यो चाहिए।।” - ३.१

अधिकांश श्रावक तो युग-युगों से अपने अधिकार और कर्तव्यों के प्रति बेसुध हैं तभी तो आचार्यकल्प पं. आशाधर जी को लिखना पड़ा -

अनाद्यविद्या - दोषोत्थ - चतुः संज्ञा - ज्वरातुराः।

शश्वत् स्वज्ञान - विमुखाः सागाराः विषयोन्मुखाः॥१-

सागारधर्मामृत, अ.१-पद्य २

(जैसे वात, पित्त और कफ इन तीनों दोषों की विषमता से उत्पन्न होने वाले प्राकृत आदि) चार प्रकार के ज्वरों से पीड़ित होने के कारण मनुष्य हिताहित के विवेक शून्य हो जाता है। उसी प्रकार अनित्य पदार्थों को नित्य, अपवित्र पदार्थों को पवित्र, दुःखों को सुख तथा

अपने से भिन्न स्त्री, पुत्र, मित्र आदि बाह्य पदार्थों को 'अपना मानना' रूप अनादि कालीन अविद्या रूपी वात, पित्त वा कफ की विषमता से उत्पन्न होने वाली आहार आदि चारों संज्ञाओं रूपी ज्वर से पीड़ित होने के कारण, जो निरन्तर मुख्यतया स्वात्मज्ञान से विमुख होकर राग तथा द्वेष से इष्ट तथा अनिष्ट विषयों में प्रवृत्त रहता है, उसे 'सागार' कहते हैं।

गृहस्थाश्रम और श्रावक :

भारतीय संस्कृति में गृहस्थाश्रम का अत्यधिक महत्त्व है। गृहस्थाश्रम में निवास करने वाले व्यक्ति के लिए जैनधर्म में श्रावक, सावय, सावग, उपासग, समणोपासक, गिही, अगारिक, देशसंयमी, आगारी और सागार शब्दों का प्रयोग किया गया है।

'श्रावक' शब्द की व्युत्पत्ति और निरुक्ति :

श्रु + ण्वल् = श्रावक। शृणोति गुर्वादिभ्यः धर्मम् इति श्रावकः।^१

अर्थात् जो श्रद्धापूर्वक गुरु आदि से धर्म श्रवण करता है, वह 'श्रावक' है।

निरुक्ति :

श्रन्ति पचन्ति तत्त्वार्थश्रद्धानं निष्ठां नयन्ति इति श्राः,

वपन्ति गुणवत् सप्तक्षेत्रेषु धन बीजानि निक्षिपन्तीति वाः, तथा

किरन्ति क्लिष्ट कर्मरजो विक्षिपन्तीति काः,

ततः कर्मधारये 'श्रावकाः' इति भवति।२

इसका तत्पार्य यह है कि - "श्रावक" पद में तीन अक्षर हैं, इनमें से "श्रा" शब्द से तत्त्वार्थ - श्रद्धान का बोध होता है। 'व' शब्द - सप्त धर्म - क्षेत्रों में धन रूप बीज बोने का प्रेरक है। 'क' शब्द - क्लिष्ट कर्म या महापापों को दूर करने का संकेत करता है। इस प्रकार कर्मधारय समास में 'श्रावक' शब्द निष्पन्न होता है।

श्रावक स्वरूप : कुछ विद्वानों ने 'श्रावक' पद के अर्थ को और भी पल्लवित किया है - जैसे-जो श्रद्धापूर्वक जैन शासन को सुने, दीन-दुःखियों को दान दे, सम्यग्दर्शन को वरण करे, सुकृत और पुण्य कर्म करे, संयमाचरण करे, उसे विद्वज्जन 'श्रावक' कहते हैं।

श्रावक की परिभाषा :

संक्षेप में "श्रावक" को इस प्रकार से परिभाषित किया जा सकता है -

सच्चे देव शास्त्र गुरु के प्रति श्रद्धा रखने वाले सद् गृहस्थ को 'श्रावक' कहते हैं अथवा पंच परमेष्ठी का भक्त, दान व पूजन में तत्पर, भेद- विज्ञान रूपी अमृत को पीने का इच्छुक तथा मूलगुण व उत्तरगुणों का पालन करने वाला व्यक्ति 'श्रावक' कहलाता है, अथवा देशविरत नामक पंचम गुणस्थान के दर्शन प्रतिमा आदि स्थानों में मुनिव्रत का इच्छुक होता हुआ जो सम्यग्दृष्टि व्यक्ति किसी एक स्थान को धारण करता है, उसे 'श्रावक' कहा गया है।

१. वसुनन्दिश्रावकाचार, पृ.२० पर उद्धृत पद्य के आधार पर।

आ. देवसेन ने अपभ्रंश भाषा में रचित श्रावकाचार विषयक "सावय धम्म दोहा" में श्रावक की परिभाषा पद्य ५९ में देते हुए कहा है-

“पाँच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रत ये श्रावक के बारह व्रत होते हैं। ये व्रत मनुष्य और देवों के सुखों का उपभोग कराकर जीव को निर्वाण पद तक ले जाते हैं।^३ उन्होंने आगे इसी ग्रन्थ के पद्य ७६ में लिखा है -

एहु धम्म जो आयरइ बंभणु सुददु वि कोइ।

सो सावउ किं सावयहं अण्णु कि सिरि मणि होइ।४

जो (उक्त निर्दिष्ट अणुव्रतादि रूप बारह प्रकार के) धर्म का आचरण करता है, वह चाहे ब्राह्मण, शूद्र कोई भी हो ‘श्रावक’ कहलाता है। श्रावक के शिर पर क्या अन्य कोई मणि रहता है। वस्तुतः श्रावक की पहचान उक्त व्रत ही है।

गृहस्थ के मूलगुण :

कतिपय श्रावकाचार्यों में श्रावक की आचरण संहिता में गृहस्थों के मूलगुण इस प्रकार वर्णित हैं :-

मद्य, मांस और मधु के त्याग सहित अणुव्रतों को गृहस्थों के ‘मूलगुण’ कहते हैं अथवा मद्य, मधु, रात्रि भोजन व पंच उदम्ब फल का त्याग, देववन्दना, जीव दया करना और पानी छानकर पीना - ये आठ ‘मूलगुण’ श्रावक के माने गये हैं। उत्तरगुण के साथ में दान, पूजा, शील और उपवास - ये चार श्रावक के धर्म हैं।^५

पूर्वजों की कीर्ति की रक्षा, जिनपूजन, अतिथि सत्कार, बन्धु बान्धवों की सहायता और आत्मोन्नति - ये श्रावक के पाँच कर्तव्य हैं। अथवा जिन पूजा, गुरु की सेवा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान - ये छह कर्म श्रावक के लिए प्रतिदिन करने योग्य आवश्यक कार्य हैं।^६

श्रावक के भेद -

श्रावक के तीन भेद हैं - १. पाक्षिक, २. नैष्ठिक, और ३. साधक

१. पाक्षिक श्रावक -

मैत्री, प्रमोद, कारुण्य और माध्यस्थ भाव से वृद्धि को प्राप्त होते हुए समस्त हिंसा का त्याग करना जैनों का पक्ष कहलाता है। इसलिए गृहस्थ धर्म में जिनेन्द्र भगवान् के प्रति श्रद्धा रखता हुआ जो श्रावक हिंसा आदि पांच पापों को स्थूल रूप से त्याग करने का अभ्यास करता है वह ‘पाक्षिक’ श्रावक कहलाता है।^७ वह हिंसा आदि से बचने के लिए सबसे पहले मांस, मदिरा एवं शहद तथा पंच उदुम्बर फलों को छोड़ता है। वह गुरुजनों की रक्षा, स्वाध्याय, संयम, तप और दान रूप गृहस्थों के लिए प्रतिदिन करने योग्य आवश्यक कार्य भी करता है।

२. नैष्ठिक श्रावक -

जो श्रद्धापूर्वक व्रत, सामायिक आदि ग्यारह प्रतिमाओं में से, एक दो या सभी प्रतिमाएँ ग्रहण करता है, वह “नैष्ठिक श्रावक” कहलाता है।

३. साधक श्रावक -

जो श्रावक आनन्दित होता हुआ जीवन के अन्त में अर्थात् मृत्यु समय, शरीर, भोजन और मन, वचन काय के व्यापार के त्याग से पवित्र ध्यान के द्वारा आत्मा की शुद्धि की साधना करता है, वह “साधक” कहा जाता है।

जिसमें सम्पूर्ण गुण विद्यमान है, जो शरीर का कांपना, उच्छवास लेना, नेत्रों का खोलना, आदि क्रियाओं का त्याग कर रहा है और जिसका चित्त लोक के ऊपर विराजमान सिद्धों में लगा हुआ है, ऐसे समाधिमरण करने वाले का शरीर परित्याग करना साधकपना कहलाता है।

मोक्षमार्ग में सम्यक् चारित्र की भी अनिवार्यता :

सम्यग्दर्शन धर्म का मूल अवश्य है पर मात्र सम्यग्दर्शन से मोक्ष- रूप फल की प्राप्ति नहीं हो सकती। मोक्ष प्राप्ति के लिए तो सम्यग्दर्शन और सम्यग्ज्ञान से समन्वित सम्यक्चारित्र की आवश्यकता है। इसीलिए आ. उमास्वामी ने 'सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्राणि मोक्षमार्गः (मोक्षशास्त्र १.१) - सूत्र द्वारा सम्यग्दर्शन आदि रत्नत्रय की पूर्णता को ही 'मोक्ष-मार्ग' कहा है।

आचार्य समन्तभद्र स्वामी ने हिंसा, असत्य, चौर्य, अब्रह्म और परिग्रह इन पाँच पापों का सकलदेश परित्याग करना 'सकल चारित्र' है, और एकदेश त्याग करना 'विकल चारित्र' है। सकल चारित्र मुनियों के होता है और विकल चारित्र गृहस्थों के।

सकल चारित्र में पाँच महाव्रत, पांच समिति, और तीन गुप्तियों की प्रधानता है, विकल चारित्र में - पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत और चार शिक्षाव्रतों का वैभव है।

बारह व्रतों में पांच अणुव्रतों के संबन्ध में कहीं भी मतभेद नहीं है। उनके नाम- भेद अवश्य मिलते हैं। जैसे आ. कुन्दकुन्द ने अपने 'चारित्र प्राभृत' में-

पाँचवे अणुव्रत का नाम परिग्रहारम्भ परिमाण और चौथे अणुव्रत का नाम 'पर पिम्म परिहार जिसका अर्थ परस्त्रीत्याग है तथा प्रथम अणुव्रत का नाम 'स्थूल त्रस काय वध परिहार' रखा है।

आ. समन्तभद्र ने 'रत्नकरण्ड' में चौथे अणुव्रत का नाम 'परदारनिवृत्ति' और 'स्वदार-संतोष' रखा है एवं पाँचवें अणुव्रत का नाम 'परिग्रह परिमाण' के साथ 'इच्छा परिमाण' भी रखा है। कुछ अन्य आचार्यों के ग्रन्थों में भी इन अणुव्रत के कुछ अन्य नाम प्राप्त होते हैं।

श्रावकाचार वर्तमान परिप्रेक्ष्य में :

समाज, राष्ट्र एवं विश्व में 'श्रावकाचार' की गुणवत्ता विशिष्ट रूप से सर्वमान्य है। किन्तु आज समय बदल गया है। मानव में सात्विक मनोवृत्ति में हीनता आयी है, मलीनता वायु की तरह प्रायः सर्वत्र परिव्याप्त हो रही है, ऐसी स्थिति में श्रावकाचार के सिद्धान्तों की महत्ता विशिष्ट रूप से प्रतिभासित हो रही है।

मनुष्य भव प्राप्त होने के बाद मनुष्यत्व, शास्त्र श्रवण, श्रद्धा और संयम। ये चार साधन जीव को प्राप्त होने अत्यन्त कठिन हैं। इन चारों में मनुष्यत्व सबसे पहला है।

मनुष्य शरीर पाने के बाद भी यदि मनुष्यता न प्राप्त की गयी, तो मनुष्य जन्म बेकार है।

शिक्षा के क्षेत्र में परीक्षाओं में उत्तीर्ण होकर वकील, डॉक्टर, इंजीनियर आदि अनेक डिग्रियाँ प्राप्त करते हैं, लेकिन मनुष्यत्व की परीक्षा में उत्तीर्ण होने वाले कितने होते हैं? मनुष्यत्व की सच्ची

शिक्षा देने वाले - स्कूल, कॉलेज, विद्या मंदिर तथा पाठ्य पुस्तकें आज कहाँ हैं? श्रावकाचार मनुष्यता की शिक्षा देने वाला मुक्त विश्वविद्यालय; ज्वमद न्दपअमतेपजलद्ध है।

जैन परिभाषा में आचरण को 'चारित्र' कहते हैं। चारित्र का अर्थ है- संयम पालन, भोग विलास से उदासीनता, अशुभ प्रवृत्तियों से निवृत्ति और शुभ प्रवृत्ति की स्वीकृति।

आज की प्रमुख समस्याएँ :

- तनाव, अतृप्ति, अशान्ति, चरित्रहीनता और सुविधावाद है।

ये समस्याएँ पहले राई जितनी लघुकाय थीं, किन्तु आज सुरसा के मुख के समान विकराल हो गयी हैं, ऐसे विकट मोड़ में श्रावकाचार के सिद्धान्त समस्याओं के घाव को भरने वाला समाधान रूपी मलहम हैं।

वर्तमान परिप्रेक्ष्य में 'श्रावकाचार' निर्देशित करता है :

१. विश्व हिंसा परायण है, अतः 'अहिंसा' चाहिए।
२. पदार्थ का आकर्षण बढ़ा है, अतः 'सत्यदृष्टि' चाहिए।
३. विश्व अशान्त है, अतः 'संयम' चाहिए।
४. वासनाएँ बढ़ रही हैं, अतः 'ब्रह्मचर्य' चाहिए।
५. विश्व अतृप्त है, अतः 'अपरिग्रह' चाहिए।
६. तनाव बढ़ रहे हैं, अतः 'धर्मध्यान/सामायिक' चाहिए।

श्रावकाचार के अन्तर्गत सबसे पहली आधार भूमि "अहिंसा" है। यदि मात्र इसे अपना लिया जावे तो श्रावकाचार के अन्य अंग स्वयमेव श्रावक से जुटने को उतावले दिखायी देंगे। आज विश्व विनाश के कगार पर खड़ा है। चारों ओर हिंसा का बोलबाला है। एक देश अन्तरंग में एक दूसरे से भयभीत हैं। इस भय को दूर करने के लिए 'श्रावकाचार' ने अहिंसा का सिद्धान्त विश्लेषित किया है।

जैसे खून से सना वस्त्र खून से धोने पर कभी साफ नहीं होता, इसी प्रकार हिंसा करने से कभी भी हिंसा नहीं मिटती। अतः हिंसा को रोकने के लिए 'श्रावकाचार-सम्मत अहिंसाणुव्रत को अपनाना होगा। 'श्रावकाचार' में समाविष्ट अन्य व्रत स्वयमेव अहिंसा की परिधि में आ जाते हैं, क्योंकि जो अहिंसक होते हैं, वे ही शुद्ध सत्य के मर्म को समझते हैं। मृदु सत्य उनके जीवन में दूध में मक्खन की तरह समाया रहता है।

जो अहिंसक होते हैं, वे ही अचौर्य व्रत के धारक होते हैं। 'अब्रह्मचर्य' लाखों जीवों की हिंसा का परिणाम है, ब्रह्मचर्य अहिंसक आराधना है। 'परिग्रह' तो हिंसा के बिना संभव ही नहीं है, 'परिग्रह' एक ऐसा पाप है, जिसमें समस्त पाप आकर समाते हैं। इसका निष्कर्ष यही है कि श्रावकाचार में वर्णित एक मात्र अहिंसा सिद्धान्त को ही यदि हम अपना लेवें तो अन्य व्रत स्वयमेव श्रावक के आचरण से जुड़ जावेंगे। 'श्रावकाचार' व्यक्ति में विवेक और सहिष्णुता, संयम और स्वावलंबन, सदाचार और उदारतापूर्ण जीवन शैली पल्लवित, पुष्पित और समृद्ध करता है। हमें जल, अग्नि और वनस्पतियों का असीमित उपभोग करने से बचना

चाहिये। जरूरतमंद की सहायता और साधुओं की आहार, विहार-निहार की समुचित व्यवस्था करना, “वर्तमान परिप्रेक्ष्य में श्रावकाचार की मूल भावनाओं का संरक्षण है।”

संदर्भ :

१. सागार धर्माभूत : स्वोपज्ञ टीका - १/१५
२. अभिधान राजेन्द्र कोष : श्री विजय राजेन्द्र सूरीश्वर, ‘सावय’ शब्द, प्रकाशक- श्री जैन श्वेताम्बर समस्त संघ रतलाम, सन् १९१३-१४
३. सावय धम्म दोहा, पद्य ५९ ४. वही, पद्य ५९
५. मुनि क्षमासागर : जैन दर्शन पारिभाषिक शब्द कोष प्रकाशक- मैत्री समूह : २००९, पृष्ठ-३१६
६. वही, पृष्ठ-३१६
७. वही, पृष्ठ २००
८. वही, पृष्ठ १८५
९. वही, पृष्ठ १८५
१०. वही, पृष्ठ ३४६

- डायरेक्टर, संस्कृत प्राकृत तथा जैन विद्या
अनुसंधान केन्द्र, दमोह (म.प्र.) ४७० ६६१

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में वर्णित श्रावक-व्रतों का वैशिष्ट्य

- डॉ. जिनेन्द्र कुमार जैन

जैन धर्म केवल निवृत्तिमूलक दर्शन नहीं है, बल्कि उसके प्रवृत्त्यात्मक रूप में अनेक ऐसे तत्त्व विद्यमान हैं, जिनमें निवृत्ति और प्रवृत्ति का समन्वय होकर धर्म का लोकोपकारी रूप प्रकट हुआ है। इस दृष्टि से जैनधर्म जहाँ एक ओर अपरिग्रही, महाव्रतधारी अनगार धर्म के रूप में निवृत्तिप्रधान दिखाई देता है, तो दूसरी ओर मर्यादित प्रवृत्तियाँ करने वाले अणुव्रतधारी श्रावक धर्म की गतिविधियों में सम्यक् नियंत्रण करने वाला दिखाई देता है। समाज-रचना में राजनीति और अर्थनीति के धरातल पर यदि जैनदर्शन के अहिंसात्मक स्वरूप का प्रयोग करें तो आधुनिक युग में समतावादी दृष्टिकोण को स्थापित किया जा सकता है। महात्मा गाँधी ने भी आर्थिक क्षेत्र में ट्रस्टीशिप का सिद्धान्त आवश्यकताओं से अधिक वस्तुओं का संचय न करना, शरीर श्रम, स्वादविजय, उपवास आदि के जो प्रयोग किये, उनमें जैनदर्शन के प्रभावों को सुगमता से रेखांकित किया जा सकता है।

जैन दर्शन का मूल लक्ष्य वीतरागभाव अर्थात् राग-द्वेष से रहित समभाव की स्थिति प्राप्त करना है। समभाव रूप समता में स्थित रहने को ही धर्म कहा गया है।^१ समता धर्म का पालन श्रमण के लिए प्रति समय आवश्यक है।^२ इसीलिए जैन परम्परा में समता में स्थित जीव को ही श्रमण कहा गया है। जब तक हृदय में या समाज में विषम भाव बने रहते हैं, तब तक समभाव की स्थिति प्राप्त नहीं की जा सकती। अतः यह आवश्यक है कि विषमता के जो कई स्तर, यथा-सामाजिक विषमता, वैचारिक विषमता, दृष्टिगत विषमता, सैद्धान्तिक विषमता आदि प्राप्त होते हैं, उनमें व्यावहारिक रूप से समानता होनी चाहिए। लोभ और मोह पापों के मूल कहे गये हैं। मोह राग-द्वेष के कारण ही (जीव) व्यक्ति समाज में पापयुक्त प्रवृत्ति करने लगता है।^३ इसलिए इनके नष्ट हो जाने से आत्मा को समता में अधिष्ठित कहा गया है।^४ समाज में व्याप्त इस आर्थिक वैषम्य को जैनदर्शन में परिग्रह कहा गया है। यह आसक्ति, अर्थ-मोह या परिग्रह कैसे टूटे, इसके लिए जैनधर्म में श्रावक के लिए बारह व्रतों की व्यवस्था की गई है।

जैन परम्परा में धर्म के दो रूप प्राप्त होत हैं - श्रमण धर्म एवं श्रावक धर्म। महाव्रत के सम्बन्ध में आचार्य समन्तभद्र लिखते हैं -

पञ्चानां पापानां हिंसादीनां मनोवचः कायैः।

कृत-कारितऽनुमोदैस्त्यागस्तु महाव्रतं महताम्॥५

अर्थात् मन, वचन एवं काय द्वारा कृत, कारित, अनुमोदना पूर्वक पांचों पापों का पूर्णरूप से त्याग करना ही महाव्रत है। मुनिवर्ग महाव्रतों का पालन करते हैं तथा श्रावक वर्ग अणुव्रत सहित द्वादश व्रतों का पालन करते हैं। श्रावक धर्म का विस्तृत विवरण आचार्य समन्तभद्र ने रत्नकरण्डक श्रावकाचार नामक ग्रन्थ में दिया है तथा उसमें उन्होंने श्रावक के विभिन्न धर्मों को विवेचित किया है। श्वेताम्बर जैन आगमों में ज्ञाताधर्मकथा द्वादशांगी के अन्तर्गत परिगणित है। इसके पंचम अध्ययन में शैलक का कथानक दिया गया है, जिसमें एक प्रसंग थावच्चा पुत्र एवं शुक के बीच हुए संवाद सहित यहाँ अपरिग्रह की प्रवृत्ति को दर्शाने के लिए दृष्टव्य है -

मूल पाठ -

‘सरिसवया ते भंते ! भक्खेया अभक्खेया?’

‘सुया! सरिसवया भक्खेया वि अभक्खेया वि।’

से केणट्ठेणं भंते! एवं बुच्चइ सरिसवया भक्खेया वि अभक्खेया वि?

‘सुया ! सरिसवया दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-मित्तसरिसवया धन्नसरिसवया य। तत्थ णं जे ते मित्तसरिसवया ते तिविहा पण्णत्ता, तं जहा- सहजायया, सहवड्ढियया सहपंसुकीलियया। ते णं समणाणं निगंथाणं अभक्खेया।

तत्थं णं जे ते सत्थपरिणया ते दुविहा पन्नता, तं जहा-फासुगा य असफासुगा य। अफासुगा णं सुया! नो भक्खेया।

तत्थ णंजे ते फासुगा ते दुविहा पन्नत्ता, तं जहा जाइया य अजाइय। तत्थं णं ते अजाइया ते अभक्खेया। तत्थ णं जे ते जाइया ते दुविहा पण्णत्ता, तं जहा-एसणिज्जा य अणेसणिज्जा य। तत्थ णं जे ते अणेसणिज्जा ते णं अमक्खेया। तत्थ णं जेते एसणिज्जा ले दुविहा पन्नता, तं जहा-लद्धा य अलद्धाय। तत्थ णं ते अलद्धा ते अभक्खेया। तत्थ णं जे ते लद्धा ते निगंथाणं भक्खेया।

एएणं अट्ठेणं सुया! एवं बुच्चइ सरिसवया भक्खेया वि अभक्खेया वि।

शुक परिव्राजक ने प्रश्न किया - ‘भगवन्! आपके लिए ‘सरिसवया’ भक्ष्य हैं या अभक्ष्य हैं?’

थावच्चापुत्र ने उत्तर दिया- ‘हे शुक ! ‘सरिसवया’ हमारे लिए भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं।’

शुक ने पुनः प्रश्न किया- ‘भगवन्! किस अभिप्राय से ऐसा कहते हैं कि ‘सरिसवया (सूदश वय वाले मित्र) और धान्य-सरिसवया भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं?’

थावच्चापुत्र उत्तर देते हैं- ‘हे शुक ! ‘सरिसवया’ दो प्रकार के कहे गये हैं- मित्र-सरिसवया (सूदश वय वाले मित्र) और धान्य-सरिसवया (सरसों)। इनमें जो मित्र-सरिसवया हैं वे तीन प्रकार के हैं।

१. साथ जन्मे हुए, २. साथ बड़े हुए, ३. साथ-साथ धूल में खेले हुए। यह तीन प्रकार के मित्र-सरिसवया श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

जो धान्य-सरिसवया (सरसों) हैं, वे दो प्रकार हैं- शस्त्रपरिणत और अशस्त्रपरिणत। उनमें जो अशस्त्रपरिणत हैं अर्थात् जिनको अचित्त करने के लिए अग्नि आदि शस्त्रों का प्रयोग नहीं किया गया है, अतएव जो अचित्त नहीं है, वे श्रमण निर्ग्रन्थों के लिए अभक्ष्य हैं।

जो शस्त्रपरिणत हैं, वे दो प्रकार के हैं- प्रासुक और अप्रासुक। हे शुक ! अप्रासुक भक्ष्य नहीं है। उनमें जो प्रासुक हैं, वे दो प्रकार के हैं- याचित (याचना किये हुए) और अयाचित (नहीं याचना किये हुए)। उनमें जो अयाचित हैं, वे अभक्ष्य हैं। उनमें जो याचित हैं, वे दो प्रकार के हैं। यथा-एषणीय और अनेषणीय। उनमें जो अनेषणीय हैं, वे अभक्ष्य हैं।

जो एषणीय हैं, वे दो प्रकार के हैं- लब्ध (प्राप्त) और अलब्ध (अप्राप्त)। उनमें जो अलब्ध हैं, वे अभक्ष्य हैं। जो लब्ध हैं वे निर्ग्रन्थों के लिए भक्ष्य हैं।

‘हे शुक ! इस अभिप्राय से कहा है कि सरिसवया भक्ष्य भी हैं और अभक्ष्य भी हैं।

ज्ञाताधर्मकथा के उक्त दृष्टांत में यद्यपि श्रमण के भक्ष्य और अभक्ष्य का विवेचन किया गया है किन्तु विषय के आलोक में यहाँ यह विशेष रूप से कहा जा सकता है कि अभक्ष्य का त्याग अनावश्यक संग्रह एवं हिंसा के त्याग की भावना को व्यक्त करता है। यदि व्यक्ति संयमपूर्ण आहार को ग्रहण करता है तो एक ओर स्वास्थ्य और धर्म आराधना का पालन तो होता ही है, साथ ही साथ आर्थिक दृष्टि से वह भी अपने आप को समृद्ध करता है।

श्रावक शब्द - श्रा, व एवं क इन तीन शब्दों के योग से बनता है। जिसमें श्रा शब्द से = श्रद्धा, व शब्द से = विवेक तथा क शब्द से = क्रिया का अर्थ प्रदर्शित होता है। अतः श्रावक का अर्थ विवेकवान् विरक्तचित्त अणुव्रती अथवा गृहस्थ होता है। जैन परम्परा में श्रावक के तीन भेद- पाक्षिक (निजधर्म का पक्ष मात्र करने वाला), नैष्ठिक (व्रतधारी गृहस्थ जो प्रतिमाँ धारण करता है) तथा साधक (जो प्रतिक्षण अपनी साधना में लगा रहता है) प्राप्त होते हैं।

जैन परम्परा में श्रावक धर्म का प्रतिपादन करने वाले ग्रन्थों में रत्नकरण्डक श्रावकाचार अतिप्राचीन ग्रन्थ है। आचार्य वट्टकेर ने मूलाचार, शिवार्य ने भगवती आराधना नामक ग्रन्थ लिखकर श्रमणधर्म का प्रतिपादन किया वहीं पं. आशाधर जी ने सागार धर्माभूत एवं अनगारधर्माभूत नामक ग्रन्थों में दोनों धर्मों का प्रतिपादन किया। आचार्यवसुतिन्दि, अमितगत, जोइन्दु, सकलकीर्ति आदि आचार्यों ने श्रावकधर्म के ग्रन्थों की रचनाकर जैन साहित्य को समृद्ध किया। भगवान् महावीर ने जैनागमों में अगारधर्म बारह प्रकार का बतलाया है। श्रावक धर्म का प्रतिपादन आचार्य समन्तभद्र ने अपने ग्रन्थ रत्नकरण्ड श्रावकाचार में विस्तार से किया है। उन्होंने ७ अधिकारों-सम्यग्दर्शन अधिकार (७८ गाथाएं), सम्यग्ज्ञान अधिकार (१४ गाथाएं), अणुव्रत अधिकार (४१ गाथाएं), गुणव्रत अधिकार (२४ गाथाएं), शिक्षाव्रत अधिकार (४४ गाथाएं), सल्लेखना अधिकार (२० गाथाएं), सद्ब्रत अधिकार (१७ गाथाएं), एवं अन्य १२ गाथाएँ = कुल १५० गाथाओं में श्रावक धर्म का प्रतिपादन किया है। रत्नकरण्डकश्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने श्रावक के चरित्र को परिभाषित करते हुए लिखा है -

गृहीणां त्रेधा त्रिष्ठत्यणु-गुण-शिक्षा-वृतात्मकं चरणं।

पंच-त्रि-चतुर्भेदं त्रयं यथासंख्यामाख्यातम्॥५१॥ रत्नक.

अर्थात् श्रावक के तीन प्रकार का चरित्र होता है- पांच अणुव्रत, तीन गुणव्रत तथा चार शिक्षाव्रत। वे इस प्रकार हैं :-

पांच अणुव्रत इस प्रकार हैं -

१. अहिंसाणुव्रत - स्थूल- मोटे तौर पर, अपवाद रखते हुए प्राणातिपात से निवृत्त होना।
२. सत्याणुव्रत - स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना।
३. अचौर्याणुव्रत - स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना।
४. ब्रह्मचर्याणुव्रत - स्वदारसंतोष - अपनी परिणीता पत्नी तक मैथुन की सीमा करना।
५. अपरिग्रहाणुव्रत - इच्छा-परिग्रह की इच्छा का परिमाण या सीमाकरण करना।

तीन गुणव्रत इस प्रकार हैं :-

१. दिग्व्रत - विभिन्न दिशाओं में जाने के सम्बन्ध में मर्यादा या सीमाकरण।
२. अनर्थदण्ड विरमण- आत्मा के लिए अहितकर या आत्मगुणघातक निरर्थक प्रवृत्ति का त्याग।
३. उपभोग-परिभोग-परिमाण व्रत- उपभोग- जिन्हें अनेक बार भोगा जा सके, ऐसी वस्तुएँ- जैसे वस्त्र आदि तथा परिभोग जिन्हें एक ही बार भोगा जा सके- जैसे भोजन आदि, इनका परिमाण-सीमाकरण।

चार शिक्षाव्रत इस प्रकार हैं :-

१. सामायिक - समता या समत्वभाव की साधना के लिए एक नियत समय। (न्यूनतम) एक मूहूर्त-४८ मिनिट में किया जाने वाला अभ्यास।
२. देशावकाशिक - नित्य प्रति अपनी प्रवृत्तियों में निवृत्ति-भाव की बुद्धि का अभ्यास।
३. पोषधोपवास - यथाविधि आहार, अब्रह्मचर्य आदि का त्याग। तथा-
४. वैयावृत्य - गुणों में अनुराग से संयमी अथवा तपस्वी जनों के खेद को दूर करना वैयावृत्य है।

श्रावकव्रतों का वैशिष्ट्य -

आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डक श्रावकाचार में प्रत्येक व्रत के स्वरूप एवं फल पर विचार करते हैं। अणुव्रतों को धारण करने का फल बतलाते हुए कहते हैं-

पञ्चाणुव्रतनिधयो, निरतिक्रमणा फलन्ति सुरलोकं।

यत्रावधिरष्टगुणा, दिव्यशरीरं च लभ्यन्ते॥६३॥ रत्न.क.

आचार्य इस गाथा में अणुव्रत के धारण करने के चार फल दिखा रहे हैं। अर्थात् जो अणुव्रतों का निरतिचार पूर्वक पालन करता है, उसे १ देव पर्याय की प्राप्ति २ अवधिज्ञान की प्राप्ति ३ अष्ट-लब्धियों की प्राप्ति ४ दिव्य शरीर की प्राप्ति होती है। यह श्रावक के अणुव्रत धारण करने की ही फल है जो अणुव्रतों के वैशिष्ट्य को उजागर करता है।

अनर्थदण्ड विरमणव्रत :

अभ्यन्तरदिगवधेरपार्थकेभ्यः सपापयोगेभ्यः।

विरमणमनर्थदण्डव्रतं विदुर्व्रतधराग्रण्यः॥७४॥ रत्नक.

अर्थात् दिशाओं की मर्यादा के भीतर बिना प्रयोजन पापबन्ध के कारणभूत कार्यों से विरक्त होना ही अनर्थदंड विरमण व्रत है। उक्त गाथा में अप् एवं अर्थक शब्द को सन्धि करके अपार्थक शब्द का प्रयोग किया है, जिसका अर्थ है- निष्प्रयोजन। यही शब्द इस व्रत की भावना को व्यक्त करता है कि निष्प्रयोजन की गई पापरूप प्रवृत्ति का त्याग आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य है। जैन परम्परानुसार त्रियोग सम्पन्न अशुभ उपयोग रूप प्रवृत्ति ही दण्ड है, जिसका त्याग किया जाना व्रत की परिधि में आता है। यह जैन श्रावक व्रतों का ही वैशिष्ट्य है कि दण्ड के विधान का त्याग किया जाना एक व्रत की कोटि के अन्तर्गत समाहित है। इसीलिए आचार्य समन्तभद्र रत्नकरण्डश्रावकार में मुनिराज को अदण्डधर-अशुभ उपयोगरूप मन, वचन, काय की प्रवृत्ति करने से रहित, कहते हैं।

पापोदेशहिंसादानापध्यानदुःश्रुती पंच।

प्राहुः प्रमादचर्यानर्थदण्डधरा॥७५॥ रत्नक.

अर्थात् अशुभ-उपयोगरूप दण्ड को धारण नहीं करने वाले (अदण्डधरा) गणधरादिदेव ५ हेतुओं को अनर्थदण्ड कहते हैं। वे हैं- पापोदेश, हिंसादान, अपध्यान, दुःश्रुति, प्रमाद। इन्हें पांचों के संदर्भ में आचार्य विवेचन करते हुए इस प्रकार कहते हैं -

पापोदेश :- तिर्यज्चों को कष्ट देना, ठगना, हिंसा का बढ़ाने वाली कथाओं का प्रसंग उपस्थित करना पापोदेश है।

हिंसादान :- मनुष्य, तिर्यज्चों की हिंसा के साधन- फरसा, कृपाण, कुदारी, बन्दूक, तोप आदि अस्त्र-शस्त्र, सांकल आदि का देना हिंसा दान है। (रत्नक. ७६)

अपध्यान :- राग-द्वेष से परस्त्री तथा परपुत्रादिकों के मारण, बन्धन, छेदन आदि हो जाये, ऐसा चिन्तन करना अपध्यान है। (रत्नक. ७७)

दुःश्रुति :- आरम्भ, परिग्रह, साहस, मिथ्यात्व, राग-द्वेष, अहंकार, इन्द्रिय-विषय-वासना से मन को संक्लेशित करने वाले शास्त्रों का श्रवण दुःश्रुति है। (रत्नक. ७९)

प्रमाद :- निष्प्रयोजन पृथ्वी को कुरेदना, जल को छींटना या उछालना, अग्नि जलाना-बुझाना, वायु या पंखा झलना तथा वनस्पति छेदना आदि आरम्भपूर्ण क्रियाएँ करना प्रमाद है। (र.क.८०)

रत्नकरडक श्रावकाचार में व्रतों के वैशिष्ट्य को उजागर करने में आचार्य समन्तभद्र की दृष्टि और भी स्पष्ट दिखाई देती है, जब वे अणुव्रतों का पालन करने वालों की कथाओं के माध्यम से दृष्टान्त देते हैं। उन्होंने अहिंसाणुव्रत का पालन करने वाले यमपाल नामक चाण्डाल की कथा, सत्याणुव्रत का पालन करने वाले धनदेव की कथा, अचौर्याणुव्रत का पालन करने वाले राजकुमार वारिषेण की कथा ब्रह्मचर्याणुव्रत का पालन करने वाली नीली वणिक पुत्री की कथा और परिग्रह परिमाणव्रत का पालन करने वाले जय राजा, जो उत्तम-पूजातिशय को प्राप्त हुए, की कथा देकर अणुव्रतों के वैशिष्ट्य को उद्धृत किया है। इसी

क्रम में अतीचार पूर्वक क्रमशः हिंसा आदि पांच पापों में संलग्न धनश्री की कथा, सत्यघोष पुरोहित की कथा, वत्स्य देश के एक तपस्वी की कथा, यमदण्ड कोतवाल की कथा तथा श्मश्रुनवनीत वणिक की कथा के माध्यम से भी श्रावक व्रतों का वैशिष्ट्य उजागर हुआ है।

रत्नकरण्डक श्रावकाचार में आचार्य समन्तभद्र ने द्वादशव्रतों का विवेचन, उसके लक्षण, फल, अतीचार तथा उनके पालन करने वालों की कथाओं को उद्धृत करते हुए, किया है। व्रतों के उक्त वैशिष्ट्य के साथ-साथ आधुनिक सामाजिक दृष्टि से भी इनका महत्वपूर्ण स्थान व वैशिष्ट्य उजागर होता है। अतः जैनदर्शन के संदर्भ में श्रावक के व्रतों की व्यवस्था में निम्नांकित बिन्दुओं को रेखांकित किया जा सकता है।

१. अहिंसा की व्यावहारिकता
२. श्रम की प्रतिष्ठा
३. दृष्टि की सूक्ष्मता
४. आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन
५. साधन-शुद्धि पर बल
६. अर्जन का विसर्जन

१. अहिंसा की व्यावहारिकता -

अहिंसा के संदर्भ में आचार्य पूज्यपाद स्वामी ने कहा है -

अप्रादुर्भावः खलु रागादीनां भवत्यहिंसेति।

तेषामेवोत्पत्तिहिंसेति जिनागमस्य संक्षेपः॥४४॥ पुरुषार्थसिद्ध्युपाय

अर्थात् जहाँ रागादि भावों का अभाव होगा, वहीं अहिंसा का प्रादुर्भाव हो सकता है- महावीर ने समता के साध्य को प्राप्त करने के लिए अहिंसा को साधन रूप बताया है। अहिंसा मात्र नकारात्मक शब्द नहीं है, बल्कि इसके विविध रूपों में सर्वाधिक महत्व सामाजिक होता है। वैभवसंपन्नता, दानशीलता, व्यावसायिक कुशलता, ईमानदारी, विश्वसनीयता प्रामाणिकता जैसे विभिन्न अर्थ प्रधान क्षेत्रों में अहिंसा की व्यावहारिकता को अपनाकर श्रेष्ठता का मापदण्ड सिद्ध किया जा सकता है। अहिंसा की मूल भावना यह होती है कि अपने स्वार्थों, अपनी आवश्यकताओं को उसी सीमा तक बढ़ाओ, जहाँ तक वे किसी प्राणी के हितों को चोट नहीं पहुँचाती हों। अतः अहिंसा व्यक्ति-संयम भी है और सामाजिक-संयम भी।

२. श्रम की प्रतिष्ठा -

साधना के क्षेत्र में श्रम की भावना सामाजिक स्तर पर समाधृत हुई। इसीलिए महावीर ने कर्मणा श्रम की व्यवस्था को प्रतिष्ठापित करते हुए कि व्यक्ति कर्म से ही ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र बनता है^{१६} उन्होंने जन्मना जाति के स्थान पर कर्मणा जाति को मान्यता देकर श्रम के सामाजिक स्तर को उजागर किया, जहाँ से श्रम अर्थ-व्यवस्था से जुड़ा और कृषि, गोपालन, वाणिज्य आदि की प्रतिष्ठा बढ़ी।

जैन मान्यतानुसार सभ्यता की प्रारम्भिक अवस्था में जब कल्पवृक्षादि साधनों से आवश्यकताओं की पूर्ति होना संभव न रहा, तब भगवान् ने असि और कृषि रूप जीविकोपार्जन

की कला विकसित की और समाज की स्थापना में प्रकृति-निर्भरता से श्रम-जन्य-आत्म-निर्भरता के सूत्र दिए। यही श्रमजन्य आत्मनिर्भरता जैन परम्परा में आत्म-पुरुषार्थ और आत्म-पराक्रम के रूप में फलित हुई है। अतः साधना के क्षेत्र में श्रम एवं पुरुषार्थ की विशेष प्रतिष्ठा है। यही कारण है कि व्यक्ति श्रम से परमात्म दशा प्राप्त कर लेता है। उपासकदशांगसूत्र में भगवान् महावीर और कुम्भकार सद्दालपुत्र का जो संसार वर्णित है, उससे स्पष्ट होता है कि गोशालक का आजीवक मत नियतिवाद है तथा भगवान् महावीर का मत श्रमनिष्ठ आत्म-पुरुषार्थ और आत्मपराक्रम को ही अपना उन्नति का केन्द्र बनाता है।

३. दृष्टि की सूक्ष्मता -

धर्म के तीन लक्षण माने गये हैं- अहिंसा, संयम और तप। ये तीनों दुःख के स्थूल कारण पर न जाकर दुःख के सूक्ष्म कारण पर चोट करते हैं। मेरे दुःख का कारण कोई दूसरा नहीं, स्वयं मैं ही हूँ। अतः दूसरे को चोट पहुंचाने की बात न सोचूँ- यह अहिंसा है। मिती मे सव्वभूएसु^९ इसे सार्वजनिक बनाना होगा। अपने को अनुशासित करूँ- यह संयम है। अतः दुःखों से उद्बलित होकर अविचारपूर्वक होने वाली प्रतिक्रिया न करूँ- इसे परीहजय भी कहते हैं तथा दुःख के प्रति हमारी प्रवृत्ति समरूप रहे। अपने आपको प्रतिकूल परिस्थितियों की दासता से मुक्त बनाये रखें और सब प्रकार की परिस्थितियों में अपना समभाव बना रहे, क्योंकि समया धम्ममुदाहरे मुणी अर्थात् अनुकूलता में प्रफुल्लित न होना और प्रतिकूलता में विचलित न होना समता है। ऐसी सूक्ष्म दृष्टि रखने पर सामाजिक प्रवृत्ति समतापूर्वक की जा सकती है।

४. आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन -

आधुनिक समाज की रचना श्रम पर आधारित होते हुए भी संघर्ष और असंतुलन पूर्ण हो गयी है। जीवन में श्रम की प्रतिष्ठा होने पर जीवन-निर्वाह की आवश्यक वस्तुओं का उत्पाद और विनियम प्रारंभ हुआ। अर्थ-लोभ ने पूंजी को बढ़ावा दिया। फलतः औद्योगीकरण, यंत्रवाद, यातायात, दूरसंचार तथा अत्याधुनिक भौतिकवाद के हावी हो जाने से उत्पादन और वितरण में असंतुलन पैदा हो गया। समाज की रचना में एक वर्ग ऐसा बन गया, जिसके पास आवश्यकता से अधिक पूंजी और भौतिक संसाधन जमा हो गये तथा दूसरा वर्ग ऐसा बना, जो जीवन-निर्वाह की आवश्यकता को भी पूरी करने में असमर्थ रहा। फलस्वरूप श्रम के शोषण से बड़े वर्ग-संघर्ष की मुख्य समस्या ने अन्तर्राष्ट्रीय समस्या का रूप ले लिया।

इस समस्या के समाधान में समाजवाद, साम्यवाद जैसी कई विचारधाराएँ आयीं, किन्तु सबकी अपनी-अपनी सीमाएँ हैं। भगवान् महावीर ने आज के लगभग २५०० वर्ष पूर्व इस समस्या के समाधान के कुछ सूत्र दिए, जो अर्थ-प्रधान होते हुए भी जैन धर्म के साधना-सूत्र कहे जा सकते हैं। महावीर ने श्रावकवर्ग की आवश्यकताओं एवं उपयोग का चिंतन कर हर क्षेत्र में मर्यादा एवं परिसीमन पूर्वक आचरण करने के लिए बारह व्रतों का विधान किया है। इनके पालने से दैनिक जीवन में आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन हो जाता है। परिसीमन के निम्न सूत्र हैं :-

(क) इच्छा परिमाण -

महावीर के अपरिग्रह का सिद्धान्त देकर आवश्यकताओं को मर्यादित कर दिया। सिद्धान्तानुसार समतावादी समाज रचना में यह आवश्यक हो गया कि आवश्यकता से अधिक वस्तुओं का संचय न करें। मनुष्य की इच्छाएं आकाश के समान अनन्त हैं^{१०} और लाभ के साथ ही लोभ के प्रति आसक्ति बढ़ती जाती है, क्योंकि चांदी-सोने के कैलाश पर्वत भी व्यक्ति को प्राप्त जाएं, तब भी उसकी इच्छा पूरी नहीं हो सकती।^{११} अतः इच्छा का नियमन आवश्यक है। इस दृष्टि से श्रावकों के लिए परिग्रह-परिमाण या इच्छा परिमाण व्रत की व्यवस्था की गयी है। अतः मर्यादा से व्यक्ति अनावश्यक संग्रह और शोषण की प्रवृत्ति से बचता है। सांसारिक पदार्थों का परिसीमन जीवन-निर्वाह को ध्यान में रखते हुए किया गया है, वे हैं- १. क्षेत्र (खेत आदि भूमि), २. हिरण्य (चाँदी), ३. वास्तु (निवास योग्य स्थान), ४. शयनासन, ५. धन (अन्य मूल्यवान पदार्थ) (ढले हुए या घी, गुड़ आदि), ६. धान्य (गेहूँ, चावल, तिल आदि), ७. द्विपद (दो पैर वाले), ८. चतुष्पद (चार पैर वाले), ९. कुप्य (वस्त्र, पात्र, औषधि आदि) १०. भाण्ड (पीतल, तांबा, कांसा, लोहा, कांच, प्लास्टिक आदि)।^{१२}

(ख) दिक्परिमाण व्रत -

भगवान् महावीर का दूसरा सूत्र है- दिक्परिमाणव्रत। विभिन्न दिशाओं में आने-जाने के सम्बन्ध में मर्यादा या निश्चय करना कि अमुक दिशा में इतनी दूरी से अधिक नहीं जाऊँगा।^{१३} इस प्रकार की मर्यादा से वृत्तियों के संकोच के साथ-साथ मन की चंचलता समाप्त होती है तथा अनावश्यक लाभ अथवा संग्रह के अवसरों पर स्वैच्छिक रोक लगती है। क्षेत्र सीमा का अतिक्रमण करना अन्तर्राष्ट्रीय कानून की दृष्टि में अपराध माना जाता है। अतः इस व्रत के पालन करने से दूसरे के अधिकार क्षेत्र में उपनिवेश बसा कर लाभ कमाने की या शोषण करने की वृत्ति से बचाव होता है। इस प्रकार के व्रतों से हम अपनी आवश्यकताओं का स्वैच्छिक परिसीमन कर समतावादी समाज-रचना में सहयोग कर सकते हैं।

(ग) उपभोग-परिभोग परिमाण व्रत -

दिक्परिमाणव्रत के द्वारा मर्यादित क्षेत्र के बाहर तथा वहां की वस्तुओं से निवृत्ति हो जाती है, किन्तु मर्यादित क्षेत्र के अन्दर और वहाँ की वस्तुओं के उपभोग (एक बार उपभोग), परिभोग (बार-बार उपभोग) में भी अनावश्यक लाभ और संग्रह की वृत्ति न हो, इसके लिए इस व्रत का विधान है। जैन आगम में वर्णित इस व्रत की मर्यादा का उद्देश्य यही है कि व्यक्ति का जीवन सादगीपूर्ण हो और वह स्वयं जीवित रहने के साथ-साथ दूसरों को भी जीवित रहने के अवसर और साधन प्रदान कर सकें। व्यर्थ के संग्रह और लोभ से निवृत्ति के लिए इन व्रतों का विशेष महत्व है।

(घ) देशावकाशिक व्रत -

दिक्परिमाण एवं उपभोग-परिभोग परिमाण के साथ-साथ देशावकाशिक व्रत का भी विधान श्रावक के लिए किया गया है, जिसके अंतर्गत दिन-प्रतिदिन उपभोग-परिभोग एवं दिक्परिमाण व्रत का और भी अधिक परिसीमन करने का उल्लेख किया गया है अर्थात् एक दिन-रात के लिए

उस मर्यादा को कभी घटा देना, आवागमन के क्षेत्र एवं भोगोपभोग्य पदार्थों की मर्यादा कम कर देना, इस व्रत की व्यवस्था में है। श्रावक के लिए देशावकाशिक व्रत में १४ विषयों का चिंतन कर प्रतिदिन के नियमों में मर्यादा का परिसीमन किया गया है। वे चौदह विषय हैं :-

सचित्त दब्ध विग्गई, पन्नी, ताम्बूल वत्थ कुसुमेसु।

वाहक सयल विलेवण, बम्भ दिसि नाहण भत्तेसु॥१३

इन नियमों से व्रत विषयक जो मर्यादा रखी जाती है, उसका संकोच होता है और आवश्यकताएं उत्तरोत्तर सीमित होती हैं।

५. साधन-शुद्धि पर बल -

जैनदर्शन में साधन-शुद्धि पर विशेष बल इसलिए दिया गया है कि उससे व्यक्ति का चरित्र प्रभावित होता है। बुरे साधनों से एकत्रित किया हुआ धन अन्ततः व्यक्ति को दुर्व्यसनों की ओर ले जाता है और उसके पतन का कारण बनता है। तप के बारह प्रकारों में अनशन, ऊनोदरी, भिक्षाचर्या और रस परित्याग भोजन से ही संबन्धित है। इसीलिए खाद्य शुद्धि-संयम प्रकारान्तर से साधन-शुद्धि के ही रूप बनते हैं।

अहिंसा की व्यावहारिकता की तरह ही सत्याणुव्रत एवं अस्तेयाणुव्रत का साधन-शुद्धि के संदर्भ में महत्व है। ये विभिन्न व्रत साधन की पवित्रता के ही प्रेरक और रक्षक हैं। अपनी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए अर्थार्जन करने में व्यक्ति को स्थूल हितों से बचना चाहिए। सत्याणुव्रत में सत्य के रक्षण और असत्य से बचाव पर बल दिया गया। व्यक्ति अपने स्वार्थ के लिए, कन्नालाए (कन्या के विषय में), गवालीए (गौ के विषय में), भोमालिए (भूमि के विषय में), णासावहारे (अर्थात् धरोहर के विषय में झूठ न बोलें), तथा दूडसक्खिजे (झूठी साक्षी न दें) इनका उपयोग व उपभोग न करें। अर्थ की दृष्टि से सत्याणुव्रत का पालन कोर्ट-कचहरी में झूठे दस्तावेजों में भ्रष्टाचार एवं रिश्वतखोरी में नहीं हो पाता, क्योंकि इन सभी क्षेत्रों में अर्थ की प्रधानता होने से असत्य का आश्रय लिया जाता है, जिससे समाज के मूल्य ध्वस्त हो जाते हैं। इसीलिए सत्याणुव्रत समाज-रचना का आधार बन सकता है।

अस्तेय व्रत की परिपालना का भी साधन-शुद्धता की दृष्टि से विशेष महत्व है। मन, वचन और काय द्वारा दूसरों के हकों को स्वयं हरण करना और दूसरों से हरण करवाना चोरी है। आज चोरी के साधन स्थूल से सूक्ष्म बनते जा रहे हैं। खाद्य वस्तुओं में मिलावट करना, झूठा जमा-खर्च बताना, जमाखोरी द्वारा वस्तुओं की कीमत घटा या बढ़ा देना, ये सभी कर्म चोरी के हैं। इन सभी सूक्ष्म तरीकों की चौर्यवृत्ति के कारण ही मुद्रा-स्फीति का इतना प्रसार है और विश्व की अर्थव्यवस्था उससे प्रभावित हो रही है। अतः अर्थ व्यवस्था संतुलन के लिए आजीविका के जितने भी साधन हैं और पूंजी के जितने भी स्रोत हैं उनका और पवित्र होना आवश्यक है, तभी हम समतावादी समाज का निर्माण कर सकते हैं।

इसी संदर्भ में भगवान् महावीर ने आजीविकोपार्जन के उन कार्यों का निषेध किया है, जिनसे पापवृत्ति बढ़ती है। वे कार्य कर्मादान कहे गये हैं। अतः साधन-शुद्धि के अभाव में इन

कर्मादानों को लोक में निन्द्य बताया गया है। इनको करने से सामाजिक प्रतिष्ठा भी समाप्त होती है। कुछ कर्मादान हैं, जैसे -

१. इंगालकर्म (जंगल जलाना)।
२. रसवाणिज्जे (शराब आदि मादक पदार्थों का व्यापार करना)।
३. विसवाणिज्ज (अफीम आदि का व्यापार)।
४. केसवाणिज्जे (सुन्दर केशों वाली स्त्रियों का क्रय-विक्रय)।
५. दवग्गिदावणियाकमेन (वन जलाना)
६. असईजणणेसाणयाकम्मे (असामाजिक तत्त्वों का पोषण करना आदि)।

६. अर्जन का विसर्जन -

अर्जन का विसर्जन नामक सिद्धान्त को जैनदर्शन में स्वीकार्य दान एवं त्याग तथा संविभाग के साथ जोड़ सकते हैं। महावीर ने अर्जन के साथ-साथ विसर्जन की बता कही। अर्जन का विसर्जन तभी हो सकता है, जब हम अपनी आवश्यकताओं को नियंत्रित एवं मर्यादित कर लेते हैं। उपासकदशांग सूत्र में दस आदर्श श्रावकों का वर्णन है, जिसमें आनन्द, मन्दिनीपिता और सालिहीपिता की संपत्ति का विस्तृत वर्णन आता है। इससे यह स्पष्ट है कि महावीर ने कभी गरीबी का समर्थन नहीं किया। उनका प्रहार या चिंतन धन के प्रति रही हुई मूर्च्छावृत्ति पर है। वे व्यक्ति को निष्क्रिय या अकर्मण्य बनने को नहीं कहते, पर उनका बल अर्जित संपत्ति को दूसरों में बांटने पर है। उनका स्पष्ट उद्घोष है- असंविभागी ण हु तस्स मोक्खो अर्थात् जो अपने प्राप्त को दूसरों में बांटता नहीं है, उसकी मुक्ति नहीं होती। अर्जन के विसर्जन का यह भाव उदार और संवेदनशील व्यक्ति हृदय में ही जागृत हो सकता है।

संदर्भ :-

१. समियाए धम्मे आरिण्हिं पवेदिते - आचारांगसूत्र, ५/३/४५
२. मूलाचार ७/५२१
३. प्रवचनसार १/८४
४. मोहक्खोहविहीणो परिमाणे अप्पणो हु समो। - प्रवचनसार १/७
५. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ७२
६. उत्तराध्ययनसूत्र २५/३३ ७. समणसुतं- ८६ ८. दशवैकालिक १/१ ९. उत्तराध्ययनसूत्र ९/४८
१०. उत्तराध्ययनसूत्र ९/४८ ११. (क) तत्त्वार्थसूत्र, ७-२९ (ख) रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ६८
१२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार, ६८
१३. सचित्तवस्तु, २. द्रव्य, ३. विगय, ४. जूते, ५. पान, ६. वस्त्र, ७. पुष्प, ८. वाहन, ९. शयन, १०. विलेपन, ११. ब्रह्मचर्य, १२. दिशा, १३. स्नान, १४. भोजन।

- अध्यक्ष एवं एसोसियट प्रोफेसर, जैनविद्या एवं प्राकृत विभाग,
मोहनलाल सुखड़िया विश्वविद्यालय, उदयपुर-३१३००१ (राजस्थान)

वीर सेवा मंदिर द्वारा प्रकाशित ग्रन्थ

क्र.	प्रस्तक ग्रंथ का नाम	लेखक / टीकाकार का नाम	प्रकाशन	मूल्य
१.	उपासना तत्त्व तथा उपासना का ढंग	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा ट्रस्ट	५/-
२.	जैन लक्षणावलि भाग २ - ३	पं. बालचंद सिद्धांत चक्रवर्ती	वीर सेवा मन्दिर	१५००/- प्रति सेट
३.	युगवीर निबंधावली प्रथम खण्ड	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा मन्दिर	२१०/-
४.	जैन ग्रंथ प्रशसित संग्रह भाग २	प्रं परमानन्द शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर	१५०/-
५.	मेरी भावना अग्रंजी सहित	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा मन्दिर	५/-
६.	महावीर जिन पूजा	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा मन्दिर	१०/-
७.	स्तुति विद्या	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा मन्दिर	७०/-
८.	श्रीपुर पार्श्वनाथ स्तोत्र	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा मन्दिर	२०/-
९.	समन्तभद्र विचार दीपिका	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा मन्दिर	३०/-
१०.	ध्यान शतक तथा ध्यानस्तव	बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री	वीर सेवा मन्दिर	१००/-
११.	दिगम्बरत्व की खोज	डॉ. रमेश चंद जैन	वीर सेवा मन्दिर	१००/-
१२.	परम दिगम्बर गोम्पटेश्वर	नीरज जैन, सतना	वीर सेवा मन्दिर	७५/-
१३.	निष्कम्प दीप शिखा	पं. पुचंद शास्त्री	वीर सेवा मन्दिर	१२०/-
१४.	हम दुःखी क्यों हैं	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा मन्दिर	१०/-
१५.	समयपाहुड	रूपचन्द कटारिया	वीर सेवा मन्दिर	स्वाध्याय
१६.	वारसाणुवेक्खा	आचार्य कुन्द कुन्द (संकलित)	वीर सेवा मन्दिर	स्वाध्याय
१७.	महावीर का सर्वोदय तीर्थ	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा मन्दिर	१०/-
१८.	तत्त्वानुशासन	आचार्य रामसेन	वीर सेवा मन्दिर	१००/-
१९.	समीचीन धर्मशास्त्र	पं. जुगल किशोर जी मुख्तार	वीर सेवा मन्दिर	१५०/-
२०.	अनेकान्त त्रैमासिक शोध पत्रिका	डॉ. जयकुमार जैन	वीर सेवा मन्दिर	८०/- वार्षिक
21.	Pure Thoughts	Acharya Amitgati	Vir sewa Mandir	50/-
22.	Basic Tenets of Jainism	Shri Dashrath Jain	Vir sewa Mandir	10/-
23.	Jain Bibliography I & II	Chhotelal Jain	Vir sewa Mandir	1600/- प्रति सेट

 **नोट:** क्रय की जाने वाली पुस्तकों पर 30 प्रतिशत छूट देने का प्रावधान है।

We are banking with BANK OF INDIA, ANSARI ROAD BRANCH, NEW DELHI vide Bank a/c 603210100007664.

Anekanta and Interculturality

- Samani Dr. Chaitya Prajna

When the angel of truth moved to the earth, all the faiths and culture wanted to possess it. Subsequently it was divided into many parts resulting in parts of truth as a possession of each faith or a culture. Thus there remain differences between cultures, but differences have produced such a deep exclusive outlook between the cultures that it leads to clashes between themselves. The doctrine of anekanta can open the doors of inclusive philosophy out through the faultlines of different cultures and make interculturality possible.

The Present essay is a honest endeavor to discuss the role of anekanta in promotion of interculturality and religious harmony. The essay is divided into three sections; A, B and C. In part-A, I have discussed the problem of religio-cultural conflict and its causes in terms Huntington, and Part-B explains about what basically interculturality is ? and how it can solve cultural conflict? and the third and the last section C is dedicated to the role that anekanta can play propagate interculturality.

PART-A

Conflict arises in the presence of 'Other'. There can be of three types of the 'Other'-in- the context of religion and culture. firstly, the other of religion, secondly, the other-in-religion and lastly, the religious-other. The other-of-religion or culture refers to the science and scientific development, which seems contrary to the religion having basic opposition related to faith.

The religion is based on faith where as in science faith has no place. This 'Other' of religion is not so dangerous. In fact many a times they work symbiotically as lame and blind. The second other in the context of religion and culture is the other-in-religion. It refers to the highest or the purest form within the religion say 'God'. The other-in-religion is also not cause of violence as it is the aim of religious aspirant. The biggest problem in the present scenario is the third form of other, i.e., the religious-other. The religious-other refers to feeling of hatred and intolerance between one religion and the other.

History is the witness that this religious intolerance has been the cause of unlimited cruelty and bloodsheds. Francis Fukuyama's idea that history came to an end with the victory of liberal capitalism in the cold war may have defined 1990s, the decade when America was unilaterally powerful would sweep all before it. But the theories of Harvard political scientist Samuel Huntington (who began his career in 1950s and has just died in the age 81) argued that following the cold war, violent conflict would take place not between ideologies or nation-states or groups defined by material interest, but between cultures and civilizations.¹

Every religion teaches to love and no religion teaches to kill and yet thousands of lives were taken in the name of religion over an issue of no rational importance. Below mentioned are some reasons creating and developing communal outlook, religious intolerance and narrow mindedness : (i) Jealousy, (ii) Desire for fame (iii) So called ideological differences, (iv) Difference in perception of behaviour pattern (v) Humiliation or degradation inflicted by some previous sect or person.²

According to Samuel P. Huntington it is clash of civilization; In his book- *The Clash of Civilization and Remaking of World Order*, Huntington remarked "In the emerging era, clashes of civilization are the greatest threat to world peace..."³ He spoke of several cultural zones and said that cultures are predominantly

religious. There are fault lines before each cultural zone. These Faultlines segregates one culture from another. One cannot cross from one culture to another.⁴ The faultline become a danger point. Historically some day this difference should go and world become one, other wise conflict will arise. Many of the scholars today as Huntington are of the opinion that these traditional culture zones are there, they will be there, they have survived, they will be living unless you create a hatred for others, Huntington's faultlines can be retermed as exclusive outlook that dominates the religious (cultural) other.

According to Rhonty-there is a question of cultural identity. They remain segregated from other for this identity. Cultural conflict is not a easy problem. It is gone deep in human society and becoming complex day by day. In such a situation the phenomenon of interculturality holds utmost importance.

PART-B

Interculturality is a multi-faceted phenomenon. In a metalinguistic discussion, it functions as a construct. In the field of purely formal disciplines, it stands for internationalism of scientific and formal categories. The concept of interculturality in the present context stands for a mental and a moral category. It is not to be identified with culturality of a particular culture, and it is not an eclecticism of manifold of cultures. It is also not to be equated with mere abstraction. We cannot fix the nature of Intercultural philosophy just as per delination, likewise it is also wrong to misread interultural philosophy as just a matter of aesthetization. It must not be confused with cultural romanticism and exoticism in its positive import.

Intercultural philosophy is a name of philosophical conviction, an attitude, an insight that asserts the 'no philosophy is' 'The philosophy', no culture is 'The culture' no truth is 'The truth'⁵. Such an insight accompanies all the philosophies and cultures

and prevents them from absolutising themselves and promotes inclusive outlook towards others. Thus interculturality plays an important role to combat the current problem of religious-cultural exclusiveness. The question still remains is how is interculturality possible ?

PART-C

Application of Anekanta in religious sphere will mean to understand and assimilate all religious view points. Anekant can be utilized beneficially acts as a tool in the field of religious tolerance to create communal harmony which is the real secularism. Different teachers of different religions developed different methods all around the world during different time. But due to pre-conceived misconceptions and mental buildup towards their teachers and their own egos compelled the followers to believe their "ism" to be only as the last and final and complete truth, which resulted in the unwanted communal enmity between different sects. It would not be impertinent here to mention the Shri Ram Janmabhumi and Babari Masjid conflict. It is horrifying illustration of overriding fanaticism. Today religious leaders are so dogmatic in their views that they are not in a position to give respect to a other's views. They assert that salvation lies in their particular community, only⁶.

Jaina theory of non-absolutism on the otherhand provides a room of respect for other philosophies and cultures which differ from it in principles and practices because the theory anekanta holds that truth is multifaceted and the truth claims of other cultures and philosophy though different are equally true. The Jaina objection to their approach is only when they proclaim their own school, faith or doctrine as the only way to understand reality. But the method of opposition confined to academic debate, argumentative method and that of dialogue.⁷ which is true way of promotion of interculturality.

Dialogue is an ancient Indian method of learning and increasing one's treasure of knowledge as it is quite often said "*vade vade jayate tattvabodhah*". In fact it was the symbol of scholars. When we follow, for example, the cultural and the religious encounters of the Indian subcontinent in the past, we find different patterns of encounter. When the Aryans came from central Asia to India, they met the old culture of Dravidian people. They suppressed the original Indian culture, but they did not extinguish it. The caste system can be traced back to this encounter. The Hindu culture as such is a mixture of Aryans and Non-Aryan elements. In spite of many difficulties, India has always experimented with multiculturalism guided by the Rig Vedic dictum of one Truth having different names.⁸ In fact in the Jain history of twentifive centuries or more than that, we fail to find a single reference for "Jain Crusade" or "Jihad" in spite of many rulers who followed Jainism⁹ Rather we notice help and protecion assured by these rulers for the followers of other religons and cultures. So it can be admitted with clarity and certainty says S.R. Vyasa: that the respectable place offered by Jainism to other religions or school and their truths is most high in comparison to the place given by other religions and schools to Jainism.¹⁰ This is possible for Jainism only because of its anekatika outlook.

The Goodness of the doctrine of anekanta does not lie in its proclamation of superiority but providing room for others. Changing Ram into Rahman Rahman into Richard and Richard into Rajjinder, Ramatyayan or Remjipongo will be futile in every sense because man is freedon lover and the follower of himself. The advice of anekanta is to understand other's point of view without enmity and degradation¹¹ is not only timely but also useful and purposive for everyone who believes in Jainism or not. But it is needed from all the corners of the world and expected from all those who claim themselves civilized, scientific and masters of future. It is this inclusive nature philosophy that can make mutual understanding possible.

Today's global intercultural context has made possible free discussion among religion and culture. It attempts to overcome contingency, asymmetry of placing one culture to a monolithic position for the sake of equality and hoping to contribute to a common global discourse and conversation of humankind that extends beyond the narrow limits of the east-west dichotomy. Thus cultures and philosophies may be viewed reciprocally as no culture is the perfect culture for the whole of humankind. In *Sutrakrtanga*, it is said "those who praise their own faiths and ideologies and blame those of their opponents and thus distort the truth with remain confined to the cycle of birth and death."¹²

All cultures cannot be brought under the one framework by making one as a paradigm. Doing so would be case of absolutism. Jain Philosophy of *anekanta* emphatically say that truth is multi-dimensional and it can be correctly known by having a non-absolutistic view point. Thus *anekantvada* theory approves pluralism, diversity and difference as values. All these differences have their own relative importance. In this era of cultural crisis, this theory becomes more relevant because cultures want to be free from the bond of universalism. The most recent address by the spiritual leader Dalai Lama is, "We are seeking political freedom to preserve our culture and environment and are opposed to cultural genocide".¹³ For the preservation of each and every culture *anekanta* must be applied by developing an inclusive outlook towards the other religion or cultures.

Thus it is concluded that The problem of "other" whether it is religious, cultural or national is most dangerous on the face of humanity today. Until an inclusive outlook and interculturality not developed, the global harmony is impossible. The Jain theory of *anekanta* through ages has been exhibiting an inclusive outlook as proves the Jain History and literature. In the present it holds its utmost importance in the promotion of interculturality as it asserts that difference does not necessarily mean distance and unity does not necessarily mean uniformity. It works with the eternal

law of unity with differences. Anekanta is the practical application of the law of interculturality that states " *we meet to differ and differ to meet*".

Reference :

- i. Swagato Ganguli, Bad will Huntington : Times of India, Dec.30, 2008 P.10
- ii. SaubhaLgyamal Sagarmal Jain, Anekanta Ki JAvan Dnn, i, P.25
- iii. Samuel P. Huntington Clash of Civilization and Remarking of World Order, Viking, 1997, P.321
- iv. Samuel P. Huntington Clash of Civilization and Remarking of World Order, Penguin, 1996, p.206-7
- v. Ram M. Pal, The Intercultural Philosophy.
- vi. Mamemkam saranam vraja
- vii. S. R. Vyas, The spritsof Indian and western Philosophy, Ed by R. Murali, Sandeep Prakashan, New Delhi, 2006, P.35
- viii. Regveda, I. 164.46
- ix. M. Mehata, Jain History and culture, p.252
- x. S. R. Vyas, The spirit of Indian and western Philosophy p.35
- xi. Acaranga Sutra p.139
- xii. Sutrakritanga, 1/1, 2/23.
- xiii. Times of India, New Delhi, Nov.25th Dec. 2006, p.6.

- Asstt Professor,
Jain Vishva Bharati University,
Ladnun (Raj)
Ladnun (Raj)

जैनदर्शन : मन का स्वरूप

- पवन कुमार जैन

जहाँ भी ज्ञान मीमांसा की चर्चा होती है, वहाँ मन की भी चर्चा होती है, क्योंकि इन्द्रिय और मन के सहयोग से ही ज्ञेय को जानकर हम ज्ञान करते हैं। अतः सभी दर्शनों ने किसी न किसी रूप में मन के अस्तित्व को स्वीकार किया है तथा उसका स्वरूप निरूपित किया है।

मन का अस्तित्व :

न्याय सूत्रकार का मन्तव्य है कि एक साथ अनेक ज्ञान उत्पन्न नहीं होते। इस अनुमान से वे मन की सत्ता स्वीकार करते हैं।^१ वात्स्यायन के अनुसार स्मृति आदि ज्ञान बाह्य इन्द्रियों से उत्पन्न नहीं होता है और विभिन्न इन्द्रिय तथा उसके विषयों के रहते हुए भी एक साथ सबका ज्ञान नहीं होता, इससे मन का अस्तित्व अपने आप सिद्ध हो जाता है।^२ अन्नम्भट्ट के मतानुसार सुख आदि की प्रत्यक्ष उपलब्धि का साधन मन को माना गया है।^३ जैनदर्शन के अनुसार संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ज्ञान, वितर्क, सुख, दुःख, क्षमा, इच्छा आदि मन के अनेक लिंग हैं।^४ उपर्युक्त प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि परोक्ष ज्ञान का इन्द्रियों के अलावा अन्य दूसरा साधन भी होना चाहिए जिससे कि ज्ञान होता है और वह दूसरा साधन मन ही है।

मन का स्वरूप :

मनन करना मन है अर्थात् जिसके द्वारा मनन किया जाता है वह मन है। मनोयोग्य मनोवर्गणा से गृहीत अनन्त पुद्गलों से निर्मित मन द्रव्य मन है। द्रव्य मन के सहारे जो चिन्तन किया जाता है, वह भावमन (आत्मा) है।^५ धवला के अनुसार जो भी भली प्रकार से (ईहा, अवाय, धारणा, स्मृति, प्रत्यभिज्ञान, तर्क, अनुमान, आगम आदि पूर्वक) जानता है, उसे संज्ञा या मन कहते हैं।^६

द्रव्यसंग्रह की टीकानुसार - मन अनेक प्रकार के संकल्प विकल्पों का जाल है।^७ जिसमें स्मृति, कल्पना और चिंतन हो वह मन है। जैसे जो अतीत की स्मृति, भविष्य की कल्पना और वर्तमान का चिंतन करता है, वह मन है। अतः जिसमें त्रैकालिक ज्ञान की क्षमता हो, वह मन है। जब स्मृति, कल्पना और चिंतन नहीं होते हैं तब मन नहीं होता है। जब मन होता है तब तीनों आवश्यक हो जाते हैं।

“मनुतेऽर्थान् मन्यन्तेऽर्थाः अनेनेति वा मनः”^८ अर्थात् जो पदार्थों का मनन करता है या जिसके द्वारा पदार्थों का मनन किया जाता है, वह मन कहलाता है। जैसे अर्थ के भाषण के बिना भाषा की प्रवृत्ति नहीं होती, उसी प्रकार अर्थ के मनन के बिना मन की प्रवृत्ति नहीं होती।

दिगम्बर ग्रन्थ धवला के अनुसार मन स्वतः नोकर्म है। पुद्गल विपाकी अंगोपांग नाम कर्म के उदय की अपेक्षा रखने वाला द्रव्य मन है तथा वीर्यान्तराय और नो-इन्द्रिय कर्म क्षयोपशम से जो विशुद्धि उत्पन्न होती है, वह भाव मन है। अपर्याप्त अवस्था में द्रव्य मन में योग्य द्रव्य की उत्पत्ति से पूर्व उसका सत्त्व मानने से विरोध आता है, इसलिए अपर्याप्त अवस्था में भाव मन के अस्तित्व का निरूपण नहीं किया गया है।^१

“मणिज्जमाणे मणे” मनन करते समय ही मन होता है अर्थात् मनन से पहले और मनन के बाद मन नहीं होता। जैसे कि बोलने से पहले और बोलने के बाद भाषा नहीं होती है, लेकिन जब तक बोलते हैं तभी भाषा होती है। वैसे ही मन के लिए भी समझना चाहिए। जिससे विचार किया जा सके वह आत्मिक शक्ति मन है और इस शक्ति से विचार करने में सहायक होने वाले एक प्रकार के सूक्ष्म परमाणु भी मन कहलाते हैं। पहले को भाव मन और दूसरे को द्रव्य मन कहते हैं।^{१०} जैनदर्शन के अनुसार मन स्वतंत्र पदार्थ या गुण नहीं है। वह भाव मन के रूप में ही आत्मा का एक विशिष्ट गुण है।

मन के प्रकार :

जैनदर्शन के अनुसार मन चेतन द्रव्य और अचेतन द्रव्य के गुण के अनुसार से उत्पन्न होता है। अतः जैनदर्शनानुसार मन दो प्रकार का होता है - १. चेतन (भाव मन) और २. पौद्गलिक (द्रव्य मन)। भाव मन जीवमय है और अरूपी है तथा द्रव्य मन पुद्गलमय है और रूपी है।

विशेषावश्यक भाष्य में बताया है कि द्रव्यमन मनोवर्गणा के पुद्गलों से बना हुआ है। यह मन का भौतिक पक्ष है। साधारण रूप से इसमें शरीरस्थ सभी ज्ञानात्मक एवं संवेदनात्मक अंग आ जाते हैं।

मनोवर्गणा के परमाणुओं से निर्मित उस भौतिक रचना तंत्र में प्रवाहित होने वाली चैतन्यधारा भावमन है। दूसरे शब्दों में आत्मा से मिली हुई चिन्तन-मनन रूप चैतन्य शक्ति ही भाव मन है।

जीव में ज्ञानवरणीय कर्म के तथाविध क्षयोपशम से जो मनन करने की लब्धि होती है तथा मनन रूप उपयोग चलता है, ये दोनों ‘भावमन’ कहलाते हैं तथा उस मनन क्रिया में जो सहायक है तथा जिसका निर्माण मनः पर्याप्ति के द्वारा मनोवर्गणा के पुद्गल ग्रहण कर के हुआ है, वह ‘द्रव्य मन’ है। यह मन आत्मा से भिन्न है और अजीव है किन्तु वह जीव के ही होता है, अजीव के नहीं। यह बात भगवती सूत्र के शतक १३ उद्देशक ७ से स्पष्ट है।^{११} तेरहवें गुणस्थान में मन, वचन आदि योगों का निरोध कर केवली चौदहवें गुणस्थान में जाते हैं। अतः वे ‘अयोगी’ कहे जाते हैं। अयोगी होकर ही आत्मा मोक्ष जाती है, अतः मोक्ष में सिद्ध भगवान् के मन नहीं होता है।

मलयगिरि के अनुसार - मनःपर्याप्तिनामकर्म के उदय से मन के प्रायोग्य वर्गणाओं को ग्रहण कर जो मनरूप में परिणत होने वाला द्रव्य है, वह द्रव्यमन है। द्रव्यमन के सहारे जीव को जो मन परिणाम है, वह भाव मन है।^{१२}

द्रव्यमन के बिना भावमन नहीं होता। किन्तु भाव मन के बिना द्रव्यमन हो सकता है। जैसे भवस्थ केवली के द्रव्यमन होता है, भावमन नहीं।^{१३}

द्रव्य मन की अपेक्षा भाव मन की अधिक शक्ति और सत्ता है। भाव मन की सजगता का ही सुपरिणाम है कि जीव भोगी से रोगी और योगी भी बनता है। संयोगी, वियोगी, नियोगी ये सब भाव मन की देन है। भाव मन से नर, नारायण, आत्मा परमात्मा बनता है। इसलिए भाव मन में जिस प्रकार मनन होता है - विचार- धाराएं चलती हैं, उसी के अनुसार द्रव्य मन भी परिवर्तित होता रहता है। यदि भाव प्रशस्त होता है, तो द्रव्य मन भी प्रशस्त वर्ण आदि वाला होता है। यदि भाव मन अप्रशस्त होता है, तो द्रव्य मन भी अप्रशस्त वर्ण आदि वाला होता है, क्योंकि मनुष्य के चारों ओर एक आभामण्डल होता है। आभामण्डल के अस्तित्व को विज्ञान भी स्वीकार करता है। आभामण्डल व्यक्ति की चेतना के साथ-साथ रहने वाला पुद्गलों और परमाणुओं का संस्थान है। चेतना व्यक्ति के तैजस शरीर को सक्रिय बनाती है। जब तैजस शरीर सक्रिय होता है तब वह किरणों का विकिरण करता है। यह विकिरण ही व्यक्ति के शरीर पर वर्तुलाकार घेरा बना लेता है। यह घेरा ही आभामंडल है। आभामंडल व्यक्ति के भाव मंडल (चेतना) के अनुरूप ही होता है। भावमंडल जितना शुद्ध होता है, आभामंडल भी उतना ही शुद्ध होगा। भाव मंडल मलिन होता तो आभामंडल भी मलिन होगा। व्यक्ति अपनी भावाधारा के अनुसार आभामंडल को बदल सकता है। अतः इससे सिद्ध होता है कि भाव मन से ही द्रव्य मन परिवर्तित होता है।

दूसरी अपेक्षा से पौद्गलिक मन भावात्मक मन का आधार होता है। जैसे वस्तु की संख्या एवं गुणवत्ता के आधार पर बाजार भाव होता है, वैसे द्रव्य मन के आधार पर भाव मन भी विचारों की न्यूनाधिकता, उत्थान-पतन, संकोच-विस्तार से युक्त होता है। अर्थात् द्रव्य मन के बिना भावात्मक मन अपना कार्य नहीं कर सकता। उसमें अकेले में ज्ञान शक्ति नहीं होती है, क्योंकि भाव मन विचारात्मक होता है। मन मात्र ही जीव नहीं है, परन्तु मन जीव भी है, जीव का गुण है, जीव से सर्वथा भिन्न नहीं है, अर्थात् इसे आत्मिक मन कहते हैं। लब्धि और उपयोग उसके दो भेद हैं। प्रथम मानस ज्ञान का विकास है और दूसरा उसका व्यापार है। दोनों के योग से मानसिक क्रियाएं होती हैं। प्रश्न होता है कि यदि कोई विशेष कार्य भाव मन से होता है तो द्रव्य मन की क्या आवश्यकता है? इसके उत्तर में कहना होगा कि जिस प्रकार एक वृद्ध व्यक्ति है उसके पैरों में चलने की शक्ति होते हुए भी वह बिना लकड़ी के सहारे के चल नहीं पाता है, वैसे ही भावमन होते हुए भी द्रव्य मन के बिना स्पष्ट विचार नहीं किया जा सकता है। इसलिए भाव मन जितना ही द्रव्य मन का भी महत्त्व है।

मनःपर्यायज्ञान मात्र रूपी द्रव्य को ही जानने वाला है, अतः मनःपर्यायज्ञानी मनःपर्यायज्ञान के द्वारा मात्र द्रव्य मन को जानते हैं, किन्तु अरूपी भाव मन को नहीं जान सकते।

मनःपर्यायज्ञानी, द्रव्य मन के वर्णादि पर्यायों को जानकर अनुमान से यह निश्चय करते हैं कि 'अमुक संज्ञी जीव के अमुक विचार होने ही चाहिए, क्योंकि द्रव्य मन की ऐसी वर्णादि पर्यायें तभी हो सकती हैं, जबकि अमुक प्रकार का भाव मन हो, अन्यथा नहीं हो सकती। जैसे

मन को जानने वाले मानस-शास्त्री, मन को साक्षात् नहीं देखते। वे मन के अनुरूप मुख पर आने वाली भाव भंगिमाओं को साक्षात् देखकर अनुमान से यह निश्चय करते हैं कि - 'इसके अमुक विचार होने चाहिए', क्योंकि मुख पर ऐसी भाव भंगिमाएं तभी उत्पन्न हो सकती हैं जबकि इसके मन में अमुक प्रकार का भाव हो।^{१४} उसी प्रकार द्रव्यमन की भंगिमाओं से भावमन को जाना जाता है।

मन के अन्य प्रकार :

विभिन्न प्रकार के मन के भेद बताये गये हैं- मन का सम्बन्ध उपयोग से है। चेतना और वेदना से है। इस दृष्टि से मन के तीन भेद हैं - १. अशुभ मन, २. शुभ मन और ३. शुद्ध मन। नियमन की दृष्टि से मन के दो भेद हैं - १. नियन्त्रित मन और २. अनियन्त्रित मन। भावना के उत्थान-पतन की दृष्टि से मन के दो भेद हैं - १. आशावादी मन और २. निराशावादी मन। आचार्य हेमचन्द्र ने योगशास्त्र में मन के चार भेद किये हैं - १. विक्षिप्त मन २. यातायात मन ३. श्लिष्ट मन ४. सुलीन मन।^{१५} स्थानांग सूत्र में भी मन के तीन प्रकार एवं मन की अवस्थाओं का निरूपण हुआ है। मन के तीन प्रकार - १. तन्मन, २. तदन्यमन और ३. नो-अमन तथा मन की तीन अवस्थाएं - १. सुमनस्कता, २. दुर्मनस्कता और ३. नो-मनस्कता और नो-दुर्मनस्कता।^{१६}

मन का स्थान :

हम विचारों से मन को जिस रूप में परिवर्तित करना चाहें, परिवर्तित कर सकते हैं। क्योंकि उसके असंख्यात पर्याय होते हैं। हमारे विचारों के अनुसार मन का आकार होता है।

मन कहाँ पर स्थित है - इस सम्बन्ध में विविध मान्यताएँ प्राप्त होती हैं -

वैशेषिक^{१७}, नैयायिक,^{१८} और मीमांसक मन को परमाणु रूप में स्वीकार करते हैं। इसलिए मन नित्य एवं कारण रहित है। सांख्यदर्शन, योगदर्शन और वेदान्तदर्शन वाले मन को अणुरूप में स्वीकार करते हैं और उसकी उत्पत्ति प्राकृतिक अहंकार तत्त्व से या अविद्या से होना मानते हैं।^{१९} बौद्ध जैन दृष्टि से मन न तो व्यापक है और न परमाणु रूप ही है, किन्तु मध्यम परिमाणवाला है।

वैशेषिक दर्शन ने जो मन को अणु रूप माना है उसका खण्डन करते हुए अकलंक कहते हैं कि मन को अणु रूप मानने पर चक्षु के जिस अंश से मन का संयोग हो उसी से रूप ज्ञान दृष्टिगोचर होना चाहिए, लेकिन सम्पूर्ण चक्षु से रूप का ज्ञान होता है। इसलिए मन अणु रूप नहीं हो सकता है।^{२०}

बौद्ध मन को हृदयप्रदेशवर्ती मानते हैं। यह दिगम्बर परम्परा के निकट है। सांख्य परम्परा श्वेताम्बर परम्परा के निकट है क्योंकि सांख्य परम्परा के अनुसार मन का स्थान केवल हृदय नहीं है, क्योंकि मन सूक्ष्म-लिंग शरीर में जो अष्टदर्शी तत्त्वों का विशिष्ट निकायरूप है, प्रविष्ट है और सूक्ष्म शरीर का स्थान संपूर्ण स्थूल शरीर है, इसलिए मन संपूर्ण शरीर में व्याप्त है।^{२१}

जैनदर्शन के अनुसार भाव मन का स्थान आत्मा है, किन्तु द्रव्य मन के सम्बन्ध में एक ही मत नहीं है। दिगम्बर परम्परा द्रव्य मन को हृदय में मानती है,^{२२} तो श्वेताम्बर परम्परा में

ऐसा कोई वर्णन नहीं मिलता है। श्वेताम्बर परम्परा के पक्ष में पं. सुखलालजी का मत है कि द्रव्य मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर है।^{१३} तत्त्वार्थसूत्र के हिन्दी विवेचन में उन्होंने ऐसा ही उल्लेख किया है, यथा-

“प्रश्न- क्या मन भी नेत्र आदि की तरह शरीर के किसी विशिष्ट स्थान में रहता है या सर्वत्र रहता है? उत्तर- वह शरीर के भीतर सर्वत्र रहता है, किसी विशिष्ट स्थान में नहीं, क्योंकि शरीर के भिन्न-भिन्न स्थानों में स्थित इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये सभी विषयों में मन की गति है, जो उसे देहव्यापी माने बिना सम्भव नहीं। इसीलिए कहा जाता है कि यत्र पवनस्तत्र मनः”^{१४} योगशास्त्र में आचार्य हेमचन्द्र भी मन का स्थान सम्पूर्ण शरीर मानते हैं, उसके अनुसार जहाँ जहाँ प्राणवायु (मरुत) है वहाँ-वहाँ मन है। दोनों परस्पर कारण-कार्य हैं।^{१५} भाव मन का स्थान आत्मा ही है, क्योंकि आत्मप्रदेश सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है। अतः भाव मन सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है।^{१६}

दिगम्बर आचार्य पूज्यपाद ने मन को अनवस्थित कहा है क्योंकि मन आत्मा का लिंग होते हुए भी प्रतिनियत देश में स्थित पदार्थ को विषय नहीं करता और कालान्तर में भी स्थित नहीं रहता है।^{१७} इस मत का समर्थन अकलंक ने भी किया है। अकलंक के अनुसार जहाँ-जहाँ उपयोग होता है वहाँ-वहाँ अंगुल के असंख्यात भाग प्रमाण आत्म प्रदेश मन रूप से परिणत हो जाते हैं। भाव मन रूप में परिणत आत्मा जब गुण-दोष विचार, चिन्तन, स्मरणादि कार्यों को करने के लिए प्रवृत्त होता है तो वह इन कार्यों को द्रव्य मन के सहयोग से पूर्ण करता है। इस कार्यों के उपस्थित होने पर ही द्रव्य मन का निर्माण होता है और कार्य पूर्ण होने पर द्रव्य मन नष्ट हो जाता है। चिन्तनादि कार्य करते समय पुद्गल परमाणुओं से निर्मित अनेक मनोवर्गणाएँ मन रूप से परिणत होती हैं तथा उस कार्य को संपन्न होने पर वे वर्गणाएँ मन रूप अवस्था का त्याग कर देती हैं।^{१८}

विषय-ग्रहण की दृष्टि से इन्द्रियाँ एकदेशी हैं, अतः वे नियत देशाश्रयी कहलाती हैं। किन्तु ज्ञान-शक्ति की दृष्टि से इन्द्रियाँ सर्वात्मव्यापी हैं। इन्द्रिय और मन क्षायोपशमिक-आवरण जन्य विकास के कारण से है। आवरण विलय सर्वात्म- देशों का होता है।^{१९} मन विशेष-ग्रहण की दृष्टि से भी शरीर-व्यापी है।

जैन दर्शन में सुख-दुःखादि के प्रत्यक्ष के लिए मन को एकान्त रूप से कारण स्वीकार नहीं किया गया है। अकलंक के अनुसार ‘वस्तुतः गरम लोहपिण्ड की तरह आत्मा का ही इन्द्रिय रूप से परिणमन हुआ है, अतः चेतन रूप होने से इन्द्रियाँ स्वयं सुख-दुःख का वेदन करती हैं। यदि मन के बिना भावेन्द्रियों से सुख-दुःखानुभव न हो तो एकेन्द्रिय, विकलेन्द्रिय तथा असंज्ञी पंचेन्द्रिय जीवों को सुख-दुःख का अनुभव नहीं होना चाहिए। गुणदोष विचारादि मन के स्वतंत्र कार्य हैं। मनोलब्धि वाले आत्मा को जो पुद्गल मन रूप से परिणत हुए हैं वे अन्धकार तिमिरादि बाह्येन्द्रियों के उपघातक कारणों के रहते हुए भी गुण दोष विचार और स्मरण आदि व्यापार में सहायक होती ही हैं, इसलिए मन का स्वतंत्र अस्तित्व है।”^{२०}

मन का अधिकारी कौन?

व्यक्त चेतनत्व की अपेक्षा से संज्ञी पंचेन्द्रिय प्राणी ही मन के अधिकारी होते हैं, संज्ञीश्रुत की अपेक्षा से दूसरे प्राणी भी मन के अधिकारी हैं। संज्ञी श्रुत के वर्णन में तीन प्रकार की संज्ञाएं बताई हैं,^{३१} जो निम्न प्रकार से हैं :-

(अ) दीर्घकालिकी संज्ञा :- जिससे जीवों में ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता और विमर्श करने की योग्यता हो वह दीर्घकालिकी संज्ञा कहलाती है। ऐसे जीव के श्रुत को संज्ञी श्रुत कहते हैं। जिन जीवों में यह योग्यता नहीं उन्हें असंज्ञी कहते हैं तथा उनके श्रुत को असंज्ञी श्रुत कहते हैं। अथवा जिस संज्ञा में भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों का ज्ञान हो अर्थात् मैं यह कार्य कर चुका हूँ, यह कार्य कर रहा हूँ और यह कार्य करूँगा, इस प्रकार का चिन्तन दीर्घकालिकी संज्ञा है। यह संज्ञा देव, नारकी, गर्भज, तिर्यचों, गर्भज मनुष्यों में होती है तथा जिन जीवों में यह संज्ञा नहीं पायी जाती उन जीवों का श्रुत दीर्घकालिकी संज्ञा की अपेक्षा असंज्ञी श्रुत है।

(ब) हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा :- जिसमें प्रायः वर्तमान कालिक ज्ञान हो उसे हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा कहते हैं अर्थात् अपने शरीर की रक्षा के लिए इष्ट वस्तुओं को ग्रहण करने तथा अनिष्ट वस्तुओं का त्याग करने रूप जो उपयोग वर्तमानकालिक ज्ञान होता है, उसे हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा कहते हैं। यह संज्ञा द्विन्द्रिय आदि असंज्ञी जीवों में होती है तथा जिन जीवों में यह संज्ञा नहीं पायी जाती, उन जीवों का श्रुत, हेतुवादोपदेशिकी संज्ञा की अपेक्षा असंज्ञी श्रुत है।

(स) दृष्टिवादोपदेशिकी संज्ञा :- सुदेव, सुगुरु और सुधर्म तथा कुदेव, कुगुरु और कुधर्म क्या है? इसका सम्यग् यथार्थ ज्ञान, जीव-अजीव, पुण्य-पाप, आस्रव-संवर-निर्जरा, बंध, मोक्ष, इन नव तत्त्वों का सम्यग् यथार्थज्ञान और रुचि रूप जो सम्यग्दर्शन है, वह दृष्टिवाद की अपेक्षा (सम्यक्त्व की अपेक्षा) संज्ञा है। जिन जीवों में यह दृष्टिवाद संज्ञा पायी जाती है, उन जीवों का सम्यग् श्रुत, दृष्टिवाद संज्ञा की अपेक्षा (सम्यग्दर्शन की अपेक्षा) संज्ञीश्रुत है तथा जिन जीवों में यह दृष्टिवाद संज्ञा नहीं पायी जाती, उन जीवों का मिथ्याश्रुत, दृष्टिवाद संज्ञा की अपेक्षा (मिथ्यादर्शन, मिश्रदर्शन की अपेक्षा) असंज्ञीश्रुत है। एक अपेक्षा से यह संज्ञा मात्र चौदह पूर्वी साधकों को होती है।

उक्त व्याख्याओं से संज्ञी जीव तीन प्रकार के हो गए हैं, किन्तु यहाँ पर मन का जो अधिकारी है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा की अपेक्षा से बताया गया है। यह बाद विशेषावश्यकभाष्य से भी सिद्ध होती है। जिसके द्वारा अतीत की स्मृति और भविष्य की चिन्ता (कल्पना) की जाती है, वह कालिकी अथवा दीर्घकालिकी संज्ञा है। यही मन है। मनोबन्धि सम्पन्न जीव मनोवर्गणा के अनन्त स्कन्धों को ग्रहण कर मनन करता है, वह दीर्घकालिकी संज्ञा है। यह संज्ञा मनोज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से निष्पन्न होती है।^{३२}

अतः उपर्युक्त वर्णन के आधार पर कह सकते हैं कि जिस जीव में दीर्घकालिकी संज्ञा का विकास होता है, वह संज्ञी (समनस्क) और जिसमें इसका विकास नहीं होता, वह असंज्ञी (अमनस्क) है।^{३३}

अर्थोपलब्धि में मन का महत्त्व :

जिस प्रकार चक्षुष्मान् व्यक्ति को दीपक के प्रकाश में स्फुट अर्थ की उपलब्धि होती है, वैसे ही मनोज्ञानावरण कर्म के क्षयोपशम से युक्त जीव की चिन्ताप्रवर्तक मनोद्रव्य के प्रकाश में अर्थ की उपलब्धि स्पष्ट होती है। शब्द आदि अर्थ में छह प्रकार (पांच इन्द्रिय और एक मन) का उपयोग होता है। अविशुद्ध चक्षुष्मान् को मंद, मंदतर प्रकाश में रूप की उपलब्धि अस्पष्ट होती है, वैसे ही असंज्ञी संमूर्च्छित पंचेन्द्रिय को अर्थ की उपलब्धि अस्पष्ट होती है, क्योंकि क्षयोपशम की मंदता के कारण उसमें मनोद्रव्य को ग्रहण करने की शक्ति भी बहुत अल्प होती है। मूर्च्छित व्यक्ति का शब्द आदि अर्थों का ज्ञान अव्यक्त होता है, वैसे ही प्रकृष्ट ज्ञानावरण के उदय के कारण एकेन्द्रिय जीवों का ज्ञान अव्यक्त होता है। इनकी अपेक्षा द्वीन्द्रिय आदि जीवों का ज्ञान शुद्धतर, शुद्धतम होता है। मानसिक प्रकाश के अभाव में अर्थ की उपलब्धि मंद, मंदतर होती चली जाती है। इसको विशेषावश्यकभाष्य में उदाहरण से समझाते हैं कि चक्रवर्ती के चक्ररत्न में जो छेदन करने की शक्ति होती है, वह सामान्य तलवार आदि में नहीं होती है। दोनों में छेदक का गुण होते हुए भी शक्ति में हीनता है, उसी प्रकार सामान्य रूप से जीवों में चैतन्यगुण समान होने पर भी समनस्क जीवों में अवग्रह आदि सम्बन्धी वस्तुबोध की जो पटुता होती है, वैसी पटुता एकेन्द्रिय आदि अमनस्क जीवों में नहीं होती है।^{१४}

मन का उपयोग :

मन एक साथ अनेक अर्थों को ग्रहण कर सकता है, किन्तु एक साथ दो क्रियाएं या दो उपयोग नहीं हो सकते। क्योंकि उपयोग युगपत् नहीं होते। सामान्य की अपेक्षा से एक साथ अनेक अर्थों का ग्रहण होता है। विशेष की अपेक्षा एक समय में एक ही अर्थ का ग्रहण होता है।^{१५}

क्या मन और मस्तिष्क एक हैं?

मन और मस्तिष्क में गहरा सम्बन्ध है। इन्द्रियों के द्वारा विषय का ग्रहण होता है, मस्तिष्क उनका संवेदन करता है तथा मन उस पर पर्यालोचन अर्थात् हेयता-उपादेयता के चिन्तन का कार्य करता है। मस्तिष्क मन की प्रवृत्ति का मुख्य साधन अंग है, इसीलिए उसके विकृत हो जाने से मन भी विकृत हो जाता है। फिर भी मन और मस्तिष्क स्वतंत्र हैं।^{१६}

मन इन्द्रिय या अनिन्द्रिय?

जैन दर्शन में मन को अनिन्द्रिय या नोइन्द्रिय कहा है, जिसका अर्थ इन्द्रिय का अभाव न होकर ईषत् इन्द्रिय है। श्रोत्रेन्द्रियादि पांच इन्द्रियों की तरह मन भी ज्ञान का साधन है, फिर भी रूपादि विषयों में प्रवृत्त होने के लिए उसको नेत्र आदि का सहारा लेना पड़ता है। यह मन की परतंत्रता है। इन्द्रियाँ नियत देश में स्थित पदार्थ को विषय करती हैं तथा कालान्तर में स्थित रहती हैं, लेकिन मन आत्मा का लिंग होते हुए भी प्रतिनियत देश में स्थित पदार्थ को विषय नहीं करता तथा कालान्तर में स्थित नहीं रहता है, इसीलिए इसे अनिन्द्रिय कहते हैं।^{१७} मन को अनिन्द्रिय कहने का कारण यह भी है कि मन इन्द्रिय की तरह प्रतिनियत अर्थ को नहीं

जानता है। धवलाटीका के अनुसार इन्द्र अर्थात् आत्मा के लिंग को इन्द्रिय कहते हैं। जिस प्रकार शेष द्रव्येन्द्रियों का बाह्य इन्द्रियों से ग्रहण होता है, वैसा मन का नहीं होता। अतः मन अनिन्द्रिय है।^{३८} अनिन्द्रिय का अर्थ इन्द्रिय सदृश है।

मन को अन्तःकरण भी कहा जाता है। क्योंकि मन ज्ञान का साधन होते हुए भी श्रोत्रेन्द्रियादि की तरह बाह्य साधन नहीं है, वह आन्तरिक साधन है एवं इसका कार्य गुण-दोष विचार स्मरण आदि हैं जिन्हें वह इन्द्रियों की सहायता के बिना सम्पन्न करता है। इसलिए मन को अन्तःकरण भी कहा जाता है। सर्वार्थसिद्धि के अनुसार अनिन्द्रिय, मन और अन्तःकरण ये एकार्थवाची हैं।^{३९}

मन और इन्द्रियों की सापेक्षता :

जैनदर्शन के अनुसार इन्द्रिय और मन परोक्ष ज्ञान के साधन हैं। मन सभी इन्द्रियों में एक साथ प्रवृत्ति नहीं कर सकता है अर्थात् उपयोगवान् नहीं हो सकता है। भावमन उपयोगमय है वह जिस समय जिस इन्द्रिय के साथ मनोयोग कर जिस वस्तु का उपयोग करता है वह तब तद् उपयोगमय हो जाता है। इन्द्रियों के व्यापार की सार्थकता इसी में है कि उसके बाद मन भी अपना कार्य करे। इन्द्रियों के अभाव में मन भी पंगु हो जाता है। वह उसी विषय पर चिन्तन कर सकता है, जो कभी न कभी इन्द्रियों से गृहीत हुआ हो। इन्द्रियाँ सिर्फ मूर्त-द्रव्य की वर्तमान पर्याय को ही जानती हैं। मन मूर्त और अमूर्त दोनों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, इसलिए मन को सर्वार्थग्राही कहा गया है।^{४०}

इन्द्रियाँ केवल मूर्तद्रव्य की वर्तमान पर्याय को जानती हैं, मन मूर्त और अमूर्त त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, क्योंकि मन का विषय प्रतिनियत नहीं है, वह दूर-निकट सर्वत्र प्रवृत्त होता रहता है। केवल पुद्गल ही मन का विषय नहीं है। केवलज्ञान की तरह मूर्त-अमूर्त सब पदार्थ मन के विषय बनते हैं।^{४१}

मन का वस्तु के साथ सीधा सम्बन्ध नहीं होता है इसलिए मन अप्राप्यकारी है। यदि मन को प्राप्यकारी माना जाये तो अग्नि का चिन्तन करने पर हमें जलन का अनुभव और चंदन का चिंतन करने पर शीतलता का अनुभव होना चाहिए, लेकिन ऐसा नहीं होता है। इसलिए मन अप्राप्यकारी है।^{४२}

मन के कार्य :

स्मृति, चिन्तन और कल्पना करना मन का कार्य है। वह इन्द्रिय ज्ञान का प्रवर्तक है अर्थात् मन इन्द्रिय के द्वारा ग्रहण की गई वस्तु के सम्बन्ध में भी चिन्तन-मनन करता है और उससे आगे भी वह विचार करता है। नंदीसूत्र में मन के कार्य ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा, चिन्ता, विमर्श बताये गये हैं।^{४३} जब मन इन्द्रिय द्वारा ज्ञात, रूप, रस आदि का विशेष रूप से निरीक्षण आदि करता है तब वह इन्द्रिय की अपेक्षा रखता है। अन्यत्र स्थानों में मन को इन्द्रिय की आवश्यकता नहीं होती है। इन्द्रिय ज्ञान की सीमा पदार्थ तक सीमित है और मन इन्द्रिय

और पदार्थ दोनों को जानता है। इन्द्रियाँ केवल मूर्तद्रव्य की वर्तमान पर्याय को और वह भी अंश रूप में जानती हैं, जबकि मन मूर्त और अमूर्त (रूपी-अरूपी) पदार्थों के त्रैकालिक अनेक रूपों को जानता है, मन का कार्य विचार करना है। जिसमें इन्द्रियों के द्वारा ग्रहण किये गये और ग्रहण नहीं किये गये सभी विषय आते हैं।

उपसंहार :

मध्य-बिन्दु है, जिसे केन्द्र बनाकर उन जीवों का समग्र जीवन-चक्र उसके इर्द-गिर्द घूमता है। मानव-जीवन का भी वास्तविक आकलन एवं मूल्यांकन मन के द्वारा ही होता है। मनुष्य-जीवन का यह केन्द्रीय तत्त्व है। जैसा मन होता है वैसा ही मनुष्य बन जाता है अर्थात् “जैसा मन, वैसा जीवन।” मन अशांत तो जीवन अशांत, मन शांत तो जीवन शांत। मन दुःखी तो जीवन दुःखी, मन सुखी तो जीवन सुखी। मन भोगी तो जीवन भोगी, मन योगी तो जीवन योगी। मन रागी तो जीवन रागी, मन वीतरागी तो जीवन वीतरागी। उपनिषद् में भी कहा है कि ‘मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः’ इस प्रकार सम्पूर्ण उत्थान और पतन का कारण मन ही होता है।

संदर्भ सूची :

१. न्यायसूत्र, १.१.१६
२. वात्स्यायन भाष्य, १.१.१६
३. सुखाद्युपलब्धिसाधनमिन्द्रियं मनः। - तर्कसंग्रह
४. सन्मति प्रकरण टीका, काण्ड २
५. विशेषावश्यकभाष्य, अहमदाबाद, भाई समरथ जैन श्वेताम्बर मू. शास्त्रोद्धार ट्रस्ट, वी.सं. २४८९, गाथा ३५२५
६. षट्खण्डागम (धवला टीका) अमरावती सन् १९३६ पुस्तक १, सूत्र १.१.४, पृ. १५२
७. बृहत् द्रव्यसंग्रह (सातवं संस्करण), आगास, सन् १९९९, प्रथम अधिकार, गाथा १२ की टीका, पृ. २४
८. श्री यशोविजयगणि “जैनतर्कभाषा” अहमदनगर, सन् १९९२, पृ. ११
९. धवलाटीका, भाग १, सूत्र १.१.३५, पृ. २५९-२६०
१०. पं. सुखलाल संघवी, तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन), वाराणसी पार्श्वनाथ विद्यापीठ, सन् २००७ (षट् संस्करण) पृ. ५४
११. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवती सूत्र भाग ३, श. उ. ७, सूत्र १०-११, पृ. ३२९
१२. मलयगिरि नंदीवृत्ति, श्रीमती आगमोदयसमिति: सन् १९८२, पृ. १७४
१३. मलयगिरि, नंदीवृत्ति, पृ. १७४
१४. पारसमुनि, नंदीसूत्र, ब्यावर, पृ. ७४

१५. आचार्य हेमचन्द्र, योगशास्त्र, भाग-३, जैन साहित्य विकास मण्डल, मुम्बई-५६, (सन् १९८६), प्रकाश १२, गाथा २, पृ. ११८५
१६. युवाचार्य मधुकरमुनि, स्थानांगसूत्र, स्थान ३ सूत्र ३५७, १८८
१७. वैशेषिकसूत्र ७.१.१२३
१८. न्यायसूत्र ३.२.६१
१९. माठर कारिका २७
२०. अकलंक, (संपादन पं. गजाधरलाल जैन), तत्त्वार्थराजवार्तिक, सनातन जैन ग्रंथमाला, ५. १९.२४ पृ. २१९-२२०
२१. पं. सुखलाल संघवी, दर्शन और चिंतन, भाग-१, अहमदाबाद, सन् १९५७, पृ. १४०
२२. गोम्मटसार, जीवकांड भाग २ (तृतीय संस्करण), नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, सन् २०००, गाथा ४४३
२३. दर्शन और चिन्तन, भाग १, पृ. १४०
२४. तत्त्वार्थसूत्र (हिन्दी विवेचन), पृ. ६०
२५. योगशास्त्र, प्रकाश ५, गाथा २ पृ. ९७१
२६. दर्शन और चिंतन, भाग १, पृ. १४०
२७. पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि (ग्यारहवां संस्करण), नई दिल्ली, भारतीय ज्ञानपीठ, सन् २००२, अ. १, सू. १४, पृ. ७८
२८. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५.१९.३०, पृ. २२०
२९. युवाचार्य मधुकरमुनि, भगवती सूत्र भोग १, श. १, उ. ३, पृ. ६५
३०. तत्त्वार्थराजवार्तिक, ५.१९.३०, पृष्ठ २२०
३१. (अ) आचार्य तुलसी नंदीसूत्र (द्वितीय संस्करण), लाडनूँ जैन विश्व भारती, सन् २०११, सूत्र ६२, ६३, ६४
(ब) विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५०४ से ५०९ और
(स) पं. सुखलाल संघवी, कर्मग्रंथ भाग १, बडौत (उ.प्र.) श्री वर्धमान स्था. जैन धार्मिक शिक्षा समिति, गाथा ६ का विवेचन, पृ. १६-१७
३२. विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५०८-५०९
३३. श्री भिक्षु ागम शब्द कोश भाग, प्रथम संस्करण, लाडनूँ जैन विश्व भारती, सन् १९९६, पृ. ५०९
३४. विशेषावश्यकभाष्य गाथा ५१०-५१४
३५. विशेषावश्यकभाष्य गाथा २४४२, २४४५
३६. सिद्धसेन दिवाकर, पं. सुखलाल संघवी, सन्मतितर्क प्रकरण, काण्ड २
३७. सर्वार्थसिद्धि, १.१४., पृ. ७८

३८. धवलाटीका, भाग-१, सूत्र १.१४, पृ. ७८
३९. सर्वार्थसिद्धि १.१४, पृ. २७
४०. आचार्य हेमचन्द्र प्रमाण मीमांसा, सन् १९८९, अ. १ सू. २४ पृ. १९
४१. विशेषावश्यकभाष्य गाथा ३४०
४२. अभिधानराजेन्द्रकोठा, भाग-६, अहमदाबाद, श्री अभिधान राजेन्द्र कोष प्रकाशन संस्था, सन् १९८६, पृ. ७६-८३
४३. आचार्य तुलसी, नंदीसूत्र सूत्र ६२, पृ. ११२

- श्री सुधर्म विद्यापीठ, एस.बी.बी.जे. बैंक के पास
चांदीहॉल, जोधपुर (राजस्थान)

भगवान अरिष्टनेमि का जीवन दर्शन :

एक ऐतिहासिक अध्ययन

- डॉ. समणी संगीतप्रज्ञा

तीर्थङ्कर ऋषभदेव की परम्परा में बाईसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि हुए, जो बड़े प्रभावशाली महापुरुष थे। अनेक जन्मों को पार करने के बाद वे यमुना तट पर अवस्थित शौर्यपुर के राजा समुद्र विजय और रानी शिवादेवी के पुत्र रूप में जन्मे। यादववंशी समुद्रविजय के अनुज का नाम था वसुदेव, जिनकी दो रानियां थीं, रोहिणी और देवकी। रोहिणी के पुत्र का नाम बलराम या बलभद्र था और देवकी के पुत्र थे श्रीकृष्ण।

महापुरुष श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि की अनेक बाल लीलाएं प्रसिद्ध हैं, उनके बीच शक्ति प्रदर्शन भी अनेक बार हुआ है, जिनमें अरिष्टनेमि सदैव जीतते रहे हैं। यह शायद उनके ब्रह्मचर्य का प्रताप रहा है। अरिष्टनेमि के विवाह का आयोजन भोजवंशी उग्रसेन की पुत्री राजीमती के साथ हुआ, पर विवाह के लिए वध्य पशुओं को देखकर उनके मन में वैराग्य उत्पन्न हो गया और वे जिनदीक्षा लेकर तपस्या करने निकल पड़े। राजीमती ने भी बाद में दीक्षा ले ली। अरिष्टनेमि ने कठोर तपस्या करते हुए केवलज्ञान प्राप्त किया और फिर वे सिद्ध हो गये। उनकी यह भविष्यवाणी अक्षरशः सिद्ध हुई कि यादवों की उदण्डता के कारण द्वैयापन मुनि के क्रोध से द्वारिका नगरी बारहवें वर्ष में जल जाएगी।

तीर्थकर ऋषभदेव के बाद जैनधर्म और परम्परा के विकास का सूत्रपात हुआ। उत्तरवर्ती तीर्थकरों का काल आया और लगभग नेमिनाथ तक ऐसा काल रहा जिसके विषय में इतिहास अभी तक मौन है। पर साहित्यिक और पौराणिक परम्परा उनका विस्तृत परिचय अनुस्यूत किये हुए है। उनके संदर्भ में किसी को कोई मतभेद नहीं है। अतः पुरातत्त्व की भले ही सीमा रही हो पर इतिहास परम्परा को बिलकुल झुठला नहीं सका। अन्तिम दो तीर्थकरों की ऐतिहासिकता में तो अब कोई संदेह ही नहीं है।

इन बाईसवें तीर्थकर नेमिनाथ के काफी उल्लेख प्राचीन ग्रन्थों में मिलते हैं। अंगुत्तर निकाय के धम्मिक सुत्त उन्हें “अरनेमि” नाम दिया है, दीघनिकाय के इसीगली सुत्त उन्हें “दृढनेमि” कहकर स्मरण करता है, तो ऋग्वेद और यजुर्वेद नेमि और अरिष्टनेमि कहकर पुकारते हैं। उपनिषद् साहित्य में उल्लिखित अंगिरस ऋषि नेमिनाथ का प्रतिनिधित्व करते दिखाई देते हैं।

अरिष्टनेमि के संदर्भ में कतिपय वैदिक और पौराणिक साहित्य से उल्लेख प्रस्तुत कर देना उपयोगी होगा-

१. अरिष्टनेमि परिद्यामियानं - ऋग्वेद, १.२५. १८०.१०
२. अरिष्टनेमि अभि नः स त्रस्व - वही, ८.८.९७.८
३. अरिष्टनेमि और ताक्ष्य पर पूरा सूत्र देखें - ऋ. १०वां मण्डल, सू. १७८
४. अरिष्टनेमि वृद्धश्रवाः - सन्यासोपनिषद् / १.६
५. दक्षप्रजापतिपुत्र अरिष्टनेमि - विष्णुपुराण, १५.१३६
६. स्वस्तिनस्ताक्ष्यौ अरिष्टनेमि - माण्डूक्योपनिषद्

इसी तरह के अरिष्टनेमि से संबद्ध और भी उल्लेख देखिए - अरिष्टनेमिननं वीरो - लिंगपुराण, ६८.३६; चन्द्रवंशज अरिष्टनेमिः (१५.१३६), दृढनेमि - वही, (४.१९४९), अरिष्टनेमि हरिवंशपुराण, २०.१४७-१४९; मार्कण्डेय पुराण- २.१; आदि।

अरिष्टनेमि अपने समय के महान् प्रभावक और युगप्रवर्तक महापुरुष थे। यह तथ्य इसी से प्रमाणित है कि वैदिक साहित्य में जगह-जगह मंगल भावना से प्रेरित हो वैदिक ऋषियों ने उनका गुणगान किया है.....

(अ) ओम् भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवाः, भद्रं पश्येमाक्षिभिर्यजत्राः स्थिरै रगै स्तुष्टुवांस्तनुभिः, व्यशेम देवहितं यदायु ॥ स्वस्ति नः इन्द्रो वृद्धश्रवाः। स्वति नः पूषा विश्ववेदाः। स्वस्तिनस्ताक्ष्यौ अरिष्टनेमिः। स्वस्ति नो बृहस्पति र्दधातु। ओं शान्तिः शान्तिः शान्तिः : प्रश्न उपनिषद्

(१) त्वयूषु वाजिनं देवजूतं सहावातं तरुतारं रथानाम्।

अरिष्टनेमिं पृतनाजमाशुं स्वस्तये ताक्ष्य मिहा हुवेम ॥१॥१

अर्थात् बलवान् देवों से पूजनीय, प्राणियों को पार उतारने वाले (अर्थात् तीर्थंकर), सेनाओं के विजेता (कर्मरूपी शत्रुसेनाओं के विजेता जिन), ताक्ष्य पुत्र (सूर्य पुत्र) अरिष्टनेमि को हम आत्म-कल्याण के लिए आह्वान करते हैं।

तं व रथं वयमधा हुवेन स्तोमैरश्विना सुचिताय नव्यम्।

अरिष्टनेमि द्यामियानि विद्या मेषं वृजनं जीस्दानुम् ॥२

अर्थात् जिसमें बड़े-बड़े घोड़े जुते हैं ऐसे रथ में बैठे हुए सूर्य के समान आकाश में चलने वाले विद्या रूपी रथ में बैठे हुए अरिष्टनेमि का हम आह्वान करते हैं।

स्वति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।

स्वस्ति नस्ताक्ष्यौ ऽरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पति र्दधातु ॥३

अर्थात् आयु के अन्तिम भाग वृद्धावस्था में वामन ने तप किया, उसी तप के प्रभाव से उसे शिव के दर्शन हुए - वह शिव (कल्याण प्रदाता) पद्मासन में स्थित, श्याममूर्ति, नेमिनाथ महान् भयंकर कलिकाल में सम्पूर्ण पापों को नष्ट करने वाले और दर्शन एवं स्पर्शन से ही

करोड़ों यज्ञों से उत्पन्न फल को देने वाले थे इसलिए वामन ने उनका नाम शिव-कल्याणदाता रख दिया।

रैवताद्रौ जिनो नेमिः युगादिर्विमलाचले।

ऋषीणामाश्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥

अर्थात् जिन भगवान नेमिनाथ ने युग के आदि से (?) पवित्र रैवतक पर्वत पर तपस्या की अतएव ऋषियों का आश्रय होने के कारण ही वह (रैवतक पर्वत) मुक्ति का कारण बन गया।

स्कन्धपुराण में शिव शिष्य के वामन ने तपस्वी का नाम नेमिनाथ रखा जो सर्वपापप्रणाशक है- प्रभास पुराण में भी अरिष्टनेमि की स्तुति की गई है-

भवस्य पश्चिमे भागे वामनेन तपः कृतम्।

तेनैव तपसाकृष्टः शिवः प्रत्यक्षतां गतः॥

पद्मासनः समासीनः श्याममूर्तिः दिगम्बरः।

नेमिनाथः शिवोऽथैवं नाम चकेऽस्यवामनः॥

कलिकाले महाघोरे सर्वपापप्रणाशकः।

दर्शनात् स्पर्शनादेव कोटियज्ञफलप्रदः॥४

कैलाशे विमले रम्ये वृषभोऽयं जिनेश्वरः।

चकार स्वावतारं च सर्वज्ञः सर्वगः शिवः॥

रैवताद्रौ जिनो नेमिर्युगाद्रि विमलाचले।

ऋषीणां या श्रमादेव मुक्तिमार्गस्य कारणम्॥

महाभारत अनुशासन पर्व, अध्याय १४९ में विष्णुसहस्रनाम में दो स्थानों पर 'शूरः शौरिर्जिनेश्वरः' पद व्यवहृत हुआ है। जैसे -

अशोकस्तारणस्ताराः शूरः शौरिर्जिनेश्वरः।

अनुकूलः शतावर्तः पद्मी पद्मनिभेक्षणः॥५०॥

कालनेमिमहावीरः शौरिः शूरजनेश्वरः।

त्रिलोकात्मा त्रिलोकेशः केशवः केशिहा हरिः॥९२

इन श्लोकों में 'शूरः शौरिर्जिनेश्वरः' शब्दों के स्थान में 'शूरः शौरिर्जिनेश्वरः' पाठ मानकर अरिष्टनेमि अर्थ किया गया है।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि श्रीकृष्ण के लिए 'शौरि' शब्द का प्रयोग हुआ है। वर्तमान में आगरा जिले के बटेश्वर के सन्निकट शौरिकपुर नामक स्थान है। वही प्राचीन युग में यादवों की राजधानी थी। जरासंध के भय से यादव वहाँ से भागकर द्वारिका में जा बसे। शौरिकपुर में ही भगवान् अरिष्टनेमि का जन्म हुआ था, एतदर्थ उन्हें "शौरि" भी कहा गया है।

यहाँ इस प्रकार का पुरातत्त्व भी मिला है। यहाँ नेमि को 'जिन' संज्ञा दी गयी है और उनके तपस्या-निर्वाण स्थान को मुक्ति का कारण कहा गया है।

इसके अतिरिक्त कतिपय पुरातात्विक प्रमाण भी तीर्थकर नेमिनाथ की ऐतिहासिकता सिद्ध करते हैं। उदाहरणतः बेबीलोन सम्राट नेबुचन्द नेजर दान पत्र भी इस सम्बन्ध में उल्लेखनीय है। यह दानपत्र ;प्ससनेजतंजमकूममासल वप्दिकपंद्ध के १४ अप्रैल १९३३ के पृष्ठ ३१ पर डॉ. प्राणनाथ - प्रो. हिन्दू विश्वविद्यालय बनारस का अर्थ सहित प्रकाशित हुआ था। उनके अध्ययन के अनुसार इस दानपत्र का अर्थ निम्न प्रकार है -

‘रीवापुरि (जूनागढ़) में राज्य देवता-सूसा का प्रधान देवता नेबुचन्द नेजर आया’, उसने यदुराज के स्थान में मठ (मन्दिर) बनवाया, हमारे ईश्वर (अधिपति) नागेन्द्र ने आने वाली नावों की आय को दान के रूप में (भेंट में) दिया रैवतक (पर्वत) के ओम् (भगवान) सूर्यदेवता नेमि के लिये।’

इस दानपत्र में भली भाँति सिद्ध है कि न केवल भारतीय जनता बल्कि दूर पश्चिमी एशियाई देशों के लोग भी भगवान् नेमिनाथ के उपासक थे।

तीर्थङ्कर महावीर के भक्तों में अनार्यभूमि के राजकुमार आर्द्र का उल्लेख आता है। यह आर्द्रदेश कौन होना चाहिए यह विचारणीय है। मेसोपोटेमिया का उत्तरभाग एरिया के नाम से जाना जाता है जो असुर का विकृत रूप है। मध्यभाग की राजधानी बेबीलोन (ई.पू. २१२३ से २०२१) थी और समुद्र तटवर्ती दक्षिण भाग की प्राचीन राजधानी ऐर्द्य बंदरगाह थी। बाद में तीनों भागों की राजधानी बेबीलोन को बना दिया गया। यहाँ ऐर्द्य नगर ही आर्द्र नगर होना चाहिए। ई.पू. ५००० वर्ष से यह बन्दरगाह का भारत के साथ सीधा जल मार्ग का सम्बन्ध था। आज यह बंदरगाह भर गया। इसके अखण्डर बतरा (इराक) के पास उर से १८ किमी. में फैले हुए हैं। नेबूचन्द्र नेजर यहीं का अधिपति था।

भगवान् अरिष्टनेमि का नाम अहिंसा की अखण्ड ज्योति जगाने के कारण इतना अत्यधिक लोकप्रिय हुआ कि महात्मा बुद्ध के नामों की सूची में एक नाम अरिष्टनेमि का भी है। लंकावतार के तृतीय परिवर्तन में बुद्ध के अनेक नाम दिये हैं। वहाँ लिखा है - जिस प्रकार एक ही वस्तु के अनेक नाम प्रयुक्त होते हैं उसी प्रकार बुद्ध के असंख्य नाम हैं। कोई उन्हें तथागत कहते हैं तो कोई उन्हें स्वयंभू, नायक, विनायक, परिणायक, बुद्ध, ऋषि, वृषभ, ब्राह्मण, विष्णु, ईश्वर, प्रधान, कपिल, भूतानृत, भास्कर, अरिष्टनेमि, राम, व्यास, शुक, इन्द्र, बलि, वरूण आदि नामों से पुकारते हैं।^१

नन्दीसूत्र में ऋषिभाषित (इसिभासियं) का उल्लेख है। उनमें पैंतालीस प्रत्येक बुद्धों के द्वारा निरूपित पैंतालीस अध्ययन हैं। उनमें बीस प्रत्येक बुद्ध भगवान् अरिष्टनेमि के समय हुए। उनके नाम इस प्रकार हैं - १. नारद, २. वज्जिपुत्र, ३. असितदविक, ४. भारद्वाजआंगिरस, ५. पुष्पसाल पुत्र, ६. वल्कलचोरि, ७. कुर्मपुत्र, ८. केतलीपुत्र, ९. महाकश्यप, १०. तेतलीपुत्र,

११. मंखलीपुत्र, १२. याज्ञवल्क्य, १३. मैत्रेयभयाली, १४. बाहुक, १५. मधुरायण, १६. सोरियायण, १७. बिन्दु, १८. वर्षपकृष्ण, १९. आरियायण, २०. उत्कलवादी।^{१०}

पत्तेय बुद्धमिसिणो, वीसं तित्थे अरिहणेमिस्स।

पासस्स य पधण्णरस, वीरस्स विलीणमोहस्स॥८

णारद-वज्जिय-पुत्ते असिते अंगरिसि-पुप्फसाले य।

वक्कलकुम्मा केवलि कासव तह तेतलिसुते य॥

मंखली जण्णभयालि वाहुय महु सोरियाण विद्विपु।

वरिसकण्हे आरिय उक्कलवासादी य तरूणो य॥९

ये सभी उल्लेख यह कहने के लिए पर्याप्त है कि तीर्थंकर नेमिनाथ एक प्रभावशाली ऐतिहासिक व्यक्तित्व के धनी थे जिन्होंने अहिंसा का प्रचार कर समाज को एक नई आध्यात्मिक ज्योति दी। उसी ज्योति से पार्श्वनाथ और महावीर ने भी किसी न किसी रूप में प्रकाश पाया।

बौद्ध साहित्य में भी उनका पुनीत स्मरण हुआ है। 'अंगुत्तरनिकाय' में अरनेमि के लिए छह तीर्थंकरों में एक नाम दिया गया।^{१०} 'मज्झिमनिकाय' में उन्हें ऋषिगिरी पर रहने वाले चौबीस प्रत्येक बुद्ध में अन्यतम माना गया है (इसिगलिसुत्त)। 'दीघनिकाय' में 'दृढनेमि' नामक चक्रवर्ती का उल्लेख आया है।^{११} इसी नाम का एक यक्ष भी था (दीर्घनकाय, भाग ३, पृ. २०१)। ऋग्वेद (७.३२.२०) में नेमि का और यजुर्वेद (२५.२८) में अरिष्टनेमि का उल्लेख आता है।

नेमिनाथ का प्रभाव भारत के बाहर भी रहा है। यह तथ्य एक ताम्रपत्र से प्रगट होता है। कर्नल टाड ने अपनी पुस्तक राजस्थान में लिखा है कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि प्राचीनकाल में बुद्ध या चार मेधावी महापुरुष हुए हैं। इनमें पहले आदिनाथ या ऋषभदेव थे, दूसरे नेमिनाथ थे। नेमिनाथ ही स्केण्डविया निवासियों के प्रथम 'ओडिन' तथा चीनियों के प्रथम 'फो' नामक देवता थे। डॉ. प्राणनाथ विद्यालंकार ने इसके अतिरिक्त १९ मार्च १९३५ के साप्ताहिक टाइम्स ऑफ इण्डिया में काठियावाड से प्राप्त एक प्राचीन ताम्रशासन प्रकाशन किया था। उसके अनुसार उक्त दानपत्र पर जो लेख अंकित था उसके भाव यह है कि 'सुमेर जाति में उत्पन्न बाबुल के खिल्दियान सम्राट नेबुचिदनज्जर ने जो रेवताचल (गिरिनार) के स्वामी नेमिनाथ की भक्ति की तथा उनकी सेवा में दान अर्पित किया। दानपत्र पर उक्त पश्चिमी एशियाई नरेश की मुद्रा भी अंकित है। और उसका काल ईसा पूर्व ११४० के लगभग अनुमान किया जाता है।^{१२} महाभारत में अरिष्टनेमि के लिए नेमिजिनेश्वर और 'ताक्ष्य' शब्द का भी प्रयोग हुआ है। महाभारत से ही नेमिनाथ सम्बन्धी निम्नलिखित उल्लेख उद्धृत किये जा सकते हैं। अशोकस्तारणस्तारः शरः शौरिजिनेश्वरः, १४९-५०; कालनेमि महावीर : शूरः शौरिजिनेश्वर : १४९-८२; शान्तिपर्व, २८८. ४, २८८.५-६)। ताक्ष्य ने सगर को उपदेश दिया कि मोक्ष सुख ही सर्वोत्तम सुख है। हम जानते हैं कि वैदिक विशेषतः ऋग्वेद दर्शन में मोक्ष को साध्य नहीं माना गया है, परन्तु ताक्ष्य अरिष्टनेमि

के उपदेश में मोक्ष साध्य माना गया है, अतः इस उपदेश का सम्बन्ध जैनधर्म के बाईसवे तीर्थकर अरिष्टनेमि से ही होना चाहिए। उनका व्यक्तित्व इतना प्रभावक था कि 'लंकावतार' में बुद्ध को भी अरिष्टनेमि कहकर उल्लिखित किया गया है। इसका मूल कारण उनकी अहिंसात्मक साधना है। इतिहास की दृष्टि से वे यदुवंशी कृष्ण के चचेरे भाई थे। इन उद्धरणों से अरिष्टनेमि का व्यक्तित्व ऐतिहासिक माना जाने लगा है।^{१३}

बाइसवें तीर्थकर अरिष्टनेमि : परम्परागत इतिहास -

भगवान् अरिष्टनेमि उस युग के तीर्थकर हैं जिस समय श्रीकृष्ण वासुदेव इस भारत भूमि में विद्यमान थे। अरिष्टनेमि का अपर नाम 'नेमिनाथ' भी है।

अर्हत् अरिष्टनेमि ३०० वर्ष पर्यन्त कुमार-वास में रहे। ५४ रात्रि दिवस छद्मस्थ अवस्था में रहे। ७०० वर्ष से कुछ कम वे अर्हत् अवस्था में रहे। इस प्रकार १००० वर्षों का आयुष्य पूर्ण होने पर वे परिनिर्वाण को प्राप्त हुए।

जीवन के अन्तिम समय में भगवान् अरिष्टनेमि ने उज्जयन्त गिरि पर ५३६ साधुओं के साथ अनशन कर लिया। भगवान् ने २० दिनों के अनशन में आषाढ़ शुक्ला अष्टमी की मध्य रात्रि चित्रा नक्षत्र के योग में शेष चार अघाती कर्मों का नाश कर निर्वाण-पद प्राप्त कर लिया। वे सिद्ध, बुद्ध और मुक्त हो गए। देवों एवं मनुष्यों ने उनका निहरण समारोह किया। जैन परम्परा के अनुसार उनके निर्वाण के ८४९८० वर्ष पश्चात् कल्पसूत्र की रचना हुई।^{१४}

अर्हत् अरिष्टनेमि के युग में तात्कालिक अनेक नरेशों एवं राजकुमारों ने भगवान् के पास प्रव्रज्या ग्रहण की। उनमें कुछ उल्लेखनीय व्यक्ति हैं -

निषधकुमार : ये राजा बलदेव के पुत्र थे। इनकी माता का नाम रेवती था। बलदेव श्रीकृष्ण के सौतेले अग्रज थे। वे वसुदेव की दूसरी रानी रोहिणी के पुत्र थे। जैन परंपरा में वासुदेव के बड़े भाई बलदेव या राम कहलाते हैं। इनकी गणना तिरसठ शलाका, पुरुषों में की जाती है। (२४ तीर्थकर, १२ चक्रवर्ती, ९ वासुदेव, ९ बलदेव, ९ प्रतिवासुदेव - इस प्रकार ६३ व्यक्ति प्रत्येक काल-चक्रार्ध में भरतक्षेत्र और ऐरावत् क्षेत्र पैदा होते हैं।)

निरयावलि : के पंचम वर्ग वणिहदसाओ (बारहवें उपांग) में निषध द्वारा भगवान् अरिष्टनेमि के द्वारा चारित्र-ग्रहण तथा अन्त में अनशन के आराधन द्वारा सर्वार्थसिद्ध नामक सर्वोत्कृष्ट अनुत्तर विमान में देव-रूप उत्पत्ति और अगले भव में मोक्ष-प्राप्त करने का वर्णन दिया गया है।

पांच पांडव और द्रौपदी : इतिहास-प्रसिद्ध महाभारत के योद्धा पांचों पाण्डवों एवं द्रौपदी का विस्तृत आख्यान नायाधम्मकहाओ, (ज्ञाताधर्मकथांग सूत्र) के १६वें अध्ययन में उपलब्ध है। ऐतिहासिक दृष्टि से यह बहुत महत्वपूर्ण है। अन्त में पांच पाण्डवों स्थविरों के पास प्रव्रज्या-ग्रहण करते हैं। पांच पांडव चतुर्दशपूर्वों का अध्ययन करते हैं तथा अनेक वर्षों तक नानाविध तपस्या करते हैं। द्रौपदी आर्या सुव्रता के पास दीक्षित होकर ग्यारह अंगों का अध्ययन करती है तथा अनेक वर्षों तक नानाविध तपस्या करती है।

जब बाईसवें तीर्थंकर अरिष्टनेमि अपने अंतिम समय में सुराष्ट्र (सौराष्ट्र) जनपद में विहरण कर रहे थे, तब पांचों पाण्डव मुनियों ने भगवान् के दर्शन करने सुराष्ट्र-जनपद की ओर विहार किया। मार्ग में हस्तकल्प नगर में उन्हें यह संवाद प्राप्त हुआ कि अरिष्टनेमि भगवान् उज्जयंत पर्वत पर एक मास का अनशन पूर्णकर निर्वाण को प्राप्त हो गए हैं, तब वे भी शत्रुंजय पर्वत पर आरोहण कर अनशन स्वीकार कर लेते हैं। दो मास का अनशन पूर्णकर अन्त में केवलज्ञान उपार्जन कर निर्वाण प्राप्त करते हैं। द्रौपदी आर्या भी बहुत वर्षों तक श्रामण्य-पर्याय की आराधना कर, अन्त में एक मास का अनशन का कालधर्म को प्राप्त होने पर पाँचवें दवलोक में देव के रूप में उत्पन्न होती है। वहाँ से उसका जीव आयुष्य पूर्ण कर महाविदेह क्षेत्र में उत्पन्न होकर निर्वाण प्राप्त करेगा।

राजीमति : भोजराज उग्रसेन की पुत्री राजीमति जिसके साथ अरिष्टनेमि का पाणिग्रहण होने वाला था। अरिष्टनेमि के द्वारा छोड़ दिये जाने पर जो दुःखी थी उसे अरिष्टनेमि के एक अनुज था। रथनेमि जो राजीमति के प्रति आसक्त होकर उससे मिलता है और विवाह का प्रस्ताव रखता है। पर राजीमति स्वयं विषयभोगों से विरक्त हो चुकी थी। उसने रथनेमि को भी समझा दिया।

थावच्चापुत्र : द्वारिका की प्रसिद्ध श्राविका थावच्चा का पुत्र अपनी माँ के नाम से प्रसिद्ध हुआ। माता के द्वारा संसार के स्वरूप की जानकारी प्राप्त कर थावच्चापुत्र उत्सुकता से अरिष्टनेमि के आगमन की प्रतीक्षा करने लगा। कुछ समय बाद उनका आगमन हुआ। वह अपनी माँ के साथ भगवान् के समवसरण में

गया। उनका प्रवचन सुना। प्रतिबुद्ध हुआ और माँ की आज्ञा लेकर भगवान् के पास दीक्षित हो गया। उन्होंने ३२ पत्नियों को त्याग कर हजार पुरुषों के साथ प्रव्रज्या ली। उनकी प्रव्रज्या रैवतक पर्वत के नन्दनवन में हुई। उस समय अरिष्टनेमि इस वन के सुरप्रिय यक्ष के यक्षातयन में विरजते रहे थे। थावच्चापुत्र के साथ प्रव्रजित सहस्र पुरुषों को, उन्हें ही शिष्य के रूप में सौंप दिया था।

गौतम आदि दस अन्धक-वृष्णि-धारिणी के पुत्र : अन्तगडदसाओं प्रथम वर्ग में बताया गया है कि द्वारवती के राजा अन्धक-वृष्णि की धारिणी रानी से उत्पन्न गौतम, समुद्र, सागर, गंभीर, स्तिमित, अचल, कांपित्य, अक्षोभ, प्रसेन और विष्णु- इन दस राजकुमारों ने भगवान् अरिष्टनेमि के पास प्रव्रज्या ग्रहण कर, ग्यारह अंगों का अध्ययन कर, बारह भिक्षु-प्रतिमाओं (विशेष तपःसाधना) को पूर्ण कर, गुणरत्न तप कर अंत में शत्रुंजय पर्वत पर एक मास की संलेखना कर, बारह वर्ष चारित्र-पर्याय का पालन कर सिद्ध हुए।

अक्षोभ आदि आठ अन्धक वृष्णि धारिणी के पुत्र : इनका भी वर्णन अंतगडदसाओं, द्वितीय वर्ग में है, जो पूर्ववत् हैं केवल इतना अन्तर है कि इनकीदीक्षा पर्याय सोलह वर्ष बताई गई। इन आठ में कुछ नाम तो वे ही हैं, जो अंतगडदसाओं, प्रथमवर्ग में बताए गए हैं, कुछ नाम भिन्न हैं।

रानियों की प्रव्रज्या : श्रीकृष्ण की रानियां पद्मावती, गौरी, गान्धारी, लक्षणा, सुसीमा, जम्बूवती, सत्यभामा, रूक्मिणी, मूलश्री और मूलदत्ता ने भगवान् अरिष्टनेमि द्वारा साध्वीप्रमुखा आर्या यक्षिणी के माध्यम से मुंडित होकर प्रव्रजित हुई तथा अन्त में निर्वाण प्राप्त किया। (५/१-४३)

अर्हत् अरिष्टनेमि : ऐतिहासिक प्रमाणों के परिप्रेक्ष्य में : भगवान् अरिष्टनेमि के जीवन-वृत्त को हमने जैन साहित्य के आधार पर देखा। उत्तराध्ययन ज्ञाताधर्म-कथा आदि के प्रमाण अपने आप में उतने ही महत्वपूर्ण ऐतिहासिक साक्ष्य हैं, जितने अन्य वाङ्मय के। जैन आगमों के इन विवरणों की ऐतिहासिकता के संदेह से परे होने पर भी हम वैदिक एवं बौद्ध साहित्य के आधार पर तथा पुरातत्त्वीय उल्लेखों के आधार पर भी बाईसवें तीर्थंकर श्री अरिष्टनेमि, उनके और श्रीकृष्ण वासुदेव के सम्बन्ध आदिके विषय में कुछ और ठोस साक्ष्यों की चर्चा करने जा रहे हैं।

वैदिक काल के अंतिम भाग में ही पशुबलि के विरोध में एक लहर चल पड़ी थी। मगधनरेश वसु विद्योपरिचर के समय में पर्वत-नारद उसी प्रश्न को लेकर हुआ था। इस घटना के विषय में जैन एवं ब्राह्मण दोनों अनुश्रुतियाँ एकमत हैं। अपने बन्धु तीर्थंकर अरिष्टनेमि के विचारों से प्रभावित कृष्ण वासुदेव और उसके भाई बलराम भक्तिप्रधान अहिंसाधर्म की इस लहर के अनुयायी एवं सबल पोषक थे।

महाभारत के उपरान्त काल में कुछ वैदिक ब्राह्मणों को छोड़कर शेष बहुभाग समाज इसी लहर का अनुयायी होता चला गया। उसके नेता प्रमुखतः क्षत्रिय लोग थे।

वेदों का अस्तित्व पांच हजार वर्ष प्राचीन माना जाता है। उपलब्ध साहित्य श्रीकृष्ण के युग का उत्तरवर्ती है। इस साहित्यिक उपलब्धि द्वारा कृष्ण-युग तक का एक रेखाचित्र खींचा जा सकता है। उससे पूर्व की स्थिति सुदूर अतीत में चली जाती है। वेदों में एक ऋचा है जिसमें 'अरिष्टनेमि' का नाम मिलता है -

इसमें आये हुए अरिष्टनेमि अर्हत् अरिष्टनेमि ही हैं या कोई अन्य, यह अभी खोज का विषय है, पर कुछ विद्वान् मानते हैं कि ये उल्लेख अर्हत् अरिष्टनेमि विषयक हैं।

डॉ. राधाकृष्णन् लिखते हैं - 'यजुर्वेद में ऋषभदेव, अजितनाथ तथा अरिष्टनेमि इन तीन तीर्थंकरों का उल्लेख पाया जाता है।'^{१६}

जैन आगमों के अनुसार श्रीकृष्ण के आध्यात्मिक गुरु तीर्थंकर अरिष्टनेमि थे।^{१७} घोर आंगिरस ने श्रीकृष्ण को जो उपदेश दिया है, वह जैन परम्परा से भिन्न नहीं है। 'तू अक्षित अक्षय है, अच्युत-अविनाशी है और प्राण-संशित-अतिसूक्ष्मप्राण है।' इस त्रयी को सुनकर श्रीकृष्ण अन्य विद्याओं के प्रति तृष्णाहीन हो गए। जैन दर्शन आत्मवाद की भित्ति पर अवस्थित है। घोर आंगिरस ने जो उपदेश दिया, उसका सम्बन्ध आत्मवादी धारणा से है। 'स्थितभाषिय' में आंगिरस नाम प्रत्येक-बुद्ध का उल्लेख है। वे भगवान् अरिष्टनेमि के

शासनकाल में आए थे। इस आधार पर यह संभावना की जा सकती है कि घोर आंगिरस या तो अरिष्टनेमि के शिष्य या उनके विचारों से प्रभावित कोई संयासी रहे होंगे।

ऋग्वेद में 'अरिष्टनेमि' शब्द चार बार आया है। 'स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः' (ऋग्वेद, १/१४।८९१६) में अरिष्टनेमि शब्द भगवान् अरिष्टनेमि का वाचक होना चाहिए। महाभारत में 'तार्क्ष्य' शब्द अरिष्टनेमि के पर्यायवाची नाम के रूप में प्रयुक्त हुआ है। तार्क्ष्य रिष्टनेमि ने राजा सगर को जो मोक्ष विषयक उपदेश दिया उसकी तुलना जैन-धर्म के मोक्ष संबन्धी सिद्धान्तों से होती है। वह उपदेश इस प्रकार है :-

“सगर ! संसार मोक्ष का सुख ही वास्तविक सुख है, परन्तु जो धन-धान्य के उपार्जन में व्यग्र तथा पुत्र और पशुओं में आसक्त है, उस मूढ़ मनुष्य को उसका यथार्थ ज्ञान नहीं होता। जिसकी बुद्धि विषयों में आसक्त है, जिसका मन अशान्त बंधन में बंधा हुआ है, वह मूढ़ मोक्ष पाने के लिए योग्य नहीं होता।

इस समूचे अध्याय में संसार की असारता, मोक्ष की महत्ता, उसके लिए प्रयत्नशील होने और मुक्त के स्वरूप का निरूपण है। सगर के काल में वैदिक लोग मोक्ष में विश्वास नहीं करते थे, इसलिए यह उपदेश किसी वैदिक ऋषि का नहीं हो सकता। यहाँ 'तार्क्ष्य' अरिष्टनेमि का प्रयोग भगवान् अरिष्टनेमि के लिए ही होना चाहिए।

प्रभासपुराण में अरिष्टनेमि और श्रीकृष्ण का संबन्धित उल्लेख है। अरिष्टनेमि का रेवत (गिरनार) पर्वत से भी सम्बन्ध बताया गया है और वहाँ बताया गया है कि वामन ने नेमिनाथ को शिव के नाम से पुकारा था। वामन ने गिरनार पर बलि को बाँधने का सामर्थ्य पाने के लिए भगवान् नेमिनाथ के आगे तप किया था।

इन उद्धरणों से श्रीकृष्ण और अरिष्टनेमि के परिवारिक तथा धार्मिक संबन्ध की पुष्टि होती है। उत्तराध्ययन कमे बाईसर्वे अध्ययन से भी यही प्रमाणित होता है।

प्रोफेसर प्राणनाथ ने प्रभास पाटण से प्राप्त ताम्रपत्र को इस प्रकार पढ़ा है- रेवा खण्ड : प्रकरण : नगर के राज्य के स्वामि सु - जाति के देव नेवुशर नेजर आए है। वह वदुराज के स्थान (द्वारिका) आए हैं। उन्होंने मंदिर बनवाया है। सूर्य- देवनेमि कि जो स्वर्ग समान रेवत पर्वत के देव हैं (उन्हें) सदैव के लिए अर्पण किया।

बावल के सम्राटों में नेवुशर और नेजर नामक दो सम्राट् हुए हैं। पहले का समय ई. सन् से लगभग दो हजार वर्ष पहले है और दूसरे ई. सन् पूर्व छठी या ७ शती में हुए हैं। इन दोनों में से एक ने द्वारिका आकर रेवत (गिरनार) पर्वत पर भगवान् नेमिनाथ का मंदिर बनवाया था। इस प्रकार साहित्य व ताम्र-पत्र-लेख दोनों से अरिष्टनेमि का अस्तित्व प्रमाणित होता है।

संदर्भ :

१. ऋग्वेद १०, १७८.९
२. ऋग्वेद १.८०.१०

३. यजुर्वेद २५.१
४. स्कन्धपुराण, प्रभास खण्ड
५. प्रभासपुराण
६. बौद्धधर्म दर्शन, पृ. १६२
७. नन्दी, पृ. १६२
८. इसिभासियाई, पढमा संगहणी, गाथा-१
९. इसिभासियाई, पढमा संगहणी, गाथा-२-३
१०. (अंगुतरनिकाय, धम्मिकसूख, भाग, ३, पृ. ३७३)
११. डॉयलाग्स आफ द बुद्ध - भाग ३, पृ. ६०
१२. भारतीय इतिहास, एक दृष्टि, पृ. ४५
१३. हरिवंशपुराण (वैदिक) १.३३.१
१४. कल्पसूत्र सू. १६९
१५. इसिभासियाई, पृ. २९७, परिशिष्ट १, गाथा पत्तेय बुद्धमिसिणो वीसं तित्थ अरिट्ठणेमिस्स।
(Indian Philosophy vol. ip-287: "The Yajurveda mentions the name
of there Tirthankaras- Rishabha.
१७. ज्ञाताधर्मकथा पृ. १०५

- सहायक आचार्य,
संस्कृत एवं प्राकृत विभाग, जैन विश्व भारती संस्थान,
लाडनूँ - ३४१३०६ (राजस्थान)

क्षपक की मनोवैज्ञानिकता : सल्लेखना के सन्दर्भ में

- प्राचार्य पं. निहालचंद जैन

जीवन और मृत्यु का अनादि प्रवाह तब तक है, जब तक जीव की मुक्ति नहीं हो जाती। जो जीवन के सौन्दर्य व शिवत्व को पहचान लेते हैं, उनके लिए मृत्यु, मंगल महोत्सव बन जाती है। जैसे रात्रि में से अरुणोदय होता है और अरुणोदय में ही रात्रि का निर्माण होता है, ऐसे ही जीवन में मृत्यु का फल लगता है और मृत्यु में जीवन का। जिनका जीवन संयम और तप आराधना में व्यतीत होता है, उन्हें मृत्यु भयकारक नहीं लगती। जिन्होंने जीवन आनन्द, अनुग्रह और अनासक्ति में जिया है, वे मुस्कराते हुए मरते हैं।

कबीर इसे कहते हैं - “ज्यों की त्यों धर दीन्ही चदरिया”।

मुनि क्षमासागर जी ने एक कविता में कहा -

मौत ने आकर। उससे पूछा -

मेरे आने के पहिले वह क्या करता रहा?

उसने कहा - आपके स्वागत में पूरे होश और जोश से जीता रहा।

मौत ने उसे प्रणाम किया और कहा- अच्छा जियो/ अलविदा !

एक अनासक्त साधक के लिए - मौत जीवन की परीक्षा है। जीवन का मूल्यांकन करने वाली कसौटी। तभी तो मुनि क्षमासागर जी कहते हैं -

जीवन भर/ मौत हमारा इम्तिहान लेती है,

एक एक सांस / गिन गिन कर लेती और देती है।

हमने, जीवन भर क्या खोया? क्या पाया?

इसका लेखा- जोखा - अंत में यही आकर तो लेती है।

जैन साधक चाहे वह ब्रती श्रावक हो या साधु हो, मृत्यु को निकट जानकर सभी प्रकार के विषाद को छोड़कर समता पूर्वक देह त्याग करना समाधिमरण या सल्लेखना है। सल्लेखना है- काय व कषायों को भली तरह से कृश करने का। जब शरीर ही उसकी संयम साधना में बाधक बनने लगे तो यह सोचकर कि शरीर तो पुनः मिल सकता है लेकिन जो व्रत, संयम, धर्म मैंने धारण किये

हैं वे अमूल्य निधि हैं, दुर्लभता से प्राप्त हुए हैं, इनकी सुरक्षा के लिए ऐसा प्रयास किया जाना चाहिए कि यह बारबार धारण न करना पड़े। ऐसी भावना से देहोत्सर्ग करना - सल्लेखना है।

वस्तुतः सल्लेखना को साधना का अंतिम चरण माना गया है। यह जीवन भर के तप का फल है। जैसे विद्यार्थी परीक्षा में न बैठे तो वर्ष भर की पढ़ाई व्यर्थ चली जाती है, उसी प्रकार सल्लेखना पूर्वक मरण न होने पर जीवन भर की साधना का वास्तविक फल नहीं मिल पाता है। जैसे मंदिर के शिखर की शोभा उसके कलशारोहण से है, वैसे ही सल्लेखना- तप-साधना के शिखर का कलशारोहण है।

क्षपक का स्वरूप -

सल्लेखनागत आचार्य या साधु क्षपक कहलाता है। आ. पूज्यपाद स्वामी ने सर्वार्थसिद्धि में क्षपक का स्वरूप कहा - “कर्मों के उपशमन में तत्पर, तप साधना में संलग्न चारित्रमोह को क्षपणा के लिए सन्मुख शील धारी जो साधक सन्त हैं और जो परिणामों की विशुद्धि में अग्रसर हैं, वह क्षपक कहलाता है।” क्षपक मुख्यतः दो कारणों से प्रेरित होकर सल्लेखना हेतु दृढ़ विचार करता है -

(१) भले ही दुर्भिक्ष आदि का भय नहीं है। लेकिन वह विचारता है कि यदि मैं इस समय भक्त प्रत्याख्यान न करूँ और आगे निर्यापकाचार्य भी कदाचित न मिले, तब मैं ‘पण्डित मरण’ की साधना से वंचित रह जाऊँगा।

(२) वह विचारता है कि जिस सम्यक्त्वाराधना रूप धर्म को बहुत समय से धारण किया है, यदि मरण समय में छोड़ दिया जावे, या कारणवश उसकी विराधना हो जाए तो वह धर्म निष्फल हो जायेगा, अस्तु कर्मों की निर्जरा के लिए सल्लेखना धारण करना योग्य है।

क्षपक द्वारा ‘परगण’ ग्रहण -

सल्लेखना इच्छुक यदि आचार्य क्षपक हैं, तो वह अपने गण से पूछकर उत्कृष्ट रूप से प्रवृत्ति करने के लिए दूसरे गण में जाने का विचार करता है। क्योंकि अपने गण में रहने से - आज्ञाकोप, कठोर वचन, कलह, दुःख, स्नेह, करुणा, ध्यान विघ्न और असमाधि - ये नौ दोष होने की संभावना हो सकती है, किन्तु परगणवासी आचार्य में उक्त दोष नहीं होते। सल्लेखनाधारी आचार्य क्षपक अपनी आयु स्थिति का विचार कर शुभ दिन शुभकरण या शुभ नक्षत्र में अपने संघ को किसी गुणसंपन्न युवाचार्य के हाथों में सौंपकर, गण त्याग करने के लिए तैयार हो जाते हैं। वह संघ को त्याग करते समय जिन बाल वृद्ध मुनिजनों के साथ लम्बे समय तक रहने से उत्पन्न हुए ममत्व, स्नेह, राग अथवा द्वेष वश जो कठोर वचन कहें हों, उनके लिए क्षमा माँगता है। उस समय आचार्य क्षपक - गणी एवं गण को शिक्षा देते हुए कहते हैं कि जैसे उद्गम स्थल से छोटी नदी आगे आगे बढ़ती हुई विस्तार को प्राप्त हो, समुद्र तक पहुँच जाती है, वैसे ही आप सभी शील व गुणों में वृद्धिगंत हों। शिक्षा देते हुए आचार्य क्षपक छह आवश्यकों के परिपालन में प्रमाद

न करने को, ईर्या भाषादि पंच समितियों के पालन में तथा तीन गुप्तियों के पालन में तत्पर रहने को कहते हैं। वे कहते हैं कि दुष्ट इन्द्रियों को जीतना तथा स्पर्शादि विषय में आसक्त न होते हुए निराकुल होकर ज्ञान व चरित्र की आराधना करना।

शिक्षा देने के उपरान्त, आचार्य क्षपक से भी गण के समस्त साधुजन पंचांग नमस्कार पूर्वक मन वचन काय से क्षमा माँगते हैं।

समाधिमरण करने वाला क्षपक अपना गण त्यागकर परगण में समाधि हेतु गमन करता है। जिन आचार्य के सान्निध्य में क्षपक सल्लेखना लेता है, उन्हें निर्यापकाचार्य, तथा जो मुनि क्षपक की सेवा-सुश्रुषा देखभाल करते हैं, वे परिचारक कहलाते हैं। सल्लेखनार्थी को आता देखकर बड़े वात्सल्यभाव से परगण के साधुओं को आदरपूर्वक खड़े होकर उसे ग्रहण करना चाहिए।

क्षपक और परगणस्थ मुनि की परस्पर परीक्षा -

आगन्तुक क्षपक और परगणस्थ मुनि प्रतिलेखना द्वारा एक दूसरे के चरण यानी समिति और गुप्ति और करण यानी षडावश्यक को जानने के लिए परीक्षा करते हैं। यह ७ बातों के लिए की जाती है - प्रतिलेखन, वचन, ग्रहण, निक्षेप, स्वाध्याय, विहार और भिक्षा ग्रहण। फिर क्षपक द्वारा सहायता हेतु निवेदन करने पर परगण का आचार्य उसकी वसति-संस्तर देकर तीन रात सहायता करे और भली प्रकार परीक्षा करके संघ में स्वीकार करते हैं। क्षपक का आत्म समर्पण- क्षपक आचार्यवर से प्रार्थना करता है कि आप श्रमण संघ के निर्यापक हैं, मैं आपके सान्निध्य में रहकर श्रामण्य को उद्द्योतित करना चाहता हूँ।

परगण के आचार्य को आश्वासन -

हे मुनिवर क्षपक ! बाह्याभ्यन्तर परिग्रह का त्यागकर तुम बिना किसी बाधा के रत्नत्रय रूप उत्तमार्थ की साधना करो और निराकुल होकर हमारे संघ में ठहरो। चित्त व्याकुल नहीं करना। हम सभी वैयावृत्यकारक अपने सहयोगियों से इस विषय में विचार करते हैं। आचार्य यह देखते हैं कि क्षपक की मिष्टाहारों में लोलुपता है या ग्लानि है? आचार्य अपने संघ के बीच क्षपक को उपदेश देते हैं - हे क्षपक ! तुम सुखशीलता को त्यागकर परिषहों को सहन करते हुए चरित्र को धारण करो। अपनी इन्द्रियों को विषयों की ओर जाने से रोकना। उत्तम क्षमादि धर्मों के द्वारा कषायों पर विजय पाओ, इससे आप जितेन्द्रिय बनोगे। यद्यपि आप पूर्व अपने गण में छत्तीस मूलगुणधारी, प्राश्चित शास्त्र के ज्ञाता विद्वान आचार्य रहे हो, फिर भी अपने दोषों की आलोचना अवश्य करनी चाहिए, अन्यथा व्रतों की शुद्धि नहीं होती।

आलोचना हेतु प्रेरणा -

हे क्षपक ! दीक्षाग्रहण से लेकर आज तक रत्नत्रय में लगे दोषों या अतिचारों को निःसंकोच होकर एकाग्रता से कहो और उनकी आलोचना करो। यदि कोई काँटे कीतरह अपने दोष नहीं निकालता, वह माया-शल्य से विद्ध होकर अशान्त, दुःखी और भयभीत रहता

है और जो सरलता से अपने दोषों को कह देता है वह निशल्य बन प्रायश्चित्त द्वारा आत्मा को निर्मल करते हैं। उनकी ही समाधि सिद्ध होती है। अतः हे क्षपक ! माया शल्य से रहित होकर गुरु द्वारा दिये प्रायश्चित्त को करके पूर्ण भावशुद्धि के साथ सल्लेखना धारण करो। आचार्य के इस प्रकार के उपदेश से क्षपक अत्यन्त रोमांचित होकर समस्त दोषों का स्मरण करता है और आचार्यश्री के पादमूल में प्रायश्चित्त लेने को उद्यत होता है।

योग वसति में संथरा -

समाधि हेतु उद्यत क्षपक के लिए आचार्य उसके योग्य वसति में संथरा स्थापित करते हैं। संथरा पर्याप्त प्रकाश युक्त, स्थूल-सूक्ष्म जीवों से रहित, मजबूत दीवारें व कपाट सहित गांव के बाहर या किसी उद्यान अदि में हो जहाँ चतुर्विध संघ जा सके।

क्षपक का संस्तर - पृथ्वीमय, लकड़ी का फल या तृणों का बनाया जा सकता है। जिस पर पूर्व या उत्तर की ओर सिर रखकर क्षपक को आरोहण कराया जाता है। संस्तरारूढ़ क्षपक की परिचर्या का संपूर्ण दायित्व आचार्य श्री संघ के यतियों को सौंपते हैं। जो क्षपक के शरीर को दबाने, सहलाने, करवट दिलाने, उठने-बैठने-चलने में सहायता करते हैं। धर्मकथा सुनाकर क्षपक के चित्त को स्थिर करते हैं। भोजन-पान शोध कर क्षपक को आहार कराते हैं। वे मल-मूत्र को उठाने और वसति, संस्तर व उपकरणों को शोधन कार्य भी करते हैं।

निर्यापकाचार्य - पहले यह देखते हैं कि क्षपक के मन में किसी आहार विशेष की उत्सुकता तो नहीं है। अतः वह उत्तम भोजन पात्रों में अलग अलग भोज्य सामग्री दिखाकर मनोज्ञ आहार लेने के लिए पूछता है। क्षपक विरक्त होकर ये विषयानुराग बढ़ाने वाले हैं ऐसा सोचकर उनका त्याग करता है। परन्तु यदि क्षपक दिखाए हुए आहार के स्वादिष्ट रस में लुब्ध होकर किसी वस्तु को बार बार खाने की इच्छा करता है तो आचार्य क्षपक के मन से सूक्ष्म शल्य निकालने के लिए विशेष उपदेश देकर आहार से विरक्ति करवाते हैं। वे एक एक आहार का दोष बताकर त्याग करवाते हैं। इसके बाद क्रमशः अशन, खाद्य और स्वाद्य पदार्थों का त्याग कराकर पानक आहार देते हैं। फिर क्षपक को आचाम्ल का सेवन कराया जाता है जो कफ क्षयकारक, पित्त शान्तकारक और वात से रक्षा करता है। पेट के मल की शुद्धि के लिए विरेचन और अनुवासन कराते हैं।

फिर निर्यापकाचार्य क्षपक को संघ के मध्य चारों प्रकार के आहार का त्याग कराते हैं। आहार प्रत्याख्यान के बाद क्षपक आचार्य, शिष्य, साधर्मि और गण के सम्बन्ध में जो कषायें होती हैं, उन्हें निकाल देता है। धर्मानुराग प्रकट करते हुए हाथ जोड़ प्रमाण पूर्वक समस्त मुनिसंघ से मन वचन काय कृत-कारित-अनुमोदना से पूर्व में किये सब अपराधों की निःशल्य होकर क्षमा माँगता है और स्वयं संघ को क्षमा कर उत्कृष्ट वैराग्य के साथ तप और समाधि में लीन होकर कर्मों की निर्जरा करता है।

क्षपक के कर्तव्य -

(१) क्षपक को सम्पूर्ण सुख शीलता का त्याग कर परीषहों को सहने का भीतर से संकल्प रूप शक्ति बढ़ावे। सुखशील मुनि भोजन, उपकरण और वसति का शोधन नहीं करता।

(२) क्षपक को ऋद्धि रस और सात गारव को नष्ट करके, राग-द्वेष का मर्दन करके आलोचना से आत्म-शुद्धि करे।

(३) आचार्य के समक्ष अपने अपराध का निवेदन कर प्रायश्चित्त के लिए कहे। क्योंकि प्रायश्चित्त से चित्त की शुद्धि होती है। जैसे निपुण वैद्य रोगी होने पर दूसरे वैद्य से इलाज करवाता है उसी प्रकार प्रायश्चित्त विधि को जानकर भी अपनी विशुद्धि के लिए पर की साक्षी पूर्वक प्रायश्चित्त लेता है।

(४) क्षपक को मिथ्यादर्शन शल्य, माया शल्य, निदान शल्य अथवा भाव व द्रव्य शल्य को गुरु की साक्षी में निकाल देना चाहिए। जो मुनि शल्य सहित मरण करते हैं, वे दुर्गति में जाते हैं।

(५) जैसे बालक कार्य हो या अकार्य हो सरल भाव से कह देता है, कुछ छिपाता नहीं है। वैसे ही क्षपक मनोगत कुटिलता और वचनगत झूठ को त्यागकर अपना अपराध स्वीकार कर लेता है।

निर्यापकाचार्य का क्षपक को अंतिम उपदेश (कर्ण जाप) -

निर्यापकाचार्य संस्तरारूढ़ क्षपक को संसार से भय और वैराग्य उत्पन्न करने वाली शिक्षा उसके कान में देते हैं -

- i. मिथ्यात्व का त्याग करो। श्रुतज्ञान में सदा उपयोग लगाओ। क्रोधादि कषायों का निग्रह करो।
- ii. ज्ञान के बिना चित्त निग्रह नहीं होता। अतः हे क्षपक ! तुम ज्ञानोपयोग में चित्त को लगाओ। गुप्तियाँ पापों को रोकती हैं अतः तुम निरन्तर ध्यान-स्वाध्याय में रहकर त्रियोग में सावधान रहो।
- iii. अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह महाव्रतों की पाँच-पाँच भावनाओं को निरन्तर स्मरण करते हुए इनकी भावना भाते रहो जिससे व्रतों में दोष न लगने पावे।
- iv. घोर तपस्वी भी भोगों का निदान करके, अपना मुनिपद नष्ट कर संसार बढ़ाता है। जैसे केले के तने में कुछ सार नहीं है ऐसे ही ये भोग हैं। अतः भोगों का निदान छोड़ो।
- v. निद्रा पर विजय प्राप्त करो।
- vi. सुख और शरीर में आसक्त मत होओ। तप तपो, थोड़ा भी तप वट-बीज की तरह बहुत फल देता है।

उक्त शिक्षा से क्षपक का मन शान्त होकर प्रसन्नता से खिल उठता है।

विघ्नकारी वेदना होने पर -

क्षपक के कर्मोदय से, यदि तीव्र वेदना होवे, वह व्याकुल होकर कुछ भी बकने लगे, संयम से च्युत हो असंयम में ही भोजन पान माँगने लगे, तो आचार्य पहिले उपचार कर वेदना दूर करने का उपाय करता है, पसीना लाना, एनिमा, लेप लगाना, मालिश, अंगमर्दन या जलसेवन आदि उपायों से वेदना शान्त करे। असंयम च्युत होते देख उसे पिछली बातों का स्मरण कराना चाहिए ताकि उसका यथार्थ ज्ञान लौट आवे। आचार्य वात्सल्य भाव से अनुकूल उपेक्ष देता रहे। अतीत में तुमने परवश होकर बहुत वेदनाएँ सही तो इस समय धर्म मानकर अपनी इच्छाशक्ति से इनको सहन करो। हे क्षपक ! तुमने अर्हन्तदेव की साक्षीपूर्वक व्रत लिए हैं, उन्हें भंग करना ठीक नहीं है। शरीर से ममत्त्व त्यागो। वह समभावी बने रहने के लिए बराबर प्रियवचन कहता रहे।

समाधिमरण करने वाला क्षपक - प्रतिक्रमण, प्रत्याख्यान और सामयिक (कायोत्सर्ग) करता हुआ, देह व आत्मा को पृथक् पृथक् अनुभव करे। तथा क्रमशः काय व कषाय को क्षीण करता हुआ यह विचार करे कि -

भीतर बैठे आत्मदेव हैं, काया तो मंदिर है।

सामयिक में शेष रह गया, केवल अजर-अमर है।

- निदेशक, वीर सेवा मंदिर

२१ दरियागंज, नई दिल्ली-११०००२

पर्यावरण, आर्थिक विकास और जैन धर्म के सिद्धान्त

- डॉ. संगीता मेहता

पर्यावरण संरक्षण जैन जीवन शैली का मूलाधार है। समग्र जैन वाङ्मय में पर्यावरण विषयक सूक्ष्म चिन्तन व्याप्त है। मनुष्य के चारों ओर व्याप्त भूमंडल, वायुमंडल, जलमंडल और जीवमंडल ही पर्यावरण है। तत्त्वार्थसूत्र में लिखा है-

संसारिणस्त्रस स्थावराः।

पृथिव्यप्तेजोवायु वनस्पतयः स्थावराः। २/१२.१३

अर्थात् जीव सृष्टि त्रस और स्थावर दो प्रकार की है। पृथ्वी, जल, अग्नि वायु और वनस्पति ये पांच स्थावर जीव हैं। इन सब से मिलकर सृष्टि का निर्माण हुआ। इस तरह सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड जीव तत्त्व से ओतप्रोत है और संपूर्ण पर्यावरण एक जीवन्त इकाई है और इसमें “परस्परोग्रहो जीवानाम्” कहकर बताया है कि प्रत्येक जीव एक दूसरे पर आश्रित है, सहयोगी है, पूरक है।

प्रत्येक जीव में सहअस्तित्व और एकत्व ही भावना है। आचारांग सूत्र^१ में कहा भी है कि जिसे तू मारने योग्य समझ रहा है वह वास्तव में तू ही है, जिसे आज्ञा योग्य मानता है वास्तव में वह तू ही है, जिसे परिताप देने योग्य समझ रहा है वास्तव में वह तू ही है, जिसे पकड़ने योग्य समझ रहा है वास्तव में वह तू ही है, जिन्हें प्राणहीन करना चाहता है वास्तव में वह तू ही है। इस प्रकार यदि इन जीवों का अस्तित्व है तो ही हमारा अस्तित्व है। अतः हमारे अस्तित्व की रक्षा के लिए पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति तथा प्राणी जगत की सुरक्षा हमारा कर्तव्य है। आचार्य समन्तभद्र ने कहा है -

क्षिति-सलिल-दहन पवनारम्भं विफलं वनस्पति छेद्म।

सरणं सारणमपि च प्रमादचर्या प्रभाषन्ते॥२

अर्थात् बिना प्रयोजन भूमि खोदना, जल बहाना, अग्नि जलाना, पंखा चलाना, वृक्षों को उखाड़ना, पत्र, पुष्प, डाल, फलादि को छिन्न-भिन्न करना प्रमादपूर्ण आचरण है। इसलिये बिना प्रयोजन इन कार्यों को नहीं करना चाहिए। जबकि आज मनुष्य यही प्रमाद कर रहा है। इसीलिए भूमि, जल, वायु, ध्वनि और प्रदूषण विकराल रूप ले रहे हैं। आज इच्छा और भोगवादी दृष्टिकोण ने हिंसा को जन्म दिया है साथ-साथ पर्यावरण संतुलन का विनाश किया। इन परिस्थितियों में अहिंसा आत्मशुद्धि के साथ पर्यावरण संतुलन का श्रेष्ठ मार्ग है।

जैनधर्म का मूलाधार अहिंसा है। अहिंसा केवल धर्म या दर्शन नहीं अपितु जीवन जीने की समग्र शैली है। जैन ऋषियों ने अहिंसा को अनेक पहलुओं से देखा, पर्यावरण विज्ञान उनमें से एक है। अहिंसा से तात्पर्य केवल बाह्य शरीर की हिंसा का अभाव नहीं है अपितु मन, वचन और कर्म से किसी जीव को आघात तक नहीं पहुँचाना है। इस भावना से पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, वनस्पति और प्राणी जगत की रक्षा से अहिंसा के द्वारा सभी प्रकार के प्रदूषण से मुक्ति सम्भव है।

पर्यावरण संतुलन का समग्र चक्र वनस्पति पर आधारित है। वृक्ष कार्बनडाई ऑक्साइड ग्रहण कर शुद्ध प्राणवायु ऑक्सीजन के रूप में प्रदान करते हैं। वर्षा चक्र को नियमित करते हैं। अतिवृष्टि के समय जल अवशोषित कर भूमिगत कर देते हैं। प्राणी जगत को पर्याप्त आहार प्रदान करते हैं। ये जल, फल, शुद्ध, ईंधन तो देते हैं साथ ही प्राणीमात्र की रक्षा भी करते हैं। प्रत्यक्ष देखा गया है कि गैस त्रासदी, सुनामी, बाढ़ जैसी घोर विपदाओं को पहले स्वयं वृक्षों ने सहन किया तथा मनुष्य और जीवों की रक्षा की। कृषि से खाद्यान्न तथा वन संपदा से प्राप्त ईंधन, लकड़ी, औषधि आदि से अनेक प्रकार के उद्योग धंधे विकसित होते हैं इस दृष्टि से वन संपदा की रक्षा तथा अवैध कटाई पर रोक से पर्यावरण सुरक्षित और अर्थ तंत्र विकसित होगा।

शाकाहार ही श्रेष्ठ आहार है। जैनधर्म में मद्य, मांस और मधु के सेवन और उत्पादन का निषेध³ किया है।⁴ पर्यावरण की दृष्टि से मांसाहार प्रदूषित तथा स्वास्थ्य की दृष्टि से कुपाच्य, तथा रोगकारी होता है। आर्थिक दृष्टि से देखा जाय तो मांस के उत्पादन और सुरक्षा में अधिक समय, स्थान और धन का व्यय होता है। सामान्यतः कृषि से वर्ष में दो बार आय होती है वही मांस के उत्पादन में वर्षों लगते हैं।

वर्तमान में मांस उत्पादन से जलाभाव की समस्या उग्र रूप ले रही है। शोध के आँकड़े बताते हैं कि १ पौंड के उत्पादन में पानी खपत टमाटर के लिए (२३ गैलन), आलू (२४), गेहूँ (२५), गाजर (३३), सेवफल (४९), संतरे (६५), अंगूर (७०), दूध (१३०), अण्डे (५००), सूअर मांस (१६३०), गोमांस (५२१४ गैलन) होती है।^५

भारतीय ग्रामीण अर्थव्यवस्था में पशुओं की महत्वपूर्ण भूमिका है। कृषि में बैल उर्जा के स्रोत हैं। भोजन में प्रोटीन का प्रमुख माध्यम दूध है। भारत में ८० मिलियन दुलाई करने वाले पशुओं से ४० मिलियन हार्स पावर शक्ति मिलती है, जो १०,००० मेगावाट विद्युत उर्जा के बराबर है। ६ पशु दूध के अतिरिक्त, मल-मूत्र के रूप में खाद तथा अमूल्य श्रम देकर आर्थिक विकास में बहुमूल्य योगदान करते हैं। इनका पालन तो कृषि के उपोत्पादन से ही हो जाता है। इसमें विशेष खर्च नहीं होता। ऐसी स्थिति में पशु संपदा का संहार किया जाता है तो यह अर्थतंत्र और पर्यावरण का संहार है।

जैनाचार में प्राणियों की रक्षा के लिए विस्तार से निर्देश किया है। उनके अंगों के छेदन, बंधन, उन्हें मारना, शक्ति से अधिक भार लादना, अपर्याप्त आहार देना, समय पर आहार न देना आदि का निषेध कर पशु सृष्टि के संरक्षण और संवर्धन का मार्ग प्रशस्त किया है।^६

वर्तमान में भौतिक सुविधा, आवश्यकता की पूर्ति तथा विकास के लिये भूमि का उत्खनन, ऊर्जा के लिये पेट्रोल का, कोयले का, धातुओं का उत्खनन निरन्तर बढ़ता जा रहा है जिससे भूकम्प, सुनामी जैसी विपदाओं का ताण्डव बढ़ता जा रहा है।

आज स्थान-स्थान पर कल कारखानों का विषाक्त जल नदियों में या भूमि पर व्यर्थ बहा दिया जाता है। जैन दृष्टि से उसमें असंख्य जल के जीवों की हिंसा होती है। पर्यावरण वैज्ञानिक इसे जल प्रदूषण की संज्ञा देते हैं। जैन विधि^८ से जल की शुद्धि एवं मितव्ययिता से ही जल प्रदूषण से मुक्ति संभव है।

अग्नि उर्जा का प्रतीक है। उर्जा की बचत औ संवर्धन के लिए अग्नि जीव की अनावश्यक हिंसा का निषेध किया है। इस प्रकार अहिंसा के आचरण से मानव प्रकृति का संरक्षण कर विकास की ओर अग्रसर हो सकता है।

धर्म और अर्थ जीवन के महत्वपूर्ण पुरुषार्थ है। जिसमें धर्म प्रथम और अर्थ द्वितीय स्थान पर है। अर्थशास्त्र के केन्द्र में अर्थ है और परिधि में मानव है। इसका मूलाधार इच्छा है। इच्छा वृद्धि-आवश्यकता में वृद्धि-आवश्यकता की पूर्ति के लिये उत्पादन में वृद्धि-अधिक लाभार्जन और समृद्धि यह आर्थिक चक्र है। अधिक लाभ के लिए प्राकृतिक संसाधनों के दोहन और शोषण से हिंसा में वृद्धि और पर्यावरण में असंतुलन निरन्तर देखा जा रहा है।

महावीर स्वामी ने कहा है कि 'इच्छा हु आकाससमा अणंतया'^९ अर्थात् इच्छा आकाश के समान अनन्त है। 'खणमेतसोक्खा बहुकाल दुक्खा' - इच्छा पूर्ति के लिए प्राप्त भौतिक सुख क्षणिक होते हैं और परिणाम में दुखद होते हैं। एक इच्छा की पूर्ति के बाद दूसरी जन्म लेती है संतुष्टि नहीं होती है। जिस प्रकार अग्नि से अग्नि को शान्त नहीं किया जा सकता है, इच्छा का भी ऐसा ही स्वरूप है।

इसीलिये जैनधर्म की इच्छा को संयमित तथा आवश्यकता को सीमित करने की बात कहता है। आवश्यकता की पूर्ति के लिए जैन आगम जीविकोपार्जन और उत्पादन का निषेध नहीं करता है। जीविकोपार्जन गृहस्थ की आवश्यकता है। जैन धर्म में उत्पादन के लिए साधन की पवित्रता को आवश्यक माना है - इसके लिए जैनागम में तीन निर्देश दिये हैं।^{१०}

१. अहिंसपण्याणे	-	हिंसक शस्त्रों का निर्माण न करना।
२. असंजुताहिकरणे	-	शस्त्रों का संयोजन नहीं करना।
३. अपावकम्मोवदेसे	-	पाप कर्म का, हिंसा प्रशिक्षण न देना।

हिंसक साधन, परशु कृपाण तलवार आदि शस्त्रों का निर्माण-व्यापार, आदान प्रदान न करने का निर्देश दिया है।^{११} विश्व शांति के लिए यह निर्देश वरदान है और आज इसकी महती आवश्यकता है।

अर्थोपार्जन के लिए जैनागमों में कर्म की शुद्धता तथा नैतिकता पर बल दिया है।

चौर प्रयोग चौरार्थदान विलोप सदृश सम्मिश्राः।

हीनाधिकं विनिमानं पंचास्तेये व्यतीपातः॥१२

चोरी तस्करी के प्रयोग, चोरी का धन लेना, राज नियमों का उल्लंघन, मिलावट, नाम-तोल में कम ज्यादा करना, काम न करके वेतन लेना सर्वथा अनुचित है।

धन का उपार्जन जीविका के लिये किया जाना चाहिये। धन संग्रह के लिये नहीं। धन के संग्रह से लोभ तथा स्वार्थ की प्रवृत्ति प्रबल होगी तब गरीबी और असमानता की समस्या बढ़ेगी। इसके लिए अपरिग्रह का पालन करना चाहिए। आवश्यकता से अधिक धन या वस्तुओं का संग्रह न करना अपरिग्रह है। धन का उचित उपयोग तथा दान करना चाहिये। धन के भोग और परिग्रह को सीमित करना चाहिए। अपरिग्रह से गरीबी, असमानता, प्रकृति का दोहन आदि अनेक समस्याओं का समाधान हो सकता है।

अनैतिकता से निरन्तर भ्रष्टाचार, अप्रामाणिकता, बेइमानी आदि आर्थिक अपराध बढ़ रहे हैं। अतः आवश्यक है कि आर्थिक विकास धर्म और नीति से अनुप्रमाणित हो। विकास इस तरह हो कि विश्व शांति को खतरा न हो, अपराध न हो, सभी की प्राथमिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो, अर्थात् जन में अप्रामाणिक साधनों का प्रयोग न हो और दूसरों की हानि न हो, यह तभी संभव है जब विकास मानवता तथा नैतिकता प्रधान होगा।

अर्थशास्त्र का उद्देश्य अर्जन करना है। जैनधर्म का उद्देश्य संयोजन और विसर्जन (त्याग) है। अर्थशास्त्र व्यय की बात करता है, जैनधर्म मितव्यय का आग्रह और अपव्यय का निषेध करता है। अर्थशास्त्र में आर्थिक विकास, प्राकृतिक संसाधनों का दोहन, पर्यावरण असंतुलन और समस्याएँ हैं। जैनाचार में संयम, संतुलन और प्राकृतिक संसाधनों की बचत और समाधान है। आज की परिस्थिति में धर्म और अर्थ विरोधी बन गये हैं। किन्तु पृथक् पृथक् दोनों सत्य है। अनेकान्त दृष्टि से विचार करें तो दोनों इच्छा, आवश्यकता और संतुष्टि की बात करते हैं। वर्तमान संदर्भ में आर्थिक विकास के और पर्यावरण संरक्षण के लिये मध्यम मार्ग अपनाना होगा। इसके लिये धर्म समन्वित अर्थ नीति को अपनाना होगा। आर्थिक विकास की अवधारणाओं पर पुनर्विचार करना होगा और इसके लिये जैनधर्म के सिद्धान्त ही सार्थक हैं, वरदान हैं।

संदर्भ :

१. आचारांग सूत्र - पंचम अध्ययन, पंचम उद्देशक, अहिंसा पद सूत्र १०१.१०२.१०३
२. रत्नकरण्ड श्रावकाचार - आचार्य समन्तभद्र- पद्य ८०
३. श्रावकाचार पूज्यपाद १४, ३५
४. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ६६
५. शाकाहार विज्ञान- डॉ.नेमिचन्द्र जैन, हीरा भैया प्रकाशन, पृ. ४९
६. पशु वध बंदी हेतु पारित आदर्श निर्णय - पृ. २१ - श्री सी. के. चतुर्वेदी, सब जज प्रथम श्रेणी, नई दिल्ली
७. रत्नकरण्ड श्रावकाचार ८४
८. वीरोदय काव्य १९/२९
९. उपासकदशांग १/३८
१०. महावीर का अर्थशास्त्र - आचार्य महाप्रज्ञ, आदर्श साहित्य संघ, चुरू, पृ. ४२
११. रत्नकरण्ड श्रावकाचार- आचार्य समन्तभद्र पद्य ७७
१२. वही ५८

- प्राध्यापक,

संस्कृत श्री अटलबिहारी वाजपेयी शा.कु.कला एवं वाणिज्य महाविद्यालय,
इन्दौर (मध्यप्रदेश)

Year-66, Volume-4
No. 10591/62

Oct.-Dec. 2013 RNI
ISSN 0974-8768

अनेकान्त

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका)

ANEKANT

(A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

सम्पादक

डॉ. जयकुमार जैन, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

Editor

Dr. Jaikumar Jain, Muzaffarnagar (U.P.)

Mobile : 09760002389

वीर सेवा मन्दिर, नई दिल्ली-110 002

Vir Sewa Mandir, New Delhi-110 002

अनेकान्त

ANEKANTA

(जैनविद्या एवं प्राकृत भाषाओं की त्रैमासिक शोध पत्रिका) (A Quarterly Research Journal for Jainology & Prakrit Languages)

संस्थापक

Founder

आचार्य जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर'

Acharya Jugalkishor Mukhtar 'Yugveer'

सम्पादक मण्डल

Editor

(प्रा. पं. निहालचंद जैन-बीना)

(Pt. Nihal Chand Jain, Bina)

निदेशक वीर सेवा मंदिर-नई दिल्ली

Director-Vir Sewa Mandir, New Delhi

प्रो. राजाराम जैन-नौयडा

Prof. Raja Ram Jain, Noida

प्रो. वृषभप्रसाद जैन, लखनऊ

Prof. Vrashabh Prasad Jain, Lucknow

प्रा. शीतलचन्द जैन, जयपुर

Pracharya Shital Chand Jain, Jaipur

प्रो. श्रेयांसकुमार जैन, बड़ौता

Prof. Shreyans Kumar Jain, Baraut

श्री रूपचंद कटारिया, नई दिल्ली

Shri Roop Chand Kataria, New Delhi

प्रो. एम.एल. जैन, नई दिल्ली

Prof. M.L. Jain, New Delhi

सदस्यता शुल्क/ Subscription

एक अंक-रुपये 20/- वार्षिक - रु. 80/-

This issue - Rs. 20/- Yearly - Rs. 80/-

सभी पत्राचार पत्रिका एवं सम्पादकीय हेतु पता -

वीर सेवा मंदिर (जैन दर्शन शोध संस्थान)

21, अंसारी रोड दरियागंज, नई दिल्ली-110 002.06

All correspondence for the journal & editorial on-

Vir Sewa Mandir (A Research Institute for Jainology)

21, Ansari Road, Daryaganj, New Delhi-110002.06

फोन नं. 011-30120522, 23250522, 09311050522

e-mail-virsewa@gmail.com

विद्वान् लेखकों के विचारों से सम्पादक मंडल का सहमत होना आवश्यक नहीं है। लेखों में दिये गये तथ्यों और सन्दर्भों की प्रामाणिकता के संबंध में लेखक स्वयं उत्तरदायी हैं सभी प्रकार के विवादों का निपटारा दिल्ली न्यायालय के अधीन होगा।

आध्यात्मिक-भजन
रे भाई! मोह महा दुख दाता

रे भाई! मोह महा दुख दाता
सबत विरानी अपनी मानै
विनसत होत असाता।
रे भाई! मोह महा दुख दाता,
जास मास, जिस दिन छिन विरियाँ
जाको होसी घाता,
साको राख सके न कोई
सुर, नर, नाग विख्याता।
रे भाई! मोह महा दुख दाता,
सब जग मरस जात नित प्रति नहिं
राग बिना विललाता
बालक मरै करै दुख, धयन
रूदन करे बहुमाता।
रे भाई! मोह महा दुख दाता,
पूसे हनें विलाव दुखी नहिं
पुरग हनै रिसखासा,
'द्यानत' मोह मूल ममता को
नास करे सो ज्ञाता।
रे भाई! मोह महा दुख दाता

-कविवर दानतराय

विषयानुक्रमणिका

विषय	लेखक का नाम	पृष्ठ संख्या
१. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में अजीव तत्त्व एवं उसके भेद तथा उसकी अन्य दर्शनों से तुलना	- डॉ. जयकुमार जैन	५-१०
२. जैन संस्कृति का मुकुटमणि कर्नाटका एवं उसकी कुछ यशस्विनी श्राविकाएं	- प्रो. डॉ. श्रीमती विद्यावती जैन	११-१९
३. जैनदर्शन में संशय का स्वरूप	- प्रो. डॉ. वीरसागर जैन	२०-२६
४. भारतीय मूर्तिकला में जैन मूर्तियों के लक्षण	- ललित शर्मा	२७-३३
५. लोकानुप्रेक्षा में वास्तुविद्या	- सतेन्द्र कुमार जैन	३४-४४
६. Parapsychological Aspect of Dream	- Samani Ramaniya Pragya	४५-५१
७. वास्तुशांति की आवश्यकता एवं वैशिष्ट्य	- डॉ. सुरेन्द्र कु. जैन 'भारती'	५२-५८
८. लेश्या स्वरूप एवं विमर्श	- डॉ. योगेश कुमार जैन - डॉ. श्वेता जैन	५९-६८
९. सर्वोदयी देशना में स्वमुखी पर-मुखी दृष्टि	- डॉ. अनेकान्त कुमार जैन	६९-७४
१०. मेरी भावना : जीवन का शिलालेख	- सिद्धार्थ कुमार, जैन एम. म्यूज.	७५-८१
११. जैनदर्शन में प्रबन्धन तत्त्व	- प्रो. सागरमल जैन	८२-८९
१२. श्रमण संस्कृति की व्यापकता (गंताक से आगे)	- प्रो. डॉ. राजाराम जैन	९०-९६

तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक में अजीव तत्त्व एवं उसके भेद तथा उसकी अन्य दर्शनों से तुलना

डॉ. जयकुमार जैन

यह सम्पूर्ण लोक जिनका समूह है, वे तत्त्व जीव और अजीव के भेद से दो प्रकार के हैं। जैन परम्परा में जीव के पर्यायवाची के रूप में आत्मा, चैतन्य एवं उपयोग शब्दों का प्रयोग भी मिलता है। जिनमें चेतना का उपयोग (जानने, देखने का सामर्थ्य) नहीं पाया जाता है, उन्हें अजीव कहते हैं। यद्यपि अजीव तत्त्व में जीव तत्त्व के समान गुण, धर्म नहीं पाये जाते हैं, किन्तु उसमें गुण, धर्मों का सर्वथा अभाव नहीं है, अपितु वह स्वजातीय गुण-धर्म सद्भावी है।

अजीव का लक्षणः

आचार्य उमास्वामी ने तत्त्वार्थसूत्र में अजीव का कोई लक्षण नहीं किया है। आचार्य पूज्यपाद ने तत्त्वार्थसूत्र पर लिखित सर्वार्थसिद्धि टीका में 'तद्विपर्ययलक्षणोऽजीवः'^१ कहकर अजीव को जीव से विपरीत लक्षण वाला कहा है। उनका कहना है कि यतः धर्मादिक में जीव का लक्षण नहीं पाया जाता है, अतः उनकी अजीव यह सामान्य संज्ञा की गई है - 'तेषां धर्मादीनामजीव इति सामान्यसंज्ञा जीवलक्षणाभावमुखेन प्रवृत्ता।'^२ तत्त्वार्थवार्तिककार आचार्य भट्ट अकलंकदेव कहते हैं कि अजीव को केवल जीवाभाव रूप ही नहीं समझना है, अपितु अनश्व के समान अन्य अचेतन पदार्थों की प्रतीति अजीव से समझना चाहिए। उन्होंने लिखा है - 'अजीव इत्यभावमात्रप्रसंगः इति चेत्, न भावान्तरप्रतिपत्तेरनश्ववत्।'^३ आचार्य विद्यानन्दि स्वामी अजीव का सामान्य लक्षण करते हुए लिखते हैं - 'अजीवनादजीवाः स्युरिति सामान्यलक्षणम्।'^४ अर्थात् अजीवन-चेतनास्वरूप जीवन न होने से जीव भिन्न पदार्थ अजीव कहलाते हैं, यह सभी अजीव द्रव्यों में रहने वाला अजीव का सामान्य लक्षण है। वे अपने उक्त वार्तिक का व्याख्यान करते हुए कहते हैं - 'जीवस्योपयोगो लक्षणं जीवनमिति प्रतिपादितं ततोऽन्यदजीवन गतिस्थित्यवगाहहेतुत्वरूपादि

स्वरूपमन्वयिसाधारणमजीवानां लक्षणं।^५ अर्थात् जीव का लक्षण उपयोग है। यही जीवन है। उस जीवन से भिन्न पदार्थ पर्युदासवृत्ति द्वारा अजीवन है। यह गति-स्थिति-अवगाहनहेतुत्व रूप अन्वय से सभी अजीवों में पाया जाता है। अतः यह अजीव का साधारण लक्षण है।

अजीव शब्द में नञ् समास का अर्थ:

अजीव शब्द 'न जीवः अजीव' ऐसा नञ् समास करने पर निष्पन्न हुआ है। जैसे 'न अश्वः अनश्वः' में अनश्व कहने से अश्व से भिन्न अश्वसदृश अन्य प्राणियों का बोध होता है, उसी प्रकार अजीव कहने से जीव से भिन्न सत्ता वाले अन्य अचेतन पदार्थों का बोध होता है। अजीव में नञ् समास अनश्व की तरह पर्युदास रूप है, तुच्छाभाव रूप नहीं है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी लिखते हैं- 'त्रिकालविषयाजीवनानु भवनादजीव इति निरुक्तक्तेरव्याभिचारान्न पुनर्जीवनाभावमात्रं तस्य प्रमाणागोचरत्वात् पदार्थलक्षणत्वायोगात् भावान्तरस्वभावस्यैवाभावस्यैवाभावस्य व्यवस्थापनात्।'^६ अर्थात् तीनों कालों में अजीवन धर्मों का अनुभवन करने से अजीव तत्त्व है। अजीव की इस निरुक्ति में कोई व्यभिचार (नियमभंग) दोष नहीं है। अजीव का अर्थ जीवनाभाव मात्र नहीं है अपितु यह जीवभिन्न भाव रूप है। इसे अनश्व, अनेकान्त, अनक्षर आदि नञ् समास वालों की तरह भावात्मक पदार्थ समझना चाहिए। तुच्छाभाव तो किसी भी प्रमाण का विषय नहीं बन पाता है और उसमें पदार्थ के लक्षण का घटित होना भी संभव नहीं होता है। खरविषाण के समान तुच्छाभाव किसी भी पदार्थ का लक्षण नहीं हो सकता है। अतः अभाव का अभिप्राय तत्पदार्थ के अभाव रूप अन्य पदार्थ के भाव से है।

सांख्य की अजीवविषयक मान्यता का खण्डन:

आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने 'तेन नैकं प्रधानादिरूपतां' कहकर सांख्य दार्शनिकों की उस मान्यता का निरसन किया है, जिसके अनुसार वे एक ही प्रधान या प्रकृति को अजीव तत्त्व मानते हैं। शेष २३ तत्त्वों को पुरुष (चेतन-जीव) के साथ होने वाले संयोग से उत्पन्न प्रकृति का विकार कहते हैं। जैसा कि सांख्यकारिका में ईश्वरकृष्ण ने कहा है -

‘प्रकृतेर्महान् ततोऽहंकारस्तस्माद्गणश्च षोडशकः।

तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥’^७

अर्थात् प्रकृति (जड़ प्रधान तत्त्व) से महान् (बुद्धि), उससे अहंकार, अहंकार से १६ पदार्थों (५ ज्ञानेन्द्रियाँ, ५ कामेन्द्रियाँ, १ मन, ५ तन्मात्र) तथा इनमें ५ तन्मात्रों से ५ महाभूत उत्पन्न होते हैं। जैन दर्शन के अनुसार जीवों की बहुत्वता के समान अजीव की भी बहुत्वता स्वीकार की गई है। इसीलिए कारिका २ में 'अजीवाः स्युः' बहुवचनान्त कहकर अनेक अजीव पदार्थों की स्वतंत्र सत्ता स्वीकार की गई है।

अजीवविषयक वैशेषिकों की मान्यता का निरसनः

वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य (जाति), विशेष, समवाय और अभाव ये सात पदार्थ माने गये हैं। उनके अनुसार अभाव चार प्रकार का होता है - प्रागभाव, प्रध्वंसाभाव, अत्यन्ताभाव और अन्योन्याभाव।^{१९} वैशेषिक अभाव नामक सप्तम पदार्थ को तुच्छाभाव रूप मानते हैं। वे अजीव में नञ् समास में प्रयुक्त अभाव को अत्यन्ताभाव या तुच्छाभाव रूप मानते हैं। किन्तु जैनों की दृष्टि में तुच्छाभाव किसी भी प्रमाण का विषय नहीं होता है। अतः वास्तव में गतिहेतुत्व आदि अनेक गुणों से युक्त जीवभिन्न पदार्थों को अजीव माना गया है। अजीव पदार्थों में सत्ता, द्रव्यपना आदि की अपेक्षा जीव से समानता भी है। 'भावान्तरस्वभावस्यैवाभावस्य व्यवस्थापनात्'^{२०} कहकर आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने वैशेषिकों के द्वारा अजीव में जीव के अभाव को तुच्छाभाव रूप मानने की मान्यता का खण्डन किया है।

वैदान्तियों की मान्यता का खण्डनः

अद्वैतवादी वेदान्ती एक मात्र ब्रह्म की ही वास्तविक सत्ता मानते हैं तथा सम्पूर्ण जगत् को स्वप्न की तरह प्रतिभास स्वीकार करते हैं। यदि वेदान्तियों की दृष्टि मान ली जाये तब तो धर्म, अधर्म, आकाश काल और पुद्गल सांश हो जायेंगे, जबकि उनकी दृष्टि में एक मात्र ब्रह्म ही सत् है और वह निरंश है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी ने प्रथम सूत्र के तृतीय वार्तिक में 'नाप्यनंशता'^{२१} कहकर वेदान्तियों के ब्रह्मद्वैतवाद का खण्डन तथा धर्मादि अजीव द्रव्यों की सत्ता का स्थापन किया है।

अजीव के भेद-मूर्तिकत्व-अमूर्तिकत्व,
अस्तिकायत्व-अनस्तिकायत्व

अजीव द्रव्य को पाँच भागों में विभक्त किया गया है- पुद्गल द्रव्य, धर्मद्रव्य, अधर्म द्रव्य, आकाश द्रव्य और काल द्रव्य।^{१२} इन पाँच अजीव द्रव्यों में पुद्गल द्रव्य मूर्तिक है तथा अन्य चार द्रव्य अमूर्तिक है। जो पदार्थ इन्द्रियों द्वारा छूकर, चखकर, सूँघकर, देखकर या सुनकर जाना जा सकता है, उसे मूर्तिक कहते हैं और जो इन्द्रियों द्वारा नहीं जाने जा सकते हैं, उन्हें अमूर्तिक कहते हैं।

जीव और कालद्रव्य को छोड़कर शेष चार अजीव पदार्थ धर्म, अधर्म, आकाश एवं पुद्गल पाँचों अस्तिकाय कहलाते हैं। क्योंकि इनमें सत्ता के साथ बहुप्रदेशत्व गुण भी पाया जाता है। काल द्रव्य में बहुप्रदेशत्व का गुण नहीं पाया जाता है, अतः उसे अनस्तिकाय कहा गया है। नियमसार में कहा गया है-

‘एदे छद्दव्वाणि य कालं मोत्तूण अत्थिकायत्ति।

णिदिदट्ठा जिणसमये काया हु बहुपदेसत्तं॥’^{१३}

अर्थात् इन छह द्रव्यों में काल को छोड़कर शेष को जिनागम में अस्तिकाय कहा गया है। क्योंकि बहुप्रदेशी होना ही काय है।

‘कालश्च’ सूत्र की व्याख्या में आचार्य पूज्यपाद ने एक प्रश्न उपस्थित करते हुए कहा है कि काल द्रव्य को अलग से क्यों कहा है? जहाँ धर्मादि द्रव्यों का कथन किया है, वहीं पर इसका कथन करना था। इससे प्रथम सूत्र का रूप हो जाता - ‘धर्माधर्माकाशकालपुद्गलाः।’ ऐसी शंका करना ठीक नहीं है। क्योंकि वहाँ पर यदि काल का कथन करते तो इसे कायपना प्राप्त हो जाता है। परन्तु काल द्रव्य में मुख्य और उपचार दोनों प्रकार से प्रदेश प्रचय की कल्पना का अभाव है, अतः वह कायवान् नहीं है।^{१४}

धर्म एवं अधर्म द्रव्य में असंख्यात प्रदेश हैं, आकाश में अनन्त प्रदेश है और पुद्गल में संख्यात, असंख्यात और अनन्त प्रदेश हैं।^{१५} ये चारों अजीव द्रव्य बहुप्रदेशी होने से अस्तिकाय है। काल में एक ही प्रदेश है, इसलिए काल अस्तिकाय नहीं है। इसीलिए उसे अनस्तिकाय कहा गया है। आचार्य विद्यानन्दि स्वामी लिखते हैं- ‘काया इव कायाः प्रदेशबाहुल्यात् कालाणुवदणुमात्रत्वाभात्। ततो विशिष्टाः पञ्चैवास्तिकाया इति वचनात्।’^{१६} अर्थात् ‘अजीवकायाः’ में जो काय शब्द का प्रयोग किया गया है, उसमें उपमा अर्थ छिपा हुआ है। जिस प्रकार शरीरपुद्गलों के पिण्ड होते हैं, उसी प्रकार धर्म आदि अन्य अजीव द्रव्यों में भी प्रदेशों के पिण्ड होते हैं। अतः वे कायवान् हैं। पुद्गल, धर्म, अधर्म और आकाश

ये चार अजीव द्रव्य कालाणुओं के समान एकप्रदेशी अणुस्वरूप नहीं हैं। अतएव जीव तथा पुद्गल, धर्म, अधर्म एवं आकाश ये चार अजीव पांच को आगम में अस्तिकाय कहा गया है।

वैशेषिकमान्य अजीव द्रव्य समीक्षा:

वैशेषिक पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन ये नौ द्रव्य मानते हैं।^{१७} इनमें आत्मा से भिन्न आठ अजीव द्रव्य हैं। आचार्यविद्यानन्दि स्वामी का कहना है कि पृथिवी आदि आठ भेद रूप अजीव द्रव्य मानना युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और मन ये पांच स्वतंत्र द्रव्य नहीं हैं, अपितु ये पुद्गल द्रव्य की विशेष पर्यायें हैं। इन्हें पंचावयव अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा सकता है।^{१८} यथा -

साध्य (प्रतिज्ञा) - पृथिव्यादयः पुद्गलपर्याया एव।

(पृथिवी आदि पुद्गल की पर्यायें ही हैं।)

हेतु - भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानत्वात्।

(भेद और संघात से उत्पन्न होने के कारण।)

दृष्टान्त - ये तु न पुद्गलपर्यायास्ते न तथा दृष्टाः यथाकाशादयः।

(जो पुद्गल की पर्यायें नहीं हैं, वे भेद और संघात से उत्पन्न नहीं देखे जाते हैं। यथा- आकाश आदि।

उपनय - भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानाश्च पृथिव्यादयः।

(पृथिवी आदि भेद और संघात से उत्पद्यमान हैं।)

निगमन - इति न ततो जात्यन्तरम्।

(इसलिए वे पुद्गल से भिन्न जाति के अन्य द्रव्य नहीं हैं।)

शब्द भी पुद्गल की पर्याय है, कोई गुण नहीं है:

पृथिवी आदि पुद्गल की पर्यायें हैं, यह बात उक्त पंचावयव अनुमान द्वारा सिद्ध किया जा चुका है। वैशेषिकों का कहना है कि उक्त अनुमान में अनैकान्तिक हेत्वाभास है, क्योंकि हेतु व्यभिचार दोष युक्त है। व्यभिचार दोष वाला हेतु अनैकान्तिक कहलाता है।^{१९} यह हेतु शब्द गुण में व्यभिचरित है। वैशेषिक दर्शन की मान्यता है कि शब्द पुद्गल की पर्याय नहीं है। विभाग और संयोग से शब्द गुण की उत्पत्ति होती है। कहा भी गया है- 'संयोगादिविभागाच्च शब्दनिष्पत्तिः।'^{२०} बाँस को या कपड़े को फाड़ते समय विभाग से तथा लोहा, कांसा आदि को पीटते समय संयोग से शब्द उत्पन्न होता है। अतः जैनो का हेतु

‘भेदसंघाताभ्यामुत्पद्यमानत्वात्’ अनैकान्तिक होने से इस साध्य की सिद्धि नहीं कर पाता है कि पृथिवी आदि पुद्गल की पर्यायें ही हैं।

आचार्य विद्यानन्दि स्वामी का कहना है कि शब्द गुण नहीं है, अपितु वह भी पुद्गल ही पर्याय ही है। यदि शब्द को पुद्गल की पर्याय नहीं माना जायेगा तो बाह्य श्रोत्र इन्द्रिय द्वारा शब्द के ग्रहण करने की योग्यता का अभाव हो जायेगा। क्योंकि सभी बाह्य श्रोत्र इन्द्रियाँ पुद्गल की पर्यायों को ही जानती हैं। हेतु में कहे गये भेद का अर्थ केवल विभाग नहीं है, अपितु पुद्गल पिण्ड स्वरूप स्कन्ध के निवारण को भी भेद कहा जाता है। इसी प्रकार संघात का अर्थ भी केवल संयोग नहीं है, अपितु मिट्टी के पिण्ड आदि के स्कन्धभूत परिणाम को संघात कहा जाता है। अतः टुकड़े हो जाने या उनके मिल जाने को स्थूल रूप से भेद और संघात कहा गया है। जो ज्ञानादि पुद्गल की पर्यायें नहीं हैं, वे भेद और संघात से उत्पन्न नहीं हैं। अतः पुद्गल की पर्यायों में भेदसंघात से उत्पद्यमान होना अनैकान्तिक हेत्वाभास नहीं है। यह शब्द भी पुद्गल की पर्याय है, अतः शब्द भी भेद-संघात से उत्पन्न होता है।^{१९}

दिशा स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, आकाश में अन्तर्भूत है:

वैशेषिक-मान्य नौ द्रव्यों में दिशा को एक स्वतन्त्र द्रव्य माना गया है। इस संदर्भ में आचार्य विद्यानन्दि स्वामी का कहना है - ‘दिशोऽपि नात्रोपसंख्यानं कार्यमाकाशेऽन्तर्भावात् ततो द्रव्यान्तरत्वाप्रसिद्धेः’^{१९} अर्थात् द्रव्यों में दिशा नामक स्वतंत्र द्रव्यका उपसंख्यान नहीं करना चाहिए। क्योंकि उसका आकाश नामक द्रव्य में ही अन्तर्भाव हो जाता है। अतः दिशा के आकाश से भिन्न द्रव्यपने की सिद्धि नहीं होती है। इस प्रकार वास्तव में दिशा आकाश के अतिरिक्त कोई भिन्न गुण-पर्याय वाला द्रव्य नहीं है। सूर्योदय आदि के कारण पूर्व आदि दिशाओं का व्यवहार प्रसिद्ध है। अतः उसका आकाश में अन्तर्भाव आसानी से हो जाता है।

उपर्युक्त विवेचन से सिद्ध होता है कि अजीव पाँच ही द्रव्य हैं, वैशेषिकों द्वारा मान्य आत्मभिन्न आठ अजीव द्रव्यों की मान्यता अयुक्तिक है।

क्रमशः अगले अंक में

अध्यक्ष, संस्कृत विभाग,

एस.डी. (पी.जी.) कालेज, मुजफ्फरनगर (उ.प्र.)

क्र १ से २२ तक के सन्दर्भ (अगले अंक 67/1 में देखें)

जैन-संस्कृति का मुकुट-मणि-कर्नाटक एवं उसकी कुछ यशस्विनी श्राविकाएँ

प्रो. (डॉ.) श्रीमती विद्यावती जैन

कर्नाटक-प्रदेश, भारतीय संस्कृति के लिये, युगों-युगों से, एक त्रिवेणी-संगम के समान रहा है। भारतीय-भूमण्डल के तीर्थयात्री अपनी तीर्थयात्रा के क्रम में यदि उसकी चरण-रज-वन्दन करने के लिए वहाँ न पहुँच सकें, तो उनकी तीर्थयात्रा अधूरी ही मानी जायेगी। जैन-संस्कृति, साहित्य एवं इतिहास से यदि कर्नाटक को निकाल दिया जाए, तो स्थिति बहुत कुछ वैसी ही होगी, जैसे भारत के इतिहास से मगध एवं विदेह को निकाल दिया जाए, यदि दक्षिण इतिहास से गंग, राष्ट्रकूट, गंग, चेर, चोल, पल्लव एवं चालुक्यों को निकाल दिया जाए, तो स्थिति कुछ वैसी ही होगी, जैसे मगध से नन्दों, मौर्यों, एवं गुप्तों तथा दिल्ली एवं गोपाचल से चौहानों एवं तोमरवंशी राजाओं के इतिहास को निकाल दिया जाए।

दक्षिण-भारत के जैन-इतिहास से यदि पावन-नगरी-श्रवणबेलगोल को निकाल दिया जाए, तो उसकी स्थिति भी वैसी ही होगी, जैसी, वैशाली, चम्पापुरी, मन्दारगिरि, राजगृही, उज्जयिनी, कौशाम्बी एवं हस्तिनापुर को जैन-पुराण-साहित्य से निकाल दिया जाए। जैन-इतिहास एवं संस्कृति की एकता, अखण्डता तथा सर्वांगीणता के लिए, कर्नाटक की उक्त सभी आयामों की, समान रूप से सहभागिता एवं सहयोग रहता आया है।

इनके अतिरिक्त भी भारतीय-इतिहास की निर्माण-सामग्री में से यदि कर्नाटक की शिलालेखीय एवं प्रशस्तिमूलक-सामग्री तथा कलाकृतियों को निकाल दिया जाए, तो स्थिति ठीक वैसी ही होगी, जैसे सम्राट अशोक एवं सम्राट खारवेल की शिलालेखीय, पुरातात्विक एवं ऐतिहासिक-सम्पदा को भारतीय-इतिहास से निकाल दिया जाए।

इसी प्रकार, मध्यकालीन भारतीय सामाजिक इतिहास में से यदि कर्नाटक की यशस्विनी श्राविकाओं के इतिहास को उपेक्षित कर दिया जाए, तो भारत का सामाजिक इतिहास निश्चय ही विकलांग हो जाएगा।

विदुषी कवियित्री कन्ती देवी

कवियित्री कन्ती-देवी (सन् के ११४० के लगभग) उन विदुषी लेखिकाओं में से हैं, जिनके साहित्य एवं समाज के क्षेत्र में बहुआयामी कार्य तो किये, किन्तु यश की कामना उसने कभी नहीं की। जो कुछ भी कार्य उसने किये, सब कुछ निस्पृह-भाव से। कन्नड़ महाकवि बाहुबली (सन् १५६०) ने अपने 'नागकुमार-चरित' में उसकी दैवी-प्रतिभा तथा ओजस्वी व्यक्ति की चर्चा की है और बतलाया है कि वह द्वार-समुद्र (दोर-समुद्र) के राजा बल्लाल द्वितीय की विद्वत्सभा की सम्मानित कवियित्री थी। बाहुबली ने उसके लिये विद्वत्सभा की मंगल-लक्ष्मी, शुभगुणचरिता, अभिनव-वाग्देवी जैसी अनेक प्रशस्तियों से सम्मानित कर उसकी गुण-गरिमा की प्रशंसा की है। इन संदर्भों से यह स्पष्ट है कि कन्ती उक्त बल्लाराय की राज्य-सभा की गुण-गरिष्ठा सदस्या थी।

महाकवि देवचन्द्र ने अपनी 'राजावलिकथे' में कन्ती विषयक एक रोचक घटना का चित्रण किया है। उसके अनुसार दोरराय ने दोरसमुद्र नाम के एक विशाल जलाशय का निर्माण कराया तथा एक ब्राह्मणकुलीन धर्मचन्द्र को अपने मंत्री के पद पर नियुक्त कर लिया था। उस मंत्री का पुत्र वहीं शिक्षक का कार्य करने लगा। उसकी विशेषता यह थी कि वह ज्योतिष्मती नामकी एक विशिष्ट तैलौषधि का निर्माण करता था, जो बुद्धिवर्धक थी। वह मन्दबुद्धि वालों की बुद्धि बढ़ाने के लिये एक खुराक में यद्यपि केवल आधी-आधी बूँद ही देता था, लेकिन लोग उसका साक्षात् प्रभाव देखकर आश्चर्यचकित कर जाते थे।

कन्तीदेवी भी उस औषधि का सेवन करती थी। एक दिन अवसर पाकर तत्काल ही तीव्र-बुद्धिमती बनने के उद्देश्य से उसने एक बार में उस दवा का अधिक मात्रा में पान कर लिया। अधिक मात्रा हो जाने के कारण उसके शरीर में इतनी दाह उत्पन्न हुई कि उसे शान्त करने के लिए वह दौड़कर कुएँ में कूद पड़ी। कुआँ अधिक गहरा न था। अतः वह उसी में खड़ी रहीं। उसी समय उसमें कवित्व-शक्ति का प्रस्फुरण हुआ और तार-स्वर से वह स्वनिर्मित कविताओं का पाठ करने लगी। उसकी कविताएँ सुनकर सभी प्रसन्न हो उठे।

राजा दोरराय को जब यह सूचना मिली, तो उन्होंने अपने परम-विश्वस्त, उदयभाषा-चक्रवर्ती अभिनव-पम्प को उसकी परीक्षा लेने हेतु उसके पास भेजा। वहाँ जाकर पम्प ने उससे जितने भी कवित्व-मय प्रश्न किये, कन्ती ने उन सभी का सटीक उत्तर देकर पम्प को विस्मित कर दिया। दोरराय ने यह सुनकर तथा उसकी अलौकिक काव्य-प्रतिभा से प्रसन्न होकर उसे तत्काल ही अपनी विद्वत्सभा का सदस्य घोषित किया तथा उसे 'अभिनव-वाग्देवी' के अलंकरण से अलंकृत किया। प्रसिद्ध इतिहासकार डॉ. आर. नरसिंहाचार्य की मान्यता के अनुसार उक्त दोरराय का अपरनाम ही बल्लाल था और उसकी राज्य-सभा में महाकवि अभिनव पम्प, कन्ती आदि प्रसिद्ध कवियत्रियों का जमघट रहता था।

कन्ती की श्रृंखलाबद्ध रचनाएँ वर्तमान में अनुपलब्ध हैं। कन्ती-पम्पन समस्येगलु इस नाम से कुछ प्रकीर्णक पद्य अवश्य मिलते हैं। उन्हें देखकर यह विदित होता है कि समस्या-पूर्ति करने में वह उसी प्रकार निपुण थी, जिस प्रकार की चम्पा-नरेश कोटिभट्ट श्रीपाल की महारानी (और उज्जयिनि-नरेश राजा पुहिपाल की पुत्री-राजकुमारी) मैनासुन्दरी।

कहा जाता है कि अभिनव-पम्प एवं कन्ती में प्रायः ही वाद-विवाद चलता रहता था किन्तु वह पम्प से न तो कभी हार मानने को तैयार रहती थी और न वह कभी उसकी प्रशंसा ही करती थी, यद्यपि भीतर से आदर का भाव अवश्य रखती थी।

एक दिन पम्प ने प्रतिज्ञा की कि वह कन्ती से अपनी प्रशंसा कराकर ही रहेगा। अतः अवसर पाकर कन्ती के पास झूठ-मूठ में ही उसने अपनी मृत्यु का समाचार भिजवा दिया। इस दुःखद समाचार को सुनकर कन्ती बड़ी दुःखी हुई। तुरन्त ही वह उनके आवास पर पहुँची और वहीं दरवाजे के ही बाहर बैठकर वह रुदन करने लगी और कहने लगी- हे कविराय, हे कवि पितामह, हे कवि-कण्ठाभरण, हे कवि शिखामणि, कार्य, अब मेरे जीवन की सार्थकता ही क्या रही? जब मेरे गुणों की प्रशंसा करने वाला ही संसार से उठ गया। अभिनव-पम्प जैसे महाकवि से ही दरबार की शोभा थी। उनका काव्य-सुषमा के साथ-साथ मेरा भी कुछ विकास हो रहा था। थोड़ी ही देर में पम्प हंसता हुआ बाहर आया और कन्ती से बोला कि- हे प्रिय कवियित्री, आज मेरा प्रण पूरा हो गया है क्योंकि तुमने मेरे घर पर आकर मेरी प्रशंसा की है। किन्तु धन्य है वह कन्ती, जो नाराज होने के बदले उन्हें अपने सम्मुख साक्षात् देखकर प्रफल्लित हो उठी।

कन्नड़-साहित्य के प्रकाण्ड विद्वान् पं. के. भुजबली शास्त्री के अनुसार “कन्ती पम्पन समस्येगलु” इन नाम के जो भी पद्य वर्तमान में उपलब्ध होते हैं, वे साहित्य की दृष्टि से अत्यन्त सुन्दर हैं। यहाँ पर उनमें से केवल एक पद्य, जो कि निरोष्ठ्य-काव्य का उदाहरण है, प्रस्तुत किया जा रहा है -

“सुर नगर नागाधीशर। हीरकिरीटाग्रलग्नचरणसरोजा।
धीरोदारचरित्रोत्सारितकलुषौधरक्षिसल्लकरिनर्हा”॥

दान-चिन्तामणि अत्तिमव्वे-

महासती श्राविका अत्तिमव्वे (१०वीं सदी) न केवल कर्नाटक की, अपितु समस्त महिला-जगत् के गौरव की प्रतीक है। ११वीं सदी के प्रारंभ के उपलब्ध शिलालेखों के अनुसार यह वीरांगना दक्षिण-भारत तथा महादण्डनायक वीर नागदेव की धर्मपत्नी थी। उसके शील, पातिव्रत्य एवं वैदुष्य के कारण स्वयं सम्राट भी उसके प्रति पूज्य-दृष्टि रखते थे।

कहा जाता है कि अपने अखण्ड पातिव्रत्य-धर्म और जिनेन्द्र-भक्ति में अडिग-आस्था के फलस्वरूप उसने गोदावरी-नदी में आई हुई प्रलयंकारी बाढ़ के प्रकोप को भी शान्त कर दिया था और उसमें फंसे हुए सैकड़ों वीर-सैनिकों एवं अपने पति दण्डनायक नागदेव को वह सुरक्षित वापिस ले आई थी।

कवि चक्रवर्ती रत्न (रत्नाकर) ने अपने अजितनाथपुराण की रचना अत्तिमव्वे के आग्रह से उसी के आश्रय में रहकर की थी। महाकवि रत्न ने उसकी उदाहरतापूर्ण दान-वृत्ति, साहित्यकारों के प्रति वात्सल्य-प्रेम, जिनवाणी-भक्ति, निरतिचार-शीलव्रत एवं सात्विक-सदाचार की भूरि-भूरि प्रशंसा की है और उसे ‘दान-चिन्तामणि’ की उपाधि से विभूषित किया है।

अत्तिमव्वे स्वयं तो विदुषी थी ही, उसने कुछ नवीन-काव्यों की रचना के साथ ही प्राचीन जीर्ण-शीर्ण ताडपत्रीय पाण्डुलिपियों के उद्धार की ओर भी विशेष ध्यान दिया। उसने उभय-भाषा-चक्रवर्ती महाकवि पोन्न कृत ‘शान्तिनाथ-पुराण’ की पाण्डुलिपि की १००० प्रतिलिपियों कराकर विभिन्न शास्त्र-भण्डारों में वितरित कराई थीं। इन सत्कार्यों के अतिरिक्त भी उसने विभिन्न जिनालयों में पूजा-अर्चना हेतु प्रचुर-मात्रा में भूदान किया और सर्वत्र चतुर्विध दानशालाएँ भी खुलवाई थीं।

वीरांगना सावियव्वे -

वीरांगना सावियव्वे श्रावक-शिरोमणि, वीरमार्तण्ड, महासेनापति चामुण्डराय (१०वीं सदी) की समकालीन थी। उसके पति का नाम लोकविद्याधर था, जो बड़ा ही वीर एवं पराक्रमी था। वह गंग-नरेश रक्ससंग का भानजा था। सावियव्वे को छुटपन से ही रण-विद्या की शिक्षा दी गई थी। उसमें वह बड़ी कुशल सिद्ध हुई। अपनी इसी विशेषता के कारण दिग्विजयी जैन-सम्राट खारवेल की महारानी सिन्धुला के समान ही, एक ओर तो वह अपने पति के साथ वीरता-पूर्वक युद्ध का साथ देती थी और दूसरी ओर अतिरिक्त समयों में वह नैष्ठिक श्राविका-व्रताचार का पालन भी करती थी।

श्रवणबेलगोल की बाहुबलि-बसति के पूर्व की ओर एक पाषाण में टंकित लेख में इस वीरांगना को रेवती-रानी जैसी पक्की श्राविका, सीता जैसी पतिव्रता, देवकी जैसी रूपवती, अरुन्धती जैसी धर्म-प्रिया और जिनेन्द्र-भक्त बतलाया गया है। उसी प्रस्तर में एक अन्य दृश्य भी उत्कीर्णित है, जिसमें इस वीर महिला को घोड़े पर सवार दिखलाते हुए हाथ में तलवार उठाए, अपने सम्मुख आते हुये हाथी पर सवार एक योद्धा पर प्रहार करते हुये चित्रित किया गया है। घटना-स्थल का नाम बगेयूर लिखा हुआ है। बहुत सम्भव है कि यह बेगयूर वही दुर्ग हो, जिस पर आक्रमण करके महासेनापति चामुण्डराय ने राजा त्रिभुवन वीर को युद्ध में मारकर बैरिकुलकालंदण्ड का विरुद्ध प्राप्त किया था। बहुत सम्भव है कि इसी युद्ध में लोक-विद्याधर और उसकी वीरांगना पत्नी-सावियव्वे भी चामुण्डराय की ओर युद्ध में सम्मिलित हुए हों ?

दृढ़-संकल्पी-माता-कालल-देवी:

कर्नाटक को दक्षिणांचल की अतिशय-तीर्थभूमि-श्रवणबेलगोला के निर्माण का श्रेय जिन यशस्विनी महिमामयी महिलाओं को दिया गया है, उनमें प्रातः स्मरणीया तीर्थस्वरूपा माता कालल देवी (१०वीं सदी) का स्थान सर्वोपरि है। यह वही सन्नारी है, जिसने पूर्वजन्म में सुकर्म किये थे और फलस्वरूप वीर पराक्रमी रणधुरन्धर सेनापति चामुण्डराय जैसे देवोपम श्रावकशिरोमणि पुत्ररत्न की माँ बनने का सौभाग्य प्राप्त किया था।

वह प्रतिदिन शास्त्र-स्वाध्याय के लिए दृढ़-प्रतिज्ञा थी। उसने एक दिन अपने गुरुदेव आचार्य अजितसेन के द्वारा आदिपुराण में वर्णित पोदनपुराधीश-बाहुबली

की ५२५ धनुष उत्तुंग हरित्वर्णीय पन्ना की भव्य-मूर्ति का वर्णन सुना तो वह भाव-विभोर हो उठी। इसकी चर्चा उसने अपने आज्ञाकारी पुत्र चामुण्डराय से की और उसके दर्शनों की इच्छा व्यक्त की, तो वह भी अपने हजार कार्य छोड़कर अपनी माता की मनोभिलाषा पूर्ण करने हेतु अपने गुरुदेव सि.च. नेमिचन्द्र के साथ उस मंगल-मूर्ति का दर्शन करने के लिए तक्षशिला (वर्तमान में पाकिस्तान में स्थित) के पास पोदनपुर की यात्रा के लिये निकल पड़ा।

यात्रा काफी लम्बी थी। चलते-चलते वे सभी कटवप्र के एक बीहड़ वन में रात्रि-विश्राम के लिये विरमित हो गए। रात्रि के अन्तिम पहर में उन तीनों ने एक-सदृश स्वप्न देखा कि जिसमें देवी उन्हें कह रही है कि “जहाँ तुम लोग विश्राम कर रहे हो, उसी के सामने वाली पहाड़ी के शिखराग्र पर एक अभिमन्त्रित शर-सन्धान करो। वहीं से तुम्हें बाहुबलि के दर्शन हो जायेंगे।” प्रातःकाल होते ही धनुर्धारी चामुण्डराय ने अपने सामने की पहाड़ी (विन्ध्यगिरि) की शैल-शिला पर णमोकार-मन्त्र का उच्चारण कर शर-सन्धान किया और ऐसी अनुश्रुति है कि बाण लगते ही पत्थर की परतें टूटकर गिरी और उसमें से गोम्मटेश-बाहुबली का शीर्षभाग स्पष्ट दिखाई देने लगा। बाद में उसी शिला को अरिहनेमि ने बाहुबली की मूर्ति का रूप प्रदान किया।

धन्य है, वह माता कालल देवी, जिसके दृढ़-संकल्प और महती प्रेरणा से विश्व-विश्रुत, रूप-शिल्प और मूर्ति-विज्ञान की अद्वितीय उक्त कलाकृति को वीर सेनापति चामुण्डराय ने निर्मापित कराया। उस सौम्य, सुडौल, आकर्षक एवं भव्य-मूर्ति को देखकर केवल जिनभक्त ही नहीं, सारा विश्व भी अभिभूत है तथा उसका दर्शन कर उसकी अतिशय भव्यता एवं सौंदर्य पर आश्चर्यचकित रहा जाता है। इसे विश्व का आठवाँ आश्चर्य माना गया है।

धर्म-परायण अजितादेवी:

पूर्वजन्म के सुसंस्कारों के साथ-साथ महिला में यदि धर्मपरायणता एवं पति-परायणता का मिश्रण हो जाये, तो महिला के जिस अन्तर्बाह्य शील-सौन्दर्य-समन्वित-स्वरूप का विकास होता है, उसी का चरम विकसित रूप था अजितादेवी (१०वीं सदी) का महान् व्यक्तित्व।

वह गंग-नरेश के महामंत्री एवं प्रधान सेनापति वीरवर चामुण्डराय की धर्मपत्नी थी। वह जितनी पतिपरायण थी, उतनी ही धर्मपरायण भी। उसके पति

चामुण्डराय जब-जब प्रजाहित अथवा राष्ट्र-सुरक्षा के कार्यों को संपन्न करने हेतु बाहर रहते थे, तब-तब उनके आंतरिक कार्यों की निगरानी की जिम्मेदारी उन्हीं की रहती थी।

कहते हैं कि जिस समय शिल्पी-सम्राट अरिहनेमि, अखण्ड-ब्रह्मचर्य-व्रत धारण कर अहर्निश बाहुबली-गोम्मटेश की मूर्ति के निर्माण में संलग्न था, तब अजितादेवी उसकी तथा उसके परिवार की सुविधाओं का बड़ा ध्यान रखती थी। जब तक उस मूर्ति का निर्माण-कार्य पूर्ण संपन्न नहीं हुआ, तब तक वह स्वयं भी उस कार्य की समाप्ति पर्यन्त व्रताचरण, तप एवं स्वाध्याय पूर्वक अपने दिन व्यतीत करती रही और जब मूर्ति-निर्माण का कार्य पूर्ण हुआ, तो भक्ति-विभोर होकर उसने सर्वप्रथम देवालय-परिसर स्वयं साफ किया, धोया-पोंछा, और देव-दर्शन कर अरिहनेमि तथा उसके परिवार के प्रति आभार व्यक्त किया और अपनी सासु-माता के पास जाकर गद्गद-वाणी में हर्षोत्फुल्ल नेत्रों से उन्हें उसकी सुखद सूचना दी।

तीर्थ-भक्ता गुल्लिकाज्जयी -

निष्काम-भक्ति में कृत्रिम प्रदर्शन नहीं, बल्कि मन की ऋजुता, कष्टसहिष्णुता एवं स्वात्म-सन्तोष की जीवन-वृत्ति परमावश्यक है। वैभव-प्रदर्शन में तो मान-कषाय की भावना का प्रत्यक्ष अथवा परोक्ष रूप में अन्तर्निहित रहना स्वाभाविक है और इसका सर्वश्रेष्ठ उदाहरण है, परमश्रेष्ठ गोम्मटेश की मूर्ति के प्रथम महामस्तकाभिषेक के समय की वह घटना, जब वीरवर चामुण्डराय ने केशन-युक्त शुद्ध दुग्ध के घड़ों के घड़े गोम्मटेश के महामस्तक पर उड़ेल दिये किन्तु वह उनकी कमर से नीचे तक न आ सका। पण्डित, महापण्डित, साधु, मुनि, आचार्य उपस्थित राजागण आदि सभी आश्चर्यचकित, अनेक उपाय किये गये कि महामस्तकाभिषेक सर्वांगीण हो, किन्तु सभी के प्रयत्न असफल एवं सभी लोग निराश एवं उदास, अब क्या हो? किसी की भी समझ में नहीं आ रहा था कि आखिर शुभ-कार्य में वह विघ्न क्यों? यह कष्टदायी उपसर्ग क्यों ?

सभी की घोर-मंत्रणा हुई। देर तक आकुल-व्याकुल होते हुये सभी ने यह निर्णय किया कि आज उपस्थित सभी भव्यजनों को अभिषेक का अवसर प्रदान किया जाय। जो भी चाहे, मंच पर आकर महामस्तकाभिषेक कर ले।

भीड़ में सबसे पीछे सामान्य धूमिल वस्त्र धारण किये हुए एक दरिद्र वृद्धा, जो बड़ी उमंग के साथ अभिषेक करने आई थी किन्तु भीड़ देखकर वह पीछे ही रह गई थी, उस घोषणा से उसे भी अभिषेक का सुअवसर मिल गया। उसके पास मूल्यवान् धातु का घड़ा नहीं, केवल एक नारियल मात्र था। टिरकते-टिरकते मंच पर पहुँची और निष्काम-भक्ति के आवेश में भरकर जैसे ही उसने नारिकेल-जल से परम आराध्य बाहुबली का भक्तिभाव से अभिषेक किया, उससे वह मूर्ति आपाद-मस्तक सराबोर हो गई। यह देखकर सर्वत्र जय-जयकार होने लगा। हर्षोन्मत्त होकर नर-नारीगण नृत्य करने लगे।

चामुण्डराय ने उसी समय अपनी गलती का अनुभव किया और सोचने लगा कि सचमुच ही मुझे, सुन्दरतम मूर्ति-निर्माण तथा उसके महामस्तकाभिषेक में अग्रगामी रहने तथा कल्पनातीत सम्मान मिलने के कारण अभिमान हो गया था। उसी का यह फल है कि सबके आगे मुझे अपमानित होना पड़ा है। इतिहास में इस घटना की चर्चा अवश्य आयेगी और मेरे इस अहंकार को भावी पीढ़ी अवश्य कोसेगी। उसी समय चामुण्डराय का अहंकार विगलित हो गया। वह माता गुल्लिकाज्जयी के पास गया। विनम्र-भाव से उसके चरण-स्पर्श किये, उसकी बड़ी सराहना की और उसकी यशोगाथा को स्थायी बनाये रखने के लिए उसने आँगन के बाहर, गोम्मटेश के ठीक सामने उसकी मूर्ति स्थापित करा दी। यही नहीं, गोम्मटेश की मूर्ति के दर्शनों के लिए दर्शनार्थी-गण जब जाने लगते हैं, तब प्रारंभ में ही जो प्रवेश-द्वार बनवाया गया, उसका नामकरण भी उसी भक्त-महिला की स्मृति को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए उसका नाम रखा गया - “गुल्लिकाज्जयी बागुल” अर्थात् बेंगनबाई का दरवाजा।

उस दिन चामुण्डराय ने प्रथम बार यह अनुभव किया कि प्रचुर-मात्रा में धन-व्यय, अटूट-वैभव एवं सम्प्रभुता के कारण उत्पन्न अहंकार के साथ महामस्तकाभिषेक के लिये प्रयुक्त स्वर्णकलश भी, सहज-स्वाभाविक, निष्काम-भक्तियुक्त एक नरेटी भर नारिकेल-जल के सम्मुख तुच्छ है। यह भी अनुश्रुति है कि वह गुल्लिकाज्जयी महिला, महिला नहीं, बल्कि उस रूप में कुष्माण्डिनी देवी ही चामुण्डराय की परीक्षा लेने और उसे निरहंकारी बनने की सीख देने के लिये ही वहाँ आई थी।

विदुषी रत्न पम्पादेवी -

हुम्मच के सन् ११४७ ई. के एक शिलालेख में विदुषी पम्पादेवी का बड़े ही आदर के साथ गुणगान किया गया है। उसके अनुसार वह गंग-नरेश तैलप तृतीय की सुपुत्री तथा विक्रमादित्य शान्तर की बड़ी बहिन थी। उसके द्वारा निर्मापित एवं चित्रित अनेक चैत्यालयों के कारण उसकी यशोगाथा का सर्वत्र गान होता रहता था। उसके द्वारा आयोजित जिन-धर्मोत्सवों के भेरी-नादों से दिग्-दिगन्त गूँजते रहते थे तथा जिनेन्द्र की ध्वजाओं से आकाश आच्छादित रहता था।

कन्नड़ के महाकवियों ने उसके चरित्र-चित्रण के प्रसंग में कहा है कि- आदिनाथचरित का श्रवण ही पम्पादेवी के कर्णफूल, चतुर्विध-दान ही उसके हस्त-कंकण तथा जिन-स्तवन ही उसका कण्ठहार था। इस पुण्यचरित्रा विदुषी महिला न उर्वितिलक-जिनालय का निर्माण छने हुए प्राशुक-जन से केवल एक मास के भीतर कराकर उसे बड़ी ही धूमधाम के साथ प्रतिष्ठित कराया था।

पम्पादेवी स्वयं पण्डिता थी। उसने अष्टविधार्चन-महाभिषेक एवं चतुर्भक्ति नामक दो ग्रन्थों की रचना भी की थी।

पट्टरानी शान्तलादेवी-

श्रवणबेलगोला के एक शिलालेख में होयसल-वंशी नरेश विष्णुवर्द्धन की पट्टरानी शान्तलादेवी (१२वीं सदी) का उल्लेख बड़े ही आदर के साथ किया गया है। वह पति-परायणा, धर्म-परायणा और जिनेन्द्र-भक्ति में अग्रणी महिला के रूप में विख्यात थी। संगीत, वाद्य-वादन एवं नृत्यकला में भी वह निष्णात थी। आचार्य प्रभाचन्द्र सिद्धान्तदेव इसके गुरु थे।

शान्तलादेवी ने श्रवणबेलगोल के चन्द्रगिरि के शिखर पर एक अत्यन्त सुन्दर एवं विशाल जिनालय का निर्माण करवाया था, जिसका नाम “सवति-गन्धवारण-वसति” रखा गया। सवतिगन्धवारण का अर्थ है- सौतों (सवति) के लिये मत्त हाथी। यह शान्तलादेवी का एक उपनाम भी था। इस जिनालय में सन् ११२२ ई. के लगभग भगवान् शान्तिनाथ की मनोज्ञ प्रतिमा स्थापित की गई थी।

- बी-५/४०सी,
सैक्टर-३४, धवलगिरि,
पोस्ट- नोएडा (उ.प्र.) २०१३०७

जैनदर्शन में 'संशय' का स्वरूप

प्रो. (डॉ.) वीरसागर जैन

संशय दर्शनशास्त्र का एक प्रमुख विषय है। भारतीय एवं पाश्चात्य- सभी दर्शनों में 'संशय' के सम्बन्ध में सूक्ष्म चिन्तन हुआ है। यहाँ 'संशय' के सम्बन्ध में जैनदर्शन की अवधारणा को प्रस्तुत करने का संक्षिप्त प्रयास किया जाता है।

संशय के सम्बन्ध में जैनाचार्यों ने सर्वप्रथम तो उन तत्त्वोपप्लववादियों का निराकरण किया है जो संशय की सत्ता ही नहीं मानते, उसका सर्वथा उच्छेद करते हैं। इस प्रकरण का सुन्दर एवं विस्तृत विवेचन आचार्य प्रभाचन्द्र के 'प्रमेयकमलमार्तण्ड' नामक सुप्रसिद्ध न्याय-ग्रन्थ में उपलब्ध होता है जिसका सारांश संक्षेप में इस प्रकार है -

“पूर्वपक्ष- संशयादिज्ञान कोई है ही नहीं, फिर आप जैन 'व्यवसायात्मक' विशेषण द्वारा किसका खण्डन करेंगे ? आप यह बताइये कि संशय ज्ञान में क्या झलकता है - धर्म या धर्मी ? यदि धर्मी झलकता है तो वह सत्य है या असत्य ? यदि सत्य है तो उस सत्य धर्मी को ग्रहण करने वाले ज्ञान में संशयपना कैसे हुआ ? उसने तो सत्य वस्तु को जाना है, जैसे कि हाथ में रखी हुई वस्तु का ज्ञान सत्य होता है। यदि उस धर्मी को असत्य मानो तो असत् जानने वाले केशोण्डुक ज्ञान की तरह संशय तो भ्रांतिरूप हुआ ? यदि दूसरा पक्ष माना जाय कि संशयज्ञान में धर्म झलकता है, तब प्रश्न होता है कि वह धर्म का पुरुषत्वरूप है अथवा स्थाणुत्वरूप है अथवा उभयरूप है ? यदि स्थाणुत्वरूप है तो पुनः प्रश्न उठेगा कि सत् है या असत् ? दोनों में पूर्वोक्त दोष आवेंगे। पुरुषत्व धर्म में तथा उभयरूप धर्म में भी वही दोष आते हैं, अर्थात् संशयज्ञान में स्थाणुत्व, पुरुषत्व अथवा उभयरूपत्व झलके, उनमें हम वही बात पूछेंगे कि वह स्थाणुत्वादि सत् है या असत् ? यदि सत् है तो सत् वस्तु को बतलाने वाला ज्ञान झूठ कैसे ? और यदि वह स्थाणुत्व धर्म असत् है तो वह ज्ञान भ्रांतिरूप

भी रहा ? यदि कहा जाय कि एक धर्म (स्थाणुत्व) सत् है और एक (पुरुषत्व) असत् है, तब वह एक ही ज्ञान भ्रांत तथा अभ्रांत दो रूप हुआ? यदि कहा जाय कि संशय में संदिग्ध पदार्थ ही झलकता है तो उस पक्ष में भी वह है या नहीं इत्यादि प्रश्न और वही दोष आते हैं इसलिए संशय नाम का कोई ज्ञान नहीं है।

उत्तरपक्ष (जैन) - तत्त्वोपप्लववादी का यह कथन समीचीन नहीं है, क्योंकि संशय तो प्रत्येक प्राणी को चलित प्रतिभास रूप से अपने आप में ही स्पष्ट समझ में आता है। संशय का विषय चाहे धर्म हो चाहे धर्मी, सत् हो चाहे असत्, इतने विकल्पों से संशय का बालाग्र भी खण्डित नहीं कर सकते, क्योंकि इस प्रकार आप प्रत्यक्षसिद्ध वस्तु का भी अभाव करने लगोगे तो सुख-दुःखादि का भी अभाव करना चाहिए ? आश्चर्य की बात है कि आप स्वयं ही इस संशय का विषय धर्म है या धर्मी, सत् है या असत्। इस प्रकार के संशयरूपी झूले में झूल रहे हो और फिर भी उसी का निराकरण करते हो, सो अस्वस्थ हो क्या ?

किञ्च - आप उत्पादक कारण का अभाव होने से, संशय को नहीं मानते हो या उसमें असाधारण रूप का अभाव होने से अथवा विषय का अभाव होने से संशय को नहीं मानते हो ? प्रथम पक्ष अयुक्त है, देखो ! संशय का उत्पादक कारण मौजूद है। किस कारण से संशय पैदा होता है सो बताते हैं- प्राप्त किया है स्थाणुत्व और पुरुषत्व के संस्कार को जिसने ऐसा व्यक्ति जब असमान विशेष धर्म जो मस्तक-हस्तादिक हैं तथा वक्र-कोटरत्वादि हैं उनका प्रत्यक्ष तो नहीं कर रहा और समान धर्म जो ऊर्ध्वता आदि हैं उनको देख रहा है तब उस व्यक्ति को अंतरंग में मिथ्यात्व के उदय होने पर संशय ज्ञान पैदा होता है। संशय का असाधारण स्वरूप का अभाव भी नहीं है, देखो ! चलित प्रतिभास होना यही संशय का असाधारण स्वरूप है। विषय का अभाव भी दूर से ही समाप्त होता है- स्थाणुत्व-विशिष्ट से अथवा पुरुष-विशिष्ट से जिसका अवधारण नहीं हुआ है ऐसा ऊर्ध्वता-सामान्य ही संशय का विषय माना गया है, और वह मौजूद ही है।”

इस सम्बन्ध में आचार्य प्रभाचन्द्र के अपने मूल शब्द भी द्रष्टव्य हैं जहाँ उन्होंने अत्यन्त दृढ़तापूर्वक कहा है कि संशय सर्वजनसुलभ एवं स्वात्मसंवेद्य

है, उसका बाल की नोक के बराबर भी खण्डन किसी के द्वारा नहीं किया जा सकता-

“संशय सर्वप्राणिनां चलितप्रतिपत्त्यात्मकत्वेन स्वात्मसंवेद्यः। सः धर्मविषयो वस्तु धर्मविषयो वा तात्त्विकातात्त्विककार्यविषयो वा किमेभिर्विकल्पैरस्य बालाग्रमपि खण्डयितुं शक्यते ? प्रत्यक्षसिद्धस्याप्यर्थस्वरूपस्यापह्नवे सुखदुःखादेरप्यपह्नवः स्यात्।”

इस प्रकार संशय की सत्ता सिद्ध करने के बाद जैनाचार्यों ने संशय के स्वरूप का विचार किया है।

जैनाचार्यों के अनुसार संशय दो प्रकार का होता है- १. ज्ञानात्मक और २. श्रद्धानात्मक। ज्ञानात्मक संशय को ज्ञान का दोष या मिथ्याज्ञान भी कहते हैं और श्रद्धानात्मक संशय को श्रद्धा का दोष या मिथ्यादर्शन भी कहते हैं।

दर्शन-जगत् में मुख्यतया ज्ञानात्मक संशय की ही चर्चा होती है। ऊपर कही गई ‘प्रमेयकमलमार्तण्ड’ की चर्चा भी मुख्यतः ज्ञानात्मक संशय की ही चर्चा है। जैन-न्याय-ग्रन्थों में सर्वप्रथम प्रमाण-विचार करते हुए ‘सम्यग्ज्ञान’ को ही प्रमाण का समीचीन लक्षण माना गया है और कहा गया है कि ‘सम्यग्ज्ञान’ में ‘सम्यक्’ पद का प्रयोग संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय रूप मिथ्याज्ञानों की निवृत्ति के लिए किया गया है। यथा- “अत्र सम्यक्पदं संशयविपर्ययानध्यवसायनिरासाय क्रियते अप्रामाणत्वादेतेषां ज्ञानानामिति।”^{१२}

इसके बाद वहाँ संशय, विपर्यय एवं अनध्यवसाय- इन तीनों मिथ्याज्ञानों का स्वरूप इस प्रकार स्पष्ट किया गया है- “विरुद्धानेककोटिस्पर्शिज्ञानं संशयः, यथा स्थाणुर्वा पुरुषो वेति। स्थाणुपुरुषसाधारणोर्ध्वतादिधर्मदर्शनात्तद्विशेषस्य वक्रकोटिशिरःपाण्यादेः साधकप्रमाणभावादनेककोट्यवलम्बित्वं ज्ञानस्य। विपरीतैककोटिनिश्चयो विपर्ययः, यथा शुक्तिकायामिदं रजतमिति ज्ञानम्। अत्रापि सादृश्यादिनिमित्तवशाच्छुक्तिविपरीते रजते निश्चयः। किमित्यालोचनमात्र- मनध्यवसायः, यथा पथि गच्छतस्तृणस्पर्शादिज्ञानम्। इदं हि नानाकोट्यवलम्बनाभावान्न संशयः। विपरीतैककोटिनिश्चयाभावान्न विपर्यय इति पृथगेव। एतानि च स्वविषयप्रमितिजनकत्वाभावादप्रमाणानि ज्ञानानि भवन्ति, सम्यग्ज्ञानानि तु न भवन्तीति सम्यक्पदेन व्युदस्यन्ते।”^{१३}

संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय को कहीं-कहीं संशय, विभ्रम, मोह शब्दों से भी कहा है यथा -

“संशय विभ्रम मोह त्याग आपौ लखि लीजै।”^४

‘मोह’ को भी कहीं-कहीं ‘विमोह’ शब्द से भी कहा गया है। आचार्य विद्यानन्द स्वामी ने विमोह या अनध्यवसाय को ‘अव्युत्पत्ति’ शब्द से भी कहा है।^५ आचार्य माणिक्यनन्दी को भी ‘अनध्यवसाय’ के लिए ‘अव्युत्पत्ति’ शब्द इष्ट रहा है। यथा- “संदिग्धविपर्यस्ताव्युत्पन्नानां.....”^६

कहने का तात्पर्य है कि मोह, विमोह, अव्युत्पत्ति और अनध्यवाय- ये सभी पर्यायवाची हैं। संशय, विपर्यय, अनध्यवाय- इन तीनों को जैन ग्रन्थों में ‘समारोप’- शब्द से भी जाना जाता है। जैसा कि ‘परीक्षामुखसूत्र’ के निम्नलिखित सूत्र में कहा गया है- ‘दृष्टोऽपि समारोपात्तादृक्।’^७ अर्थात् देखा-जाना हुआ अर्थ भी यदि ‘समारोप’ लग जाए तो पुनः अपूर्वार्थ हो जाता है। यहाँ ‘समारोप’ शब्द का अर्थ संशय-विपर्यय-अनध्यवसाय है। इस प्रकार संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय की चर्चा प्रायः सर्वत्र एक साथ ही उपलब्ध होती है, परन्तु यहाँ हमारा प्रयोजन मात्र ‘संशय’ का ही स्वरूप स्पष्ट करना है, विपर्यय और अनध्यवसाय की चर्चा पृथक् रूप से फिर कभी करेंगे। अथवा उसे प्रमेयकमलमार्तण्ड, प्रमेयरत्नमाला आदि ग्रन्थों से देखना चाहिए।

संशय का एक लक्षण ‘न्यायदीपिका’ ग्रन्थ से ऊपर उद्धृत किया जा चुका है। इसी प्रकार के लक्षण अन्य भी अनेक जैन ग्रन्थों में उपलब्ध होते हैं। जिनमें से कतिपय प्रमुख लक्षण इस प्रकार है -

१. “अनेकार्थानिश्चितापर्युदासात्मकः संशयः।”^८
२. “अनवस्थितकोटीनामेकत्र परिकल्पनाम्। शुक्ति वा रजतं किं वेत्येव संशीतिलक्षणम्।”^९
३. “संशयो नामानवधारितार्थज्ञानम्।”^{१०}
४. “एकधर्मिकविरुद्धनानाधर्मप्रकारकं ज्ञानं ही संशयः।”^{११}

ध्यातव्य है कि प्रायः लोग ऐसा कहते हैं कि संशय दो कोटियों को स्पर्श करने वाला होता है, परन्तु यहाँ ‘दो’ या ‘उभय’ पद का प्रयोग नहीं किया गया है, बल्कि ‘अनेक’ पद का प्रयोग किया है। इससे सिद्ध होता है कि संशय में

दो ही कोटियों का स्पर्श होना आवश्यक नहीं है, दो का भी हो सकता है और दो से अधिक का भी हो सकता है।

इसी प्रकार कुछ लोग ऐसा भी कहते हैं कि इन कोटियों में से एक सत्य होती है और एक असत्य। परन्तु यहाँ ऐसा भी कुछ नहीं कहा गया है। इससे ज्ञात होता है कि संशयज्ञान की ये कोटियाँ सब की सब असत्य भी हो सकती हैं। यह आवश्यक नहीं है कि उनमें एक सत्य ही हो। यह बात उदाहरण से भी सहज समझ में आती है। यथा- किसी को संशय होता है कि यह सीप है या चाँदी। यहाँ यह हो सकता है कि वह वस्तु दोनों ही न हो, एल्युमिनियम, पन्नी आदि कुछ और ही चमकीली वस्तु हो।

किन्तु यहाँ यह भी ज्ञातव्य है कि संशयज्ञान की सभी कोटियाँ असत्य होते हुए भी सर्वथा असत्य (असत्) नहीं होती, उन-उन अर्थों की लोक में सत्ता अवश्य होती है, सर्वथा असत् वस्तु का संशय नहीं होता। यही कारण है कि जैनाचार्यों ने संशय के द्वारा भी आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की है। यथा-

“सत्यपि संशये तदालम्बनादात्मसिद्धिः। न हि अवस्तुविद्यायः संशयो भवति।”^{१२}

इस प्रकार संशयज्ञान मिथ्या होते हुए भी वस्तु की सत्ता को सिद्ध करता है- यह बड़ी अद्भुत बात है।

संशय के सम्बन्ध में एक अन्य भ्रान्ति यह है कि कुछ लोग जिज्ञासा या प्रश्न को भी संशय समझ लेते हैं, परन्तु वास्तव में देखा जाए तो जिज्ञासा संशय नहीं है। जिज्ञासा और संशय में बहुत अन्तर है। जिज्ञासा में जानने की इच्छा है, प्रश्न का उत्तर बताने का निवेदन है, परन्तु संशय में ऐसी कोई बात नहीं है।

दरअसल ज्ञान के अनेक रूप होते हैं- जिज्ञासा, प्रश्न, संशय आदि। हमें इन सब में विद्यमान सूक्ष्म अन्तर को समझना चाहिए।

इसी प्रकार कुछ लोग अवग्रह ज्ञान को भी जो कि मतिज्ञान का एक (प्रथम) भेद है, संशय समझ लेते हैं, परन्तु संशय और अवग्रह ज्ञान में भी बड़ा अन्तर है, अवग्रह ज्ञान संशय ज्ञान नहीं है। जैसा कि आचार्य अभिनव धर्मभूषण यति ने भी स्पष्ट कहा है-

“तत्रेन्द्रियार्थसमवधानसमनन्तरसमुत्थसत्तालोचनान्तरभावी सत्ताऽवान्तरजातिविशिष्टवस्तुग्राही ज्ञानविशेषोऽवग्रहः- यथाऽयं पुरुष इति।

नाऽयं संशयः, विषयान्तरव्युदासेन स्वविषयनिश्चयात्मकत्वात्। तद्विपरीतलक्षणो हि संशयः।”^{१३}

अर्थात् इन्द्रिय और अर्थ के मिलन के तुरन्त बाद होने वाला और सत्तावलोकन के बाद अवान्तर सत्ता को विषय करने वाले ज्ञानविशेष को अवग्रह कहते हैं। जैसे- यह पुरुष है। यह अवग्रह संशय नहीं है, क्योंकि इसमें अन्य विषय नहीं है और अपने विषय का निश्चय है। संशय इससे विपरीत होता है।

१. “अनेकार्थानिश्चिताऽपर्युदासात्मकः संशयस्तद्विपरीतोऽवग्रहः।”^{१४}

२. “संशयो हि निर्णयविरोधी नत्ववग्रहः।”^{१५}

अर्थात् अनेक अर्थों में अनिश्चयरूप संशय होता है, जबकि अवग्रह इससे विपरीत होता है। संशय ही निर्णय-विरोधी होता है, न कि अवग्रह। इस प्रकार संशय के प्रधान भेद ज्ञानात्मक संशय का स्वरूप हुआ। अब संशय के द्वितीय भेद श्रद्धानात्मक संशय का स्वरूप समझने का प्रयत्न किया जाता है।

कहा जा चुका है कि श्रद्धानात्मक संशय श्रद्धा का दोष है जिसे जैन-ग्रन्थों में मिथ्यात्व या मिथ्यादर्शन भी कहा सकता है। जैनदर्शन के अनुसार मिथ्यात्व ५ प्रकार का होता है-

१. एकान्तमिथ्यादर्शन।
२. विपरीतमिथ्यादर्शन।
३. संशयमिथ्यादर्शन।
४. वैनयिकमिथ्यादर्शन।
५. अज्ञानिकमिथ्यादर्शन।

इन पाँचों का स्वरूप इसप्रकार बताया गया है- “तत्र इदमेव इत्थमेवेति-धमिधर्मयोरभिनिवेश एकान्तः। पुरुष एवेदं सर्व इति वा नित्य एव वा अनित्य एवेति। सग्रन्थो निर्ग्रन्थः, केवली कवलाहारी, स्त्री सिद्धयतीत्येवमादिः विपर्ययः। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्रिणि किं मोक्षमार्गः स्याद्वा न वेत्यन्तरपक्षापरिग्रहः संशयः। सर्वदेवतानां सर्वसमयानां च समदर्शनं वैनयिकम्। हिताहितपरीक्षाविरहोऽज्ञानिकत्वम्।”^{१६}

अर्थात् यही है या ऐसा ही है- ऐसा धर्म-धर्मी का एकान्तिक श्रद्धान एकान्त मिथ्यादर्शन है। जैसे- यह सब पुरुष ही है अथवा वस्तु नित्य अनित्य ही है। साधु परिग्रही होते हैं, केवली कवलाहारी होते हैं, स्त्री को तद्भव-मुक्ति प्राप्त

होती है- यह विपरीत मिथ्यादर्शन है। सम्यग्दर्शनज्ञानचारित्र की एकता मोक्षमार्ग है या नहीं- ऐसा मानना संशय मिथ्यात्व है। सभी देवों को और सभी धर्मों को समान मानना वैयक्तिक मिथ्यात्व है। हिताहित का परीक्षण न करना अज्ञान मिथ्यात्व है।

इन पाँच प्रकार के मिथ्यादर्शनों में से संशय नामक मिथ्यादर्शन को ही श्रद्धानात्मक संशय कहते हैं। ज्ञानात्मक संशय को मिथ्याज्ञान कहते हैं और श्रद्धानात्मक संशय को मिथ्यादर्शन कहते हैं।

विचारणीय है कि ज्ञानात्मक संशय (मिथ्याज्ञान) और श्रद्धानात्मक संशय में मूलभूत अन्तर क्या है ?

दरअसल बात यह है कि सामान्यतः किसी भी विषय को जानने में जो संशय होता है उसे ज्ञानात्मक संशय कहते हैं किन्तु जब वही संशय किसी मोक्षमार्ग के प्रयोजनभूत विषय के सम्बन्ध में होता है तो उसे श्रद्धानात्मक संशय कहते हैं, क्योंकि उसमें मात्र ज्ञानावरण कर्म का उदय निमित्त नहीं होता, मोहनीय कर्म का उदय भी निमित्त होता है। श्रद्धानात्मक संशय की अवधारणा तो जैनाचार्यों की ही विशिष्ट देन है।

संदर्भ:

१. प्रमेयकमलमार्तण्ड, सूत्र १/३
२. न्यायदीपिका, १/८
३. न्यायदीपिका, १/९
४. कविवर दौलतराम, छहढाला ४/६
५. तत्त्वार्थश्लोकवार्तिक, अध्याय १, सूत्र ११, श्लोक ३५३, ३५५
६. आचार्य माणिक्यनन्दि, परीक्षामुखसूत्रम् ३/१७
७. वही, १/५
८. आचार्य अकलंक, तत्त्वार्थवार्तिकम् १/१५/९
९. मोक्षपंजिका ५
१०. सूर्यप्रज्ञप्ति, मलयगिरिवृत्ति, २, पृष्ठ ५
११. सप्तभंगीतरंगिणी, पृष्ठ ६
१२. मल्लिषेणसूरि, स्याद्वादमंजरी, १७
१३. न्यायदीपिका २/११
१४. तत्त्वार्थवार्तिकम् १/१५/९
१५. वही, १/१५/१०
१६. आचार्य पूज्यपाद, सर्वार्थसिद्धि ८/१

- प्राध्यापक- जैनदर्शन विभाग,
ला.ब.शा. संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली-११००१६

भारतीय मूर्तिकला में जैन मूर्तियों के लक्षण

ललित शर्मा

‘जिन’ के अनुयायियों को जैन तथा ‘जिनों’ द्वारा स्थापित धर्म को जैनधर्म के नाम से जाना गया है। जैनधर्म के ऐसे महान महापुरुषों को तीर्थंकर या केवली कहा गया है। ये तीर्थंकर २४ हुए हैं जिनकी धारणा ही जैनधर्म की धुरी है। अन्य जैन देवों की संकल्पना भी इन्हीं जिनों से सम्बद्ध है।

गुप्तोत्तर काल में इन २४ तीर्थंकरों की पहचान के निमित्त उनके लांछनों, यक्षों और शासन देवियों का निर्धारण किया गया, जिनमें १ से २४ तक महान तीर्थंकरों की मूर्तियों के लक्षण तथा यक्ष व यक्षी (शासन देवी-दिगम्बर-श्वेताम्बर) निर्धारित की गई। निर्धारण का यह क्रम व तालिका जैनधर्म के इतिहास विषयक ग्रन्थों में आसानी से देखी, परखी तथा समझी जा सकती है। अतः हम उनकी यहाँ चर्चा न करके मूर्तियों के लक्षणों की ही चर्चा करेंगे।

जैन साहित्य के साक्ष्यों पर गौर किया जाये तो ज्ञात होता है कि अन्तिम तीर्थंकर महावीर स्वामी की मूर्ति को उनके जीवनकाल में ही निर्मित करवा दिया गया था, जिसे जैन धर्मावलम्बियों में जीवन्त स्वामी कहा गया। विद्वान पुरातत्वविद् डॉ. ए. एल. श्रीवास्तव (भिलाई) से जब जैन मूर्ति लक्षणों विषयक मैंने विशिष्ट निर्देश प्राप्त किये तब इस आधार पर प्रामाणिक रूप से यह माना जाता है कि जैन तीर्थंकर मूर्तियों में अभी तक सर्वाति प्राचीन, बिहार के लोहानीपुर से प्राप्त मौर्ययुगीन नग्न (दिगम्बर) धड़ को माना जाता है। इसका मूल कारण भी यह माना गया कि तीर्थंकर दिगम्बर ही थे। विद्वान वासुदेवशरण अग्रवाल ने मथुरा की जैन मूर्तिकला पर विशद प्रकाश डाला है। उनकी जैनकला विवेचना से यह प्रामाणित होता है कि मथुरा के कंकाली टीले से कुषाणकालीन जैन स्तूप खण्ड, आयांगपट्ट, तीर्थंकर मूर्तियाँ मिली थी। इन पर कुछ ऐसे शिलालेख पठन में आये जिनमें वहाँ देवनिर्मित स्तूप के निर्माण के प्रमाणों का भी पता

चलता है। प्रतीत होता है कि मथुरा जैनधर्म और कला का प्राचीन केन्द्र था। श्रीवास्तव के अनुसार- सारी अमूल्य निधियां अब लखनऊ के राज्य पुरातत्व संग्रहालय में दर्शित हैं। मथुरा के उक्त टीले के उत्खनन से जैन शिल्प की जो अद्भुत सामग्री मिली उनमें एक जैन स्तूप, दो प्रासाद व जैन मंदिरों के अंकल चित्र मिले थे। इनमें आरहवें तीर्थंकर अरनाथ स्वामी की मूर्ति की चौकी पर एक लेख में यह अंकित है कि - कोट्टियगण की वज्जी शाखा के वाचक आर्य वृहस्ती की प्रेरणा से एक श्राविका ने देव निर्मित स्तूप में अर्हत की मूर्ति स्थापित की। मूलतः यह लेख संवत् ८९ का है, जो कुषाण सम्राट वासुदेव के शासन काल का १६७ ई. का है। ये सामग्री ठीक ईसापूर्व दूसरी सदी से लगातार ११वीं सदी तक मिलती है। इनमें निम्न मूर्तियों का विश्लेषण, लक्षण प्रस्तुत है। ये लक्षण अब सार्वजनिक रूप से पठन में नहीं आ पाते हैं।

आयांगपट्ट-

पाषाण के चौकोर टुकड़ों पर केन्द्र में चक्र, स्वास्तिक व तीर्थंकर मूर्ति को घेरकर उसमें श्रीवास्तु, मीन मिथुन, नन्दावर्त पूर्णघट, माला, भद्रासन आदि अष्टमांगलिक चिन्हों को उकेरा गया है। इनकी स्थापना अर्हत की पूजा हेतु बताई गई है। इस आधार पर श्रीवास्तव ने इन आयांगपट्टों को जैन पूजा के प्रथम सोपान माना है। उन्होंने इस तथ्य को प्रस्तुत किया कि - पूर्व में प्रतीक पूजा का प्रचलन था बाद में इन आयांगपट्टों पर केन्द्र में पालथी मारकर ध्यान में बैठे तीर्थंकरों को उकेरा जाने लगा और फिर बाद में उनकी स्वतंत्र मूर्तियाँ भी गढ़ी जाने लगी।

जैन तीर्थंकर मूर्तिया-

मूर्ति विशेषज्ञों की प्रबल धारणा रही है कि जैन तीर्थंकरों की प्रथम मूर्तियाँ मथुरा में ही बनाई गई थी। इनके प्रारम्भिक प्रमाण कंकाली टीले से मिले हैं। इनमें कुषाणकालीन मूर्तियों की संख्या अधिक है। ये तीर्थंकर मूर्तियाँ तीन प्रकार की थी। १. पालथी मारकर ध्यानमुद्रा में बैठी हुई। २. कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़ी हुई तथा ३. सर्वतोभद्र मुद्रा में अर्थात् एक ही पाषाणफलक पर पीठ से पीठ मिलाकर खड़ी चार चौमुखी जैन मूर्तियाँ।

लांछन-

मथुरा की आरम्भिक तीर्थंकर मूर्तियाँ एक समान थी। अतः उनकी पहचान कर पाना दुष्कर था और कुषाणकाल तक तो तीर्थंकर मूर्तियों पर लांछनों का अंकन

ही नहीं हुआ था। इस कारण मथुरा की प्राथमिक तीर्थकर मूर्तियों की चरण चौकी पर कोई लांक्षन नहीं था। परन्तु उनमें कुछेक मूर्तियों की पहचान की गई, जैसे स्वामी आदिनाथ को उनके कंधों तक लटकती जटाओं से, स्वामी पार्श्वनाथ को उनके शीर्ष पर सर्पफणों के छत्र थे। कुछेक मूर्तियों के शिलालेखों से उनकी पहचान की गई। परन्तु जैन शिल्प ग्रन्थों में लांछनों के उल्लेख ७वीं-८वीं सदी ई. के बाद से ही पाये गये।

महापुरुष लक्षण-

यद्यपि चरण चौकी वाले लांछनों का विकास कुषाण काल में नहीं हुआ था, तथापि उसी काल में लगभग उन्हीं स्थानक व आसन मुद्राओं में निर्मित की गई बुद्ध-बोधिसत्व की मूर्तियों तथा जैन तीर्थकर की मूर्तियों में भेद करने का मुख्य साक्ष्य महापुरुष लक्षण था। जैन तीर्थकर की मूर्तियों के वक्ष पर उक्त प्रकार के श्रीवत्स का अंकन उन्हें बौद्ध मूर्तियों से अलग पहचान देता है। ध्यान मुद्रा में बैठी तीर्थकर मूर्तियों की हथेलियों पर प्रायः चक्र और पैर के तलुओं पर चक्र और नन्दार्वत के मांगलिक चिन्ह उकरे मिलते हैं। उक्त प्रकार के लक्षणों में कुछ अन्य विशेषताओं का भी ध्यान पाठक तथा मूर्तिकला पर काम करने वाले शोधार्थियों को रखना चाहिये। १. तीर्थकरों की मूर्तियों को या तो मुण्डित मस्तक वाला या कुंचित केश वाला बनाया गया। २. ऐसी मूर्तियों की आंखों की भौंहों के मध्य ऊर्णी का अंकन किया गया। ३. ये मूर्तियां पूर्णतया नग्न (दिगम्बर) थी क्योंकि तब श्वेताम्बर विचारधार का उद्भव नहीं हुआ था। परवर्ती युग में फिर तीर्थकर मूर्तियों में कुछ परिवर्तन किये गये और उनमें उर्णी का अभाव रहा। इनमें फिर शीश के पृष्ठ में प्रभामण्डल बनाया जाने लगा तथा उसका विविध रूपों में अलंकरण किया गया। इसी क्रम में तीर्थकर मूर्तियों पर उनके पारिवारिक देवों यथा यक्ष, शासन देवी, चामरधारी उपासकों का अंकन होने लगा। शीश पर त्रिछत्र का तथा उसके ऊपर ढोल बजाते देवता का अंकन किया गया। मूर्ति परिकर में ऊपर मालाधारी विधाधर व नवग्रहों का भी समावेश किया गया तथा प्रायः आसन के नीचे मध्य में रखे धर्मचक्र को प्रमुखता दी गई। इस प्रकार के उक्त लक्षणों से पहचान सम्भव होना आसान हो गया।

अन्य जैन देव मूर्तियों के लक्षण-

जीवन्त स्वामी - जैन साहित्य की मान्यता के अनुसार महावीर स्वामी के जीवन में ही चन्दन से उनकी मूर्ति का निर्माण होने के कारण उन्हें उक्त नाम से भी पहचाना गया। शिल्प में इस रूप की मूर्ति को उनके राजकुमार स्वरूप में बनाया गया। इसमें उन्हें कार्योत्सर्ग मुद्रा में मुकुट, मेखला, हार से अलंकृत किया गया। इस आशय की मूर्तियों के उदाहरण राजस्थान के औसियां व नागौर तथा गुजरात के अंकोटा में हैं, जो ५वीं- ६ठीं सदी के हैं तथा कांसे से निर्मित हैं। इसमें राजस्थान की उक्त प्रकार की मूर्तियां ९वीं से १५वीं सदी के मध्य की हैं।

नैगमेष तथा रेवती - यह बकरे के मुख वाला देव है, जो इन्द्र की पैदल सेना का प्रमुख है। श्वेताम्बर मान्यता के अनुसार उसने महावीर के भ्रूण को देवनन्दा नामक ब्राह्मणी के गर्भ से माता त्रिशला के गर्भ में स्थापित किया था। मथुरा तथा लखनऊ के संग्रहालय में मथुरा से प्राप्त कुषाणकालीन ऐसी मूर्तियाँ प्रदर्शित हैं। इस मूर्ति पर इस देव का नाम भी है। इसे बालको को मंगल देवता माना जाता है। रेवती को नैगमेष की शक्ति माना गया है। यह बकरे के मुखवाली नारी मूर्ति है, जो मथुरा संग्रहालय में है।

इन्द्र - जैनधर्म के ग्रन्थों में उल्लेख है कि तीर्थकरों के जन्म, दीक्षा और कैवल्य प्राप्ति के अवसरों पर इन्द्र धरती पर आते हैं। इसी आशय को राजस्थान के जैन मंदिरों (११वीं - १२वीं सदी) में देखा जा सकता है।

गजलक्ष्मी तथा सरस्वती - तीर्थकरों की माताओं द्वारा देखें स्वप्नों में लक्ष्मीका उल्लेख विशिष्टता से है। अतः जैन शिल्प में उन्हें सम्मानजनक स्थान दिया गया। ये मूर्तियाँ शुंगकाल से ही उपलब्ध होती हैं, वहीं इस धर्म में सरस्वती को भी विद्या, बुद्धि की देवी मानकर उसे सम्मान सहित स्थान दिया गया परन्तु उन्हें श्रुतदेवी के नाम से जैन शिल्प में पहचाना गया। कुषाणयुगीन मथुरा के कंकाली टीले से मिली सरस्वती की मूर्ति सर्वाधिक प्राचीन है, जो वहाँ के जैन परिसर से मिली है। यह लखनऊ संग्रहालय में है।

चक्रेश्वरी, अम्बिका, पद्मावती देवी - जैन शिल्प में कुछ ऐसी देवियों का विधान भी रखा गया जो तीर्थकरों की शासन देवी हैं। इसके हाथों में चक्र धारित होता है तथा यह गरूड़ पर आरूढ़ होती है। मध्यकाल की इस प्रकार की मूर्तियाँ जैन मंदिरों में देखी जा सकती हैं।

अम्बिका तीर्थकर नेमिनाथ की शासन देवी है। इसका अंकन भी मध्ययुग में हुआ। इसके हाथों में क्रमशः एक बालक, पाश, अंकुश तथा आम की बौर वाली टहनी होती है। यह सिंह पर आरूढ़ रहती हैं।

पद्मावती तीर्थकर पार्श्वनाथ की शासनदेवी के रूप में मान्य है। इसके शीश पर सर्पफणों का छत्र होना इसका मुख्य लक्षण है। इन तीनों देवियों का स्पष्ट व ११वीं सदी का मूर्त शिल्प झालरापाटन (झालावाड़, राजस्थान) के शांतिनाथ दिगम्बर जैन मंदिर में दर्शित है।

क्षेत्रपाल - जैनधर्म ने क्षेत्रपाल की गणना भैरव के समान योगिनियों के साथ की है। क्षेत्रपाल की मूर्ति लक्षणों में उनकी भयंकर मुखाकृति, श्यामवर्ण, बिखरे केश, पैरों में खड़ाऊ, हाथों में मुगदर, डमरू तथा अंकुश प्रमुख होते हैं। मथुरा संग्रहालय में जैन क्षेत्रपाल की एक प्राचीन मूर्ति में उनके दाहिने हाथ में दण्ड है तथा उन्होंने अपने बायें हाथ में श्वान (कुत्ते) की रस्सी को पकड़ रखा है। उत्तरप्रदेश के देवगढ़ तथा मध्यप्रदेश के खजुराहो में भी ११वीं - १२वीं सदी की इस प्रकार की मूर्तियाँ मिलती हैं।

आदि मिथुन - सृष्टि के मूल कारण आदिमिथुन का अंकन जैन शिल्पकला में विशेष स्थान रखता है। इसे जुगलिया (युगल मिथुन) भी कहा गया। इस शिल्प में इन्हें विशाल वृक्ष के नीचे बैठा दर्शाया जाता है। चरण चौकी पर बालकों का अंकन तथा वृक्ष के ऊपर जिनबिम्ब बना होता है। ए. एल. श्रीवास्तव के अनुसार लखनऊ संग्रहालय में इस आशय का एक अंकन फलक पर दर्शित है। सूत्रों के अनुसार उत्तरप्रदेश के सुल्तानपुर में वहाँ के राज्य पुरातत्व संगठन में कूंड नामक स्थान से ११वीं सदी का एक ऐसी ही सुन्दर जुगलिया (आदि मिथुन) फलक खोजा है।

यदि जैन और बौद्ध मूर्तांकन में भेद किये जाये तो अध्ययन करने तथा धर्मों की मूर्तियाँ देखने पर निम्न बिन्दु समक्ष में आते हैं। जैन तीर्थकरों की मूर्तियाँ निर्वस्त्र (दिगम्बर) होती है जबकि बुद्ध की मूर्तियों में उनके बायें या फिर दोनों कंधों से संधाटि वस्त्र नीचे तक लटकता है। बुद्ध की मूर्तियों के वक्ष पर श्रीवस्त का अंकन नहीं होता जबकि तीर्थकरों की मूर्तियों पर श्रीवत्स का लक्षण होता

है। तीर्थकर मूर्तियाँ या तो ध्यानमुद्रा में आसनस्थ अथवा कार्योत्सर्ग मुद्रा में खड़ी दिखायी देती हैं। उनमें अभय, वरद या अन्य मुद्रा का अभाव होता है, जबकि बुद्ध मूर्तियाँ अभय मुद्रा में रहती हैं अथवा भूमि स्पर्श, धर्म चक्र प्रवर्तन मुद्रा में बैठी हुई या महापरिनिर्वाण मुद्रा में लेटी हुई होती हैं। इस प्रकार मुद्राओं तथा लक्षणों के आधार पर मूर्तियों की पहचान आसानी से की जा सकती है।

आयांगपट्ट का शिल्प वैशिष्ट्य - वासुदेवशरण अग्रवाल ने मथुरा की जैन कला पर विस्तृत एवं गंभीर विवेचना प्रस्तुत की है। उन्होंने अपनी शोध में बताया कि उक्त क्षेत्रीय जैन कला में आयांगपट्ट तीर्थकर मूर्तियाँ, देवी मूर्तियाँ, स्तूपों के तोरण, शालभंजिका, वेदिका स्तम्भ, उष्णीय आदि मुख्य हैं। आयांगपट्ट मूल रूप से आर्यकपट्ट होता है। अर्थात् पूजार्थ हेतु स्थापित शिलापट्ट, जिस पर स्वास्तिक, धर्मचक्र आदि अलंकरण या तीर्थकर की मूर्तियाँ स्थापित की गई हो। स्तम्भ के प्रांगण में इस प्रकार के पूजा शिलापट्ट या आयांगपट्ट ऊँचे स्थानों पर स्थापित किये जाते थे तथा दर्शनार्थी उनकी पूजा करते थे। मथुरा की जैन कला में इन आयांगपट्टों का अति विशिष्ट स्थान है। उन पर जो अलंकरण की छवि है वह नेत्रों को मोहित कर देती हैं। उदाहरण के लिये सिंहानादिक द्वारा स्थापित आयांगपट्ट पर ऊपर नीचे अष्टमांगलिक चिन्हों का अंकन है। दोनों पार्श्वों में से एक ओर चक्रांकित ध्वजस्तम्भ व दूसरी ओर गजांकित स्तम्भ है। मध्य में चार त्रिरत्नों के मध्य में तीर्थकर की बद्धपद्मासन मूर्ति है। एक अन्य प्राप्त आयांगपट्ट के मध्य भाग में विशाल स्वास्तिक का अंकन है तथा उसके स्वास्तिक भाग के गर्भ में लघु तीर्थकर मूर्ति है। ध्यान से देखने पर यह ज्ञात होता है कि स्वास्तिक के आवेषण रूप में सोलह देव योनियों से अलंकृत मण्डल है, जिसके चारों कोणों पर चार महोरग मूर्तियाँ हैं, जबकि नीचे की ओर अष्टमांगलिक चिन्हों की श्रृंखला है। तृतीय आयांगपट्ट के मध्य षोडशधर्मचक्र का सुन्दर अंकन है तथा इसके चारों ओर तीन मण्डल हैं जिसके प्रथम मण्डल में सोलह नन्दिपद, दूसरे में अष्टदिक्कुमारिकाएं और तीसरे में कुण्डलित पुष्पकरस्रज कमलों की माला है। चारों कोनों में चार महोरग मूर्तियाँ हैं। इस प्रकार का पूजा पट्ट प्राचीन काल में चक्रपट्ट कहलाता था। आयांगपट्ट जैन कला की महत्वपूर्ण निधि है। इसकी स्थापना फल्गुयश नर्तक की पत्नि शिवयशा

ने अर्हत पूजा हेतु की थी। इस पर प्राचीन मथुरा जैन स्तूप की आकृति अंकित है जिसमें तोरण, वेदिका तथा सोपान है।

मथुरा के कंकाली टीले से एक मूर्ति आर्यवती की मिली थी। डा. अग्रवाल इसका सम्बन्ध महावीर की माता त्रिशला क्षत्रियाणी से बताने की संभावना व्यक्त करते हैं। यह मूर्ति क्षत्रप षोडास के शासनकाल में संवत् ४२ में स्थापित की गई थी। इस मूर्ति का लक्षण यह है कि इसमें देवी आर्यवती को राजपद रूप की देवी के रूप में अंकित किया है तथा छत्र और चंवर लिये दो पार्श्वचर स्त्रियाँ उनकी सेवा कर रही है।

इस प्रकार जैनधर्म की मूर्तियों के उक्त गंभीर प्रमाणों से उनके लक्षणों को देखकर कोई भी श्रद्धालु या शोधार्थी उनकी पहचान आसानी से कर सकता है। परन्तु यह भी एक कटुसत्य है कि प्राचीन मूर्ति शिल्प के लक्षणों, भावों पर जितने भी ग्रन्थ रचे गये वे या तो संस्कृत में हैं या अंग्रेजी में। ये ग्रन्थ ना तो मिलते हैं ना ही पढ़ने वाले क्योंकि यह एक दुरूह कार्य है। अतः सामान्यजन मूर्तियों की पहचान कर ही नहीं पाता। प्रस्तुत लेख मूर्ति शिल्प के निष्णात् मनीषी विद्वानों से चर्चा कर ही तैयार किया है, ताकि आम पाठक में भी मूर्तियों के प्रति रूचि जाग्रत कर सके।

-जैकी स्टूडियो,
१३, मंगलपुरा,
झालावाड़ - ३४६ ००१
(राजस्थान)

लोकानुप्रेक्षा में वास्तु विद्या

सतेन्द्र कुमार जैन

भूमिका:

जैनदर्शन चिंतन मनन की परम्परा की अद्वितीय स्थान है। इसमें क्रिया से अधिक चिंतन और मनन को बल दिया गया है। व्यक्ति चाहे चिंतन के द्वारा पुण्य कमा सकता है और चाहे तो चिंतन से पाप भी कमा सकता है। इसी परम्परा में अनुप्रेक्षा शब्द का प्रयोग आचार्यों ने किया है। अनुप्रेक्षा से अपने ज्ञान का परिमार्जन किया जा सकता है। इस अनुप्रेक्षा के बारह भेद कहे हैं। जिसमें लोकानुप्रेक्षा में स्वर्ग, नरक, मध्यलोक, आदि के वर्णन का चिंतन किया जाता है। लोकानुप्रेक्षा में लोक में स्थित भवनों, उत्तम स्थानों, जिनालयों आदि का चिंतन लोकानुप्रेक्षा है। इसमें बनावट आदि के आकार-प्रकार का चिंतन कर वास्तु का ज्ञान भी किया जा सकता है।

लोकानुप्रेक्षा का स्वरूप:

जाने गए अर्थ का मन में अभ्यास करना अनुप्रेक्षा है^१ तथा अनंतानंत जो आकाश है उसके बहुत मध्य के प्रदेश में घनोदधि, घनवात और तनुवात वलय नामक तीन पवनों में वेष्टित आदि और अंतरहित, अकृत्रिम, निश्चल और असंख्यात प्रदेश का धारक लोक है। उसके आकार का बार-बार चिंतन करने को लोकानुप्रेक्षा कहते हैं। नीचे मुख किए हुए आधे मृदंग के ऊपर पूरा मृदंग रखने पर जैसा आकार होता है वैसा आकार लोक का है, परन्तु मृदंग गोल है और लोक चौकोर है, यह भेद है। इस प्रकार लोकानुप्रेक्षा में लोक का ही चिंतन मुख्यतः से किया जाता है।^२

लोकानुप्रेक्षा का विषय एवं प्रयोजन:

लोकानुप्रेक्षा में तीन लोक के स्वरूप का तथा उसमें अकृत्रिम चैत्यालय, देवभवन, स्वर्गों की ऊँचाई आदि, देवों के अस्तित्व का तथा मध्य लोक में पंचमेरु अकृत्रिम

चैत्यालयों का वर्णन तथा तीन लोक में विराजमान कृत्रिम तथा अकृत्रिम जिनबिंबों का वर्णन आदि है। वैराग्य की ओर बढ़ता हुआ साधक या गृहस्थ श्रावक दोनों ही लोक के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करके संसार परिभ्रमण के कारण को जानते हैं। जिससे लोक के उत्तम पदों के प्रति तो बहुमान बढ़ता है तथा नरकादि अधम गतियों से विरक्ति का भाव होता है जिस कारण से श्रावक तथा साधक पाप कर्मों का अर्जन करने से बचते हैं तथा पुण्य कर्म में प्रवृत्ति अधिक करते हैं।

वास्तु का अर्थ:

वास्तु विद्या का अर्थ है भवन निर्माण की कला। इसी को प्राकृत भाषा में वत्थु, विज्जा, उर्दू में सनाअत और अंग्रेजी में आर्कीटेक्टॉनिक्स कहते हैं। धर्म, ज्योतिष, पूजापाठ आदि ने वास्तुविद्या को अध्यात्म से जोड़ दिया, जिससे उसका प्रचार एक आचार संहिता की भाँति होने लगा है। तथा समाज की आस्था जुड़ी है।

वास्तु शब्द संस्कृत की वस् धातु से बना है। जिसका अर्थ है रहना। मनुष्यों, देवों और पशु पक्षियों के उपयोग के लिए मिट्टी, लकड़ी पत्थर आदि से बनाया गया स्थान वास्तु है। संस्कृत का वसति और कन्नड़ का बसदि शब्द भी वास्तु के अर्थ में ही है। हिन्दी का बस्ती शब्द भी वास्तु से सम्बद्ध है, परन्तु वह ग्राम, नगर आदि के अर्थ में प्रचलित हो गया है।^१

अकृत्रिम चैत्य एवं चैत्यालय का माप:

अकृत्रिम जिनचैत्यालयों की संख्या ८५६९७४८१ है, जो पृथ्वीकायिक होते हैं। ये शाश्वत् चैत्यालय कहे जाते हैं। इनमें उर्ध्व लोक ८४९७०२३ मध्य लोक में ४५८ तथा अधोलोक में भवनवासी देवों के भवनों की संख्या ७७२००००० है तथा इन भवनों में प्रत्येक में अकृत्रिम चैत्यालय है।^२ उर्ध्वलोक एवं अधोलोक में देवों के भवनों के ईशान दिशा में अकृत्रिम चैत्यालय हैं तथा देवों के प्रत्येक भवन में एक अकृत्रिम चैत्यालय का होना अनिवार्य है। परन्तु मध्य लोक में कुण्डलगिरि, रुचिकरगिरि, मानुषोत्तर पर्वत, पंचमेरु, ३० कुलाचल, ३० सरोवर, १७० विजयार्ध पर्वत, २० गजदन्त, जम्बू-शाल्मलि आदि १० वृक्ष, ४ इष्वाकार पर्वत एवं वक्षार आदि अनेक स्थानों पर स्थित जिनमंदिरों में असंख्यात् प्रतिमाएँ विराजमान हैं।^३ ऋद्धिधारी मुनिराज, देव एवं विद्याधर सदैव इनकी पूजा-अर्चना

करके अपने पुण्यार्जन करते हैं। अकृत्रिम चैत्यालय की प्रतिमाओं के विषय में तिलोयपण्णत्ति कार ने कहा है कि जिनेन्द्र प्रासादों के मध्य भाग में पाद पीठों सहित स्फटिक मणिमय एक सौ आठ उन्नत सिंहासन हैं। उन सिंहासनों के ऊपर पाँच सौ धनुष प्रमाण ऊँची एक सौ आठ अनादि निधन जिन प्रतिमाएँ विराजमान हैं। तीन छत्रादि सहित पल्लंकासन समन्वित और समचतुरस्र आकारवाली वे जिननाथ प्रतिमाएँ नित्य जयवंत हों।^{१६}

अकृत्रिम और कृत्रिम दो प्रकार की प्रतिमाएँ होती हैं। जिनमें अकृत्रिम प्रतिमाएँ वे कहलाती हैं, जो प्रतिमाएँ देवों द्वारा, राजाओं द्वारा एवं अन्य किन्हीं शिल्पियों द्वारा निर्मित नहीं की जाती हैं, अपितु अनेक प्रकार के रत्नों एवं नाना प्रकार के पाषाणों से स्वयं ही तद्रूप परिणमित हो जाती हैं। अनादिकाल से ऐसी ही है तथा अनन्त काल तक ऐसी ही बनी रहेगी। तीनों लोक में अकृत्रिम प्रतिमाओं की संख्या ९२५५३२७९४८ है। जिसमें उर्ध्व लोक में ९१७६७८४८४ एमध्यलोक में ४९४६४ तथा अधोलोक में ९३३७६००००० हैं। अकृत्रिम चैत्यालयों के द्वार के विषय में आचार्य नेमिचन्द्र ने त्रिलोकसार में कहा है कि उत्कृष्ट, मध्यम और जघन्य के भेद से अकृत्रिम जिन चैत्यालय भी तीन प्रकार के होते हैं। इन तीनों प्रकार के जिनालयों का आयाम क्रमशः १०० योजन, ५० योजन और २५ योजन प्रमाण है। इन्हीं जिनालयों का व्यास आयाम के अर्धभाग प्रमाण अर्थात् ५० योजन, २५ योजन तथा १२.५ योजन प्रमाण है। तथा इन तीनों की ऊँचाई आयाम और व्यास के योग के अर्ध भाग प्रमाण अर्थात् ७५ योजन ३७.५ योजन और १८.७५ योजन है। द्वारों की ऊँचाई के अर्धभाग प्रमाण द्वारों का व्यास होता है तथा बड़े द्वारों के व्यासादि से छोटे का व्यासादि आधा-आधा होता है।^{१७} अकृत्रिम चैत्यालय का मुख्य द्वार हमेशा पूर्व मुख ही होता है। क्योंकि अकृत्रिम चैत्यालय में जिनचैत्य पूर्वाभिमुख विराजमान रहते हैं।^{१८} इसी प्रकार प्रतर के असंख्यातवें भाग प्रमाण असंख्यात् ज्योतिष्क विमान स्वर्ण तथा रत्नमय अकृत्रिम जिनचैत्यालयों से भूषित हैं।^{१९}

चैत्यवृक्ष एवं वास्तु -

चैत्यवृक्ष जैनदर्शन का अद्वितीय शब्द है। इसका शाब्दिक अर्थ है जिस वृक्ष में चैत्य अर्थात् जिनबिंब हो उसे चैत्यवृक्ष कहते हैं। ये चैत्यवृक्ष अधोलोक,

मध्यलोक एवं उर्ध्वलोक तीनों लोकों में पाये जाते हैं। अधोलोक में भवनवासी देवों के दस भेदों में दस प्रकार के चैत्यवृक्ष पाये जाते हैं। जिनमें अश्वत्थ, सप्तपर्ण, शाल्मली, जम्बू, वेतस, कदंब, प्रयंगु, सरिस, पलाश, राजद्रुम ये दस चैत्य वृक्ष पाये जाते हैं। ये चैत्यवृक्ष असुरकुमारादि के क्रमशः पाये जाते हैं। कहा है- भवनवासी देवों के चैत्यवृक्ष के मूल में प्रत्येक दिशा में पाँच-पाँच प्रतिमा पर्यंक आसन से विराजमान हैं। तथा प्रत्येक दिशा में प्रत्येक प्रतिमा के आगे एक मानस्तंभ है, उन मानस्तंभ के प्रत्येक दिशा में सात-सात उत्तम रत्न की प्रतिमा विराजमान है। इस प्रकार एक चैत्यवृक्ष के चारों दिशाओं में २० प्रतिमाएँ और २० मानस्तंभ हैं तथा २० मानस्तंभ में प्रत्येक दिशा में सात-सात प्रतिमा के कारण एक मानस्तंभ में २८ प्रतिमाएँ तथा २० मानस्तंभ में ५६० प्रतिमाएँ होती हैं। तथा चैत्यवृक्ष में २० प्रतिमाएँ मिला देने से ५८० प्रतिमाएँ होती हैं। अतः यह कह सकते हैं मानस्तंभ की एक दिशा में सात प्रतिमा होने से मानस्तंभ भी सात मंजिल का हो सकता है।^{१०} व्यंतर देवों के आठ भेदों में आठ प्रकार के चैत्य वृक्ष क्रमशः पाये जाते हैं जिनमें अशोक, चंपा, नागकेसरि, तुंवडी, वट, कंटतरु, तुलसी, कदंब। व्यंतर देवों के चैत्यवृक्ष में प्रतिमाओं की संख्या भवनवासी देवों के चैत्यवृक्षों से भिन्न हैं। कहा है कि चैत्यवृक्ष के चारों ओर चार-चार तथा प्रत्येक प्रतिमा के आगे मानस्तंभ के तीन कोट होते हैं। प्रत्येक कोट में चार-चार प्रतिमाएँ होती हैं। अर्थात् चैत्यवृक्ष के चारों दिशाओं में १६ प्रतिमाएँ एवं १६ मानस्तंभ हैं तथा सोलह मानस्तंभ में ४८ कोट तथा ४८ कोटों में १९२ प्रतिमाएँ विराजमान है। इस प्रकार १९२ तथा १६ प्रतिमाओं के योग से २०८ प्रतिमाएँ होती हैं।^{११} तथा वैमानिक देवों में चार प्रकार के चैत्य वृक्षों के नाम चैत्य वृक्ष होते हैं। त्रिलोक सार में कहा है कि सौधर्मादिक इन्द्रों के चारों वन में चार चैत्य वृक्ष होते हैं। इन चैत्य वृक्षों का माप जम्बू वृक्ष के समान है।^{१२} तथा वनखंड पद्म तालाब के समान विस्तार वाला है। अर्थात् मेरु पर्वत की ईशान दिशा में जम्बू वृक्ष है।^{१३} जम्बू वृक्ष ५०० योजन की स्थली में फैला हुआ है। जिसका ऊँचाई १० योजन की तथा मध्य में ६ योजन चौड़ा तथा ऊपर ४ योजन चौड़ा है। तथा वनखंड १००० योजन लम्बा तथा ५०० योजन चौड़ा है।^{१४}

कृत्रिम जिनबिंबों का माप -

अकृत्रिम जिनबिंबों का नाप द्वारमान के आधार पर बनाया जाता है अर्थात् मंदिर में मुख्य द्वार की ऊँचाई जितनी होती है, उसके आठ या नौ भाग करके उसमें से ऊपर का एक भाग छोड़कर शेष भाग के तीन भाग करने पर उसमें से दो भाग की खण्डासन मूर्ति तथा एक भाग प्रमाण का आसन बनवाना चाहिए। तथा पद्मासन मूर्ति निर्माण के विषय में कहा गया है। द्वार की ऊँचाई के बत्तीस भाग करने पर उसमें से १४, १३, १२, भाग पद्मासन मूर्ति तथा १६, १५, १४ भाग की खण्डासन प्रतिमा विराजमान करनी चाहिए।^{१५}

मध्यलोक में मंदिर निर्माण की परम्परा-

भारतीय संस्कृति में प्राचीन काल से ही देवगृह के निर्माण का प्रचलन रहा है। भक्त अपने गृह से देवगृह को सुन्दर एवं सुसज्जित बनाने में अति आनंद की प्राप्ति करता है।

जैन संस्कृति के इतिहास में मंदिर निर्माण के विषय में कोई नियत समय निश्चित नहीं है, क्योंकि जैन संस्कृति अनादि निधन है तथा उसके देवता, देवप्रतिमा तथा देवगृह भी अनादि से निर्मित हैं। जैनागम में देवताओं के जिनमंदिर आदि ८५६९७४८१ अकृत्रिम चैत्यालय में ९२५५३२७९४८ जिनप्रतिमाएं अकृत्रिम हैं।

यदि दूसरे पक्ष से देखा जाए तो कर्मभूमि में सदा षट्काल का परिवर्तन होता रहता है, जो अवसर्पिणी और उत्सर्पिणी काल क्रम से प्रवाहित होता है। जिसमें प्रथमकाल सुषमा-सुषमा है जिसका काल ४ कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण, द्वितीय काल सुषमा ३ कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण, तृतीय काल सुषमा-दुषमा २ कोड़ा कोड़ी सागर प्रमाण, चतुर्थ काल दुषमा-सुषमा १ कोड़ा कोड़ी सागर में ४२ हजार वर्ष कम प्रमाण, पंचम काल दुषमा २१ हजार वर्ष प्रमाण तथा षष्ठ काल २१ हजार वर्ष प्रमाण है। इन छह कालों में प्रथम तीन काल भोगभूमि के नाम से जाने जाते हैं। जिनमें धर्म और धार्मिक जीवों का अभाव होता है इसमें कर्म भी नहीं किया जाता। मात्र भोग किया जाता है। इस कारण इसे भोगभूमि कहते हैं। और जहाँ धर्म और कर्म नहीं होता वहाँ जिनप्रतिमा तथा जिनमंदिर नहीं होते हैं। परन्तु जैसे जैसे काल का परिवर्तन होता गया वैसे-वैसे भोगभूमि का

अभाव हो गया और कर्म भूमि का प्रारंभ चतुर्थ काल रूप में हुआ। इस समय धर्म और कर्म के अनभिज्ञ लोगों को समझाने के लिए चौदह कुलकरों की उत्पत्ति होती है। तथा १४ वें कूलकर का पुत्र प्रथम तीर्थकर होता है। भगवान के जन्म लेने पर सौधर्म इन्द्र भगवान की आज्ञा से जिनमंदिरों का निर्माण करता है।^{१६} यही कर्मभूमि का काल जैनदर्शन के अनुसार मंदिर निर्माण का प्रारंभ काल कहलाया।

लोक की दिशा -

आचार्य यतिवृषभ ने तिलोय पण्णत्ति में लोक के विस्तार के कथन में पूर्वादि दिशाओं का निर्देश दिया है- लोक की दक्षिणोत्तर चौड़ाई सर्वत्र जगत्त्रेणी ७ राजू प्रमाण है किन्तु पूर्व-पश्चिम चौड़ाई ७ राजू में कुछ कम है। अतः लोक में अधोलोक की ओर दक्षिण दिशा तथा उर्ध्व लोक की ओर उत्तर दिशा है। सौधर्म इन्द्र की दिशा की ओर दक्षिण दिशा तथा ईशान इन्द्र की ओर उत्तर दिशा जानना चाहिए।^{१७}

दूसरा प्रमाण तिलोयपण्णत्ति में प्रथम भाग में गाथा २०० के विशेषार्थ में वर्णित है कि उर्ध्वलोक में ब्रह्मस्वर्ग के समीप पूर्व दिशा के लोकान्त भाग से पश्चिम की ओर एक राजू आगे जाकर लम्बायमान अ-बरेखा खींचने पर उसकी ऊंचाई ७/४ राजू होती है। अतः लोक सिद्ध शिला की ओर उत्तर भाग में है तथा अधोलोक की ओर दक्षिण भाग में है।^{१८}

वास्तु विद्या में दिशाओं के स्वामी एवं महत्त्व

गृहस्थी में रहने वाला मानव अपनी आवश्यकता की पूर्ति घर में ही रहकर करता है। जिसमें उसके लिए घर में धर्म, अर्थ, काम पुरुषार्थ के लिए पूजा स्थल, भोजनशाला, जल संग्रहण स्थल, शौचालय, संग्रहणकक्षा, शयनकक्ष, अतिथिकक्ष, स्वागतकक्ष, वाहन स्थान, स्नानागार, अध्ययनकक्ष, आदि सुविधाएँ आवश्यक हैं। पृथ्वी पर चार दिशाएँ, चार विदिशाएँ और मध्य बिन्दु ये नौ भाग होते हैं। इन नौ भागों के नौ स्वामी हैं। पूर्व दिशा का स्वामी इन्द्र, आग्नेय दिशा का अग्नि, दक्षिण दिशा का यम, नैऋति, पश्चिम दिशा का वरुण, वायव्य दिशा का वायु, उत्तर दिशा का कुबेर, ऐशान दिशा का ईशान और ब्रह्म स्थान का ब्रह्मा स्वामी है। इन आठ दिशाओं-विदिशाओं में तथा ब्रह्म स्थान की उपमा स्वर्ग में रहने

वाले इनके स्वामी के निवास स्थान से की जाए तो दिशाओं की वास्तविकता का ज्ञान हो सकता है।

ऐशान दिशा -

प्रकृति चक्र का प्रस्थान बिन्दु है ऐशान। उसका प्रभावक तत्त्व है जल, जो शांति का प्रतीक है, इसीलिए ऐशान दिशा शांतिदायक है। इस दिशा का अधिष्ठाता है। ईशान जिसे शांतिदायक माना गया है। ईश ईश्वर अर्थ में प्रयुक्त होता है। जिसकी आदि वृद्धि होकर ऐशान शब्द की निष्पत्ति होती है। जैनदर्शन में तीर्थंकर शब्द भी शांतिदाय अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।¹⁰ इसीलिए इन धर्म चक्र के प्रवर्तकों का स्थान, देवालय ऐशान दिशा में बनाया जाता है। तिलोयपण्णत्ति में आचार्य यतिवृषभ ने ऐशान दिशा का महत्व बताते हुए कहा है कि - सौधर्म इन्द्र के भवन से ईशान दिशा में तीन सौ कोस ऊँचाई, चार सौ कोस लम्बी, और इससे आधे दो सौ कोस विस्तार वाली सुधर्मा सभा है। तथा वहाँ ईशान दिशा में पूर्व के सदृश उपपाद सभा है। यह सभा दैदीप्यमान रत्न शयाओं सहित विन्यास विशेष से शोभायमान है। उसी दिशा में पूर्व के सदृश अथवा पाण्डुक वन संबन्धी जिनभवन के सदृश उत्तम रत्नमय जिनेन्द्र प्रासाद है। अर्थात् सौधर्म इन्द्र का संचालन स्थान सुधर्मा सभा ईशान दिशा में है। जहाँ से वह स्वर्ग का संचालन शांतिपूर्वक करता है तथा पूजा आराधना के लिए ईशान दिशा में अकृत्रिम चैत्यालय है जहाँ शांतिपूर्वक अरिहंत भगवान् की प्रतिमा विराजमान है।¹¹

पूर्व दिशा-

पूर्व दिशा का स्वामी सौधर्म इन्द्र का लोकपाल सोम है। आचार्य यतिवृषभ ने तिलोयपण्णत्ति में कहा है कि - उस भवन के बहुमध्य भाग में अद्भुत रत्नमय एक क्रीड़ा शैल है। इस पर्वत पर पूर्व दिशा का स्वामी सौधर्म इन्द्र का सोम नामक लोकपाल क्रीड़ा करता है।¹² तथा उसके विमान का नाम बताते हुए कहा है कि- अढ़ाई पल्य प्रमाण आयु वाला स्वंप्रभ विमान का स्वामी सोम नामक लोकपाल साढ़े तीन करोड़ कल्पवासिनी स्त्रियों से परिवृत्त होता हुआ रमण करता है। उस सौधर्म इन्द्र की पूर्व दिशा में सोम लोकपाल निवास करता है जिससे सौधर्म इन्द्र के विमान की पूर्व दिशा का स्वामी सोम है परन्तु पूर्व दिशा का स्वामी इन्द्र है।¹³

आग्नेय दिशा-

पूर्व और दक्षिण के मध्य का स्थान आग्नेय विदिशा कहलाती है। इसका स्वामी अग्नि है। इस दिशा का तत्त्व भी अग्नि ही है। तिलोयपण्णत्ति के अनुसार भवनवासी देवों में अग्नि कुमार जाति के देवों का इन्द्र अग्निशिखी दक्षिणनेन्द्र होने के कारण पूर्व और दक्षिण के मध्य में निवास करता है। वह यहाँ से अपने शासन का संचालन करता है। इस दिशा में इसके ४० लाख भवन हैं। जिनमें दिशा की ओर जिनमंदिर बने हुए हैं।^{१४}

दक्षिण दिशा -

पूर्व दिशा के दाएँ भाग को दक्षिण दिशा कहते हैं। दक्षिण दिशा से ही सूर्य अपना चक्कर लगाना प्रारंभ करता है। इस कारण वह दक्षिणायन होता है तथा जिनमंदिर में भी पूर्व से दक्षिण की ओर होकर परिक्रमा लगाई जाती है। घूमने वाले जितने भी उपकरण हैं वह दक्षिण की ओर से ही प्रदक्षिणा देते हैं। वास्तव में प्रकृति का चक्र ही दक्षिणावर्त है, सूर्य का भ्रमण इसका सबसे बड़ा प्रमाण है। तिलोयपण्णत्ति में दक्षिण दिशा के स्वामी के विषय में कहा है कि- पाण्डुक वन के मध्य में चूलिका के पास दक्षिण दिशा की ओर अंजन नामक भवन है। इसका विस्तारादिक पूर्वोक्त भवन के ही सदृश है। तथा अंजन भवन के मध्य में अरिष्ट नामक विमान का प्रभु यम नामक लोकपाल काले रंग की वस्त्रादिक सामग्री सहित रहता है। तथा वहाँ अरिष्ट विमान के परिवार विमान ६ लाख ६६ हजार ६६६ हैं।^{१५} तथा वहाँ पर दक्षिण दिशा में प्रतीन्द्र का निवास स्थान भी बना हुआ है।^{१६}

नैऋत दिशा-

दक्षिण और पश्चिम के मध्य की विदिशा को नैऋत्य विदिशा कहते हैं। वैदिकों में नैऋत्य दिशा का स्वामी निऋति माना गया है। जिसका संस्कृत अर्थ क्षय या विनाश होता है।^{१७} यह दिशा दक्षिण पश्चिम हवाओं के कारण से सदैव विनाश को प्राप्त होती है। इस कारण भी इसे भारी करने का विधान किया गया है। नैऋत्य दिशा में त्रायस्त्रिंश जाति के देव एवं पारिषद् जाति के देवों के निवास स्थान हैं।^{१८}

पश्चिम दिशा -

पश्चिम का अर्थ है पश्चिम भाग अर्थात् पूर्व दिशा के पीछे का भाग पश्चिम कहलाता है। इसका स्वामी वरुण है। इसका स्वभाव चंचल है।^{३९} तिलोयपण्णत्तिकार ने पश्चिम दिशा के विषय में कहा है - पाण्डुक वन के मध्य में चूलिका के पास पश्चिम दिशा में पूर्वोक्त भवन के सदृश व्यासादि सहित हारिद्र नामक प्रासाद है। उस प्रासाद में सदैव कुछ कम तीन पल्य प्रमाण आयु का धारक जलप्रभ नामक विमान का प्रभु वरुण नामक लोकपाल रहता है। जलप्रभ विमान के परिवार विमान ६ लाख ६६ हजार ६६६ हैं।^{३०}

वायव्य दिशा -

पश्चिम और उत्तर दिशा के मध्यभाग वायव्य विदिशा कहलाती है। यह वायुकुमार देवों का निवास स्थल है जो उत्तरेन्द्र है। इसके ४६ लाख भवन हैं।^{३१} वायुकुमार देवों की प्रकृति वायुकरण है। तथा प्राकृतिक दृष्टिकोण से देखा जाए तो उत्तरी पश्चिम हवाओं का प्रकोप सदैव बना रहता है जिससे वायु का दबाव इस दिशा में अधिक होता है। तिलोयपण्णत्तिकार ने वायव्य कोण में सामानिक देवों का निवास बताया है।^{३२}

उत्तर दिशा -

उत्तर दिशा सभी फलों को देने वाली सुखदायी दिशा है। इसका स्वामी कुबेर होता है। जो लोक व्यवहार में धन क देवता माना गया है। उत्तर दिशा में ही जैनमत के अनुसार विदेह क्षेत्र विद्यमान है। जहाँ सदैव तीर्थंकर विद्यमान रहते हैं। तिलोयपण्णत्ति में उत्तर दिशा के विषय में वर्णन है कि - उस पाण्डुक वन के मध्य में चूलिका के पास उत्तर विभाग में पूर्वोक्त भवन के सदृश विस्तार वाला पाण्डुक नामक प्रासाद है। उस उत्तम प्रासाद में कुछ कम तीन पल्य प्रमाण आयु का धारक एवं वलुप्रभ विमान का प्रभु कुबेर नामक देव रहता है।^{३३}

ब्रह्म स्थान -

सभी दिशाओं के मध्य बिन्दु को ब्रह्म स्थान कहते हैं। यह वास्तु पुरुष का मर्म स्थान भी कहलाता है। इस स्थान में किसी भी प्रकार का कार्य करना अशुभ माना गया है। तिलोयपण्णत्ति कार ने कहा है कि -

बम्हुत्तर हेट्ठवरिं रज्जु घणा तिण्णि होंति पत्तेक्कं।
लंतव कप्पम्मि दुगं रज्जु घणो सुक्क कप्पम्मि॥

अर्थात् ब्रह्मोत्तर स्वर्ग के नीचे और ऊपर का क्षेत्र समान माप वाला है। यह स्वर्ग का केन्द्र बिन्दु है।^{३४} यहाँ पर एक भवातारी लौकान्तिक देव निवास करते हैं। इस प्रकार गृह का या मंदिर का केन्द्र बिन्दु जिसमें किसी भी प्रकार का निर्माण कार्य नहीं करते तथा गृह के मध्य में पौधे आदि लगवा देते हैं जिससे किसी के पैर उस पर न पड़े तथा मंदिर के मध्य में वेदिका आदि बनवा कर उसकी अविनय होने से बचाते हैं।

निष्कर्ष -

वर्तमान युग में जनमानस में निमित्त की प्रबलता अधिक प्रगाढ़ होती जा रही है। लोगों का कर्मसिद्धान्त से विश्वास उठता जा रहा है। वह निमित्त की क्रियाओं जैसे वास्तु विधान, ज्योतिष, क्रियाकर्म आदि क्रियाओं को अधिक महत्त्व दे रहा है। जबकि स्वयं के भाग्य पर विश्वास ही नहीं करता। यदि मानव भाग्य पर विश्वास कर पुरुषार्थ करता है तो जीवन में अधिक सफल होता है। हमें चाहिए कि उचित समय व सम्यक् स्थान का चयन करके शुभोपयोग पूर्वक निर्माण कराकर पुण्यार्जन करें।

संदर्भ सूची:

१. राजवार्तिक अध्याय-९, सूत्र-२५, वार्तिक-३, पृष्ठ ६२४
२. बृहद्द्रव्य संग्रह, पृष्ठ-१०१
३. वस निवासे, नामक परस्मैपदी धातु, पाणिनि व्याकरण के अनुसार, प्रथम भ्वादि गण, सिद्धान्त कौमुदी सूत्र १०७४
४. तिलोपपणात्ति, १/२६८
५. वत्थुविज्जा, मंदिर शिल्प, पृष्ठ-१२५
६. तिलोपपण्णत्ति, २/४/१८९४, १८९५, १९०१/ ५२६, ५२७
७. वत्थुविज्जा, मंदिर शिल्प, पृष्ठ-१०८
८. त्रिलोकसार गाथा-९७८
९. बृहद्द्रव्य संग्रह, पृष्ठ-१२४
१०. त्रिलोकसार, २१४, २१५, २१६
११. वही, २५३-२५५
१२. वही, ५०२, ५०३
१३. वही, ६३९

१४. वही, ६४८
 १५. वत्युविज्जा, मंदिर शिल्प, पृष्ठ-१३०
 १६. आदिनाथ पुराण, १/१६१ १४९-१५०/ ३५९
 १७. तिलोयपण्णत्ति १/२८५/१२० १८. तिलोयपण्णत्ति, १/२००/६४
 १९. त्रिलोकसार, ५४८/२३९
 २०. निर्लेपस्य जिनेन्द्रस्य व्योम मूर्तेर महाध्वरे।
 व्योम केशस्य दिग् भागं कुर्महे दर्भ गर्भितम्॥ जिनेन्द्रपूजा विधान, १०
 २१. तिलोयपण्णत्ति, ३/८/४१०, ४२३, ४१४/५४२
 २२. तिलोयपण्णत्ति, २/४/१८६३/५२०
 २३. तिलोयपण्णत्ति, २/४/१८६४/१८६५/५२०
 २४. तिलोयपण्णत्ति, १/३/१७, २०/२६९, २७०
 २५. तिलोयपण्णत्ति, ३/५/६६/२५७
 २६. तिलोयपण्णत्ति, २/४/१८६७, १८६८, १८६९/ ५२१
 २७. तिलोयपण्णत्ति, २/४/१९७६/ ५४२
 २८. संस्कृत हिन्दी कोश, पृष्ठ-५२०
 २९. तिलोयपण्णत्ति, २/४/१९८१, १९८२/ ५४३
 ३०. तिलोयपण्णत्ति, २/४/१८७१, १८७२, १८७३/५२२
 ३१. तिलोयपण्णत्ति, १/३/१९, २१/२६९, २७०
 ३२. तिलोयपण्णत्ति, २/४/५४५
 ३३. तिलोयपण्णत्ति, २/४/१८७५, १८७६, १८७७, १८७९/ ५२३
 ३४. तिलोयपण्णत्ति, १/२१०/६९

-ला.ब.शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान,
 ५६-५७, इंस्टीट्यूशनल एरिया, पंखा रोड,
 जनकपुरी, नई दिल्ली-११००५८



Parapsychological Aspect of Dreams

Dr Samani Ramaniya Pragya

Introduction

The fascination for dreams was breathing in human mind since ancient times. Man's quest for the explanation of the phenomenon of dreams led him to the path of dream investigation and interpretation of dreams. Dream is a common experience and therefore people tried to find out the answers for questions like why are dreams, how are they formed, what do they mean and many more such questions were juggling in human mind. The answers have been varied and interesting and sometimes contradictory too. This is what makes the subject more interesting to study in academic pursuit.

Definition of Dream

There are various kinds of concepts regarding the dreams found in the works of different branches of sciences. Dreams are generally defined as 'series of events or images perceived or experienced through the mind during the sleep.'¹ In the *World Book of Encyclopedia* it is defined with a slight change i.e. 'Dream is a story that a person watches or even takes part in during sleep and dream event are imaginary but they are related to real experiences and needs in dreamers life.'² Each person seems to know his own private dreams. Scherner(1861) explained dreaming as a special activity of mind, capable of free expansion only during the state of sleep.' Freud defined dreams as 'Dreams are safety valves for the overburdened brain. They possess the power to heal and relieve.'³

For scientists and psychologists of modern age the concept of soul, psyche and mind is a serious problem. Mind-body research today is revealing many fascinating functions of mind. Dreams are believed to be a purely mental or psychic phenomenon. But there are philosophers who neglect the actual existence of dreams like Jean Paul Sartre, Norman Malcolm, Daniel, and Dennet—all hold the idea that there is no such thing as dream perception in which vision, touch or even thoughts occur.



Parapsychological Aspect of Dream in non-Indian History

For thousands of years, however, the existence of dreams were believed by many cultures as the most common vehicle for divine revelation. Some societies believe that during sleep the soul enters a parallel world, which is as real and meaningful as our waking existence.⁴ In Ancient period, there was a common notion that dreams were inspired by the gods. They had no need to look around for their stimulus: dreams are emanated from the will of divine or demonic powers and their content arose from the knowledge or purpose of those powers.⁵ But the scientific age had to face the problem of explaining the source.

The earliest notion of dreams was that they were the messages from the gods or dead ancestors as the study of Edward Tylor depicts. Such records can be found in early records of Egyptian and Sumerian cultures.⁶ According to ancient views they spoke of the future and they even had healing power. Dream then was understood as a great science of intuition. "The temple of Asclepius, the place of healing, at Epidaurus was furnished with a hall where the sick were advised in dreams. Divination was widely practiced in Greece."⁷ In Mesopotamia, there are five thousand years old proof of writings of dreams is found. The people of Sumer culture were recording their dreams. Kings and ministers were giving special attention to dreams.⁸

In Greece, people believed that while dreaming divine people entered into the body and after transmitting their message they returned. Hebrew people had a notion that dreams act as a bridge between man and deities or gods. "The Greeks understood sleep and dreams were different... Morpheus, the god of dreams is the son of Hypnos, the god of sleep."⁹ A Greek Antiphon, in the fourth century BC., wrote the first known descriptive book of dreams. It was designed to be used for practical and professional interpretations. In the second century AD, "Gruppe classified dreams into dreams, visions, oracles, fantasies and apparitions. "He stated two classes of dreams; the *somnium*, which forecast events, and the *insomnium*, which are concerned with present matters. For the *somnium* dreams, Artemidorus gave a dream dictionary."¹⁰ Hence he was regarded as the greatest authority of Interpretation of Dreams. In Mesopotamia, there are five thousand years old proof of writings of dreams is found.

Plato(428-348 BC.) whilst regarding it as inconceivable that a god should deceive men admitted nevertheless that dreams may come from the gods. He said that "even good men dream of uncontrolled and violent actions, including sexual aggression. These actions are not committed by good men while awake, but criminals act them out without guilt."¹¹ Aristotle deals with the subtleties of sleep and dreams in three great treatises—*De Somno*

et Vigilia; De Insomnis; and De Divinatione Per Somnum. (On Sleep and Dreams - On Sleeping and Waking - On Divination through Sleep.)”¹² It is what Freud called the hallucinatory property of dreams.¹³

The teaching of the Stoics was along the same lines. They said, if the gods, love man and are omniscient as well as omnipotent, they certainly may disclose their purposes to man in sleep. Earlier Hippocrates, the ‘Father of medicine’ discovered that dreams can reveal the onset of organic illness.¹⁴

Hippocrates was born on the island of Kos. On this island there was a famous temple dedicated to *Aesculapius*¹⁵ the god of medicine. There were about 300 such temples in Greece alone, dedicated to healing through the use of dreams. There are many attestations to the efficacy of this technique from patients. During the Hellenistic period, the main focus of dreams was centered on its ability to heal. Temples, called Ascleleons, were built around the healing power of dreams.¹⁶ During the middle ages, dreams were seen as evil and its images were temptations from the devil. Up to the beginning of 20th century such notions were living notions.

In the early 19th century, dreams were dismissed as stemming from anxiety, a household noise or even indigestion. Hence there was really no meaning to it. Later on in the 19th century, Sigmund Freud revived the importance of dreams. He revolutionized the study of dreams. Freud understood “dreams (like jokes, slips of the tongue, and other symptoms) to be signs of concealed, conflicting desires. He considered powerful desires to be always in conflict, and his theories tried to account for how these conflicts give rise to unintentional expression. Dreams and other unconscious acts conceal even as they reveal wishes that we would rather not face more directly.”¹⁷

Ground of Dreams in Indian Perspective

All Indian philosophical speculation have a common ultimate objective-knowledge is for liberation. Liberation is the attainment of the pure self. Hence study of consciousness is undertaken in philosophy. While discussing the states of consciousness, dreaming (*svapna*) was also considered as a state of consciousness in almost all the philosophies.

Dreams, being purely an abstract phenomenon remained a mystic problem in India. Right from Vedas and Vedic literature, Upanisads, Sankhya, Yoga, Nyaya, Vaisesika, Vedanta, Mimamsa, Jain and Buddhist—all the philosophies deal with the issue of dreams sharing similarity in some respects and differing radically in some other ideas. “Soul in itself has no role played in the occurrence of dreams. Although Buddhist mythology is contained of such symbolic and prophetic dreams in life histories, stories etc. but philosophically they have not been reflected upon.”¹⁸

Although there is little of direct discussion on dream as a subject by itself there are observations on dream coherently with other metaphysical issues, which indirectly helped to understand dreams. Whatever is there has a deep philosophical implication as well as mythological elements. Hence in Jainism, we can discuss the dreams from two perspectives:

- Philosophical perspective of dreams.
- Mythological perspective on dreams.

Account of Dreams in Jainism

Almost all the dreams that are related to Jain history or quoted in the historical pages of Jain scriptures are symbolic. Only symbolic dreams are much seen in the dreams of illustrations of Jain history. These kinds of dreams are found in various contexts. Such as:

- (i) Mother's dreams of the mothers of great historical figures.
- (ii) Achievement dream.
 - (a) A person to attain omniscience.
 - (b) A person to attain liberation.
- (iii) Prophetic dreams.

Parapsychological Aspect of Dreams Jainism

The Parapsychological aspect of dreams can be studied under many points. Few of them are as follows:

1. Parapsychological aspect in sources of Dream
2. Auspicious and Inauspicious In Dreams
3. Dream Hours and Dream Results
4. Estimated Result of Dreams According to Date
5. Science of Mantra and Dreams
6. Dream-Interpretations Based on Zodiac Signs
7. Future Predicting Dreams
8. Inventions in Dreaming

1. Parapsychological aspect Sources of Dream

There are causes of dreams hence dream exists.¹⁹

*“anubhûya dittha cintiya-suya-payaiviyâra-devayânûya
simiôassa nimittâim punnam pâvam ca nâbhâvo||1703||”²⁰*

Experienced seen, thought, heard, physical imbalance, celestial beings, watery area, auspicious and inauspicious karma are the sources of dreams.”

There are many causes of dreams and cause and effect theory says where there is cause, there is effect. Dream being an effect have definitely cause behind them. There are *nine sources* as depicted in illustrated here:²¹

Out of these nine sources of dreams only deity-projected dreams and dreams due to auspicious and inauspicious karmas are the future predicting dreams. It is also been said that “*Anukulapratikulatam devata tannimittam*”²² i.e. pleased or displeased celestial beings also projects good and bad dreams.

2. *Auspicious and Inauspicious in Dreams*

There is a list of auspicious and inauspicious dreams. In *Bhagavati Sutra*,²³ when Gautama asked Lord Mahāvīra, “How many kinds of dreams are there?” Lord replied, “There are forty two kinds of dreams.” “There are thirty great dreams.” Altogether there are seventy-two dreams. Out of those seventy-two dreams, the mother of *tīrthankara* (ford-maker omniscient) visualizes any fourteen dreams. Mother of Cakravarti (sovereign emperors) visualizes fourteen dreams where as mothers of Vāsudeva sees seven dreams, the mother of Baladeva sees four and mother of Māṇḍalika King (A great king under the reign of Cakravarti) sees only one out of the thirty auspicious dreams. The similar illustration is found in *Kalpa Sutra*²⁴ also as it has given.

These are fruitful or auspicious dreams. There is also a mention of inauspicious and fruitless dreams as follows: Day dreaming, very short, very long, old age dreaming agitated mood due to mockery, fear, anger, enthusiasm, guilt, mourning etc. If all these factors are behind the scenes, the dreams are to be counted under the fruitless ones.

3. *Dream Hours and Dream Results*

The mother of Lord Mahāvīra (Triśūlā) saw a series of sixteen dreams when the first three quarters of night (by name *Roudra*, *Rāk-hasa* and *Gāndhāra*) were past and the 4th quarter (*manohara*) was almost towards completion (that means just before sunrise) she saw sixteen auspicious dreams in half-asleep-half awakened state, which had the great result yielding tendency.

There is also a mention of seventeenth dream²⁵ In this dream, she saw a royal elephant entering her mouth. Almost all the mothers of great sixty three personalities have seen the great dreams almost at the end of night. In *Upaṇiṣad* it has been said that the dreams, which are seen in the fourth quarter of night, yield results in actuality. The dream seen in the first quarter of the night provides result in one year, dream seen in the second quarter results in eight months, third quarter dreams results in three months, 4th

quarter dreams results in one month, dream seen during sunrise provides its results in ten days and after sunrise dream become fruitful on the very day.

In *Bhadrabahu Samhita* similar verse is found ²⁶

Zodiac signs date, day and time all have effect on the results of the dreams. In *Svapna Vijnana*, there is mention of these in detail. Few of them are illustrated here.

4. Estimated Result of Dreams According to Date

It is listed in chart. The days are according to Indian calendar like bright or dark fortnight. The dreams appeared on the first day to fifteenth day of the fortnights result as follows:

TABLE-1

Dream Results Appeared on Days of Bright Fortnight²⁷

1 st day	delayed results
2 nd day	opposite result i.e. dream on self, effect on others and dream on others and effect on self.
3 rd day	contradictory and delayed results
4 th and 5 th day	result would be attained within two months to two year.
6 th , 7 th , 8 th , 9 th , 10 th day	fruitless dreams
11 th , 12 th day	delayed results
13 th , 14 th day	fruitless or delayed results
15 th	definitely result yielding.

TABLE-2

Dream results Appeared on Days of Dark Fortnight²⁸

1 st day	Fruitless
2 nd day	delayed results
3 rd /4 th day	Fruitless
5 th /6 th day	come true after two months to three years.
7 th day	definitely very soon result yielding
8 th , 9 th day	opposite results
10 th , 11 th , 12 th , 13 th	day Fruitless
14 th day	true and soon result yielding
15 th day	Fruitless

The dream interpretation according to Zodiac signs have been given in *Svapna Vijñāna*. Few of them are as follows²⁹:

Science of Mantra and Dreams

There is also a mention of interesting ways which helps for dream intuition such as there are some mantras, which when chanted on a estimated time with prescribed methodology and rituals foretells the future happening in dreams. Few of such mantras are as follows:³⁰

1. Om namo savvakevalinam swaha
2. Om hrim shrim arham swaha
3. Om hrim namo payanusarinam om kraum jhroum swaha
4. Om namo arihamtnam appdihayavara damsanadharanam viapacchaumanam aim swaha.

Reflection

These symbolic dreams in Jainism are no doubt having a mythical touch by nature but that does not prove it as unreal or existent less or arbitrary explanation. Such symbols have been prevalent in those times. It may be that they might have been factual. Dreams predicting the arrival of great soul are found in almost all the cultures of India and even in other Asian countries. Another possibility is that people of that age may have some mystic powers explored through their own efforts that are completely out of reach to the understanding of the modern world. Basing on facts available we can only assume that although there is no clarity or lack of evidences to prove their historicity but still they cannot be considered mere imagination or mental framings.

JainVishwa Bharti Sansthan
(Deemed Unversity) Ladnun (Raj.)

वास्तु शांति की आवश्यकता एवं वैशिष्ट्य

डॉ. सुरेन्द्रकुमार जैन 'भारती'

वास्तु शब्द की संरचना के मूल में वस्तु शब्द है। यह संस्कृत के 'वास' शब्द से बना है जिसका अर्थ है 'निवास करना'। यह किसी के स्थिर होने की सूचना देता है। वास्तु के मूल में भूमि और उसके ऊपर मिट्टी सीमेन्ट, चूना, ईंट, पत्थर, लोहा, लकड़ी आदि से निर्मित भवन होता है। सामाजिक दृष्टि से जब मनुष्य समाज के बीच में संस्कारित होकर रहता है तब उसे वास्तु की आवश्यकता होती है जहाँ वह रहकर धूप, पानी (वर्षा), शीत से बच सके। वह प्रकृति के प्रकोप से भी बचा रह सके और प्रकृति को अपने अनुकूल ढाल भी सके। इसके लिए आवश्यक है कि वास्तु की संरचना शास्त्र सम्मत हो। कहा भी है कि -

प्रसादो मण्डपश्चैव, विना शास्त्रेण यः कृतः।

विपरीत विभागेषु, योऽन्यथा विनिवेशयेत् ॥२१॥

विपरीत फलं तस्य, अनिष्टं तु प्रजायते।

आयुर्नाशो मनस्तापः पुत्र-नाशः कुलक्षयः ॥२२॥

शास्त्र प्रमाण के बिना यदि देवालय, मण्डप गृह, दुकान और तल भाग आदि का विभाग किया जाएगा तो उसका फल विपरीत ही मिलेगा, अनिष्ट होगा, असमय में आयु का नाश, पुत्रनाश, कुल-क्षय और मनस्ताप होगा।

मानव जीवन के चार पुरुषार्थ माने गये हैं- धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इनमें से प्रथम तीन पुरुषार्थ-धर्म (धार्मिक आचरण, पुण्योपार्जन), अर्थ (धन कमाना), काम (भौतिक जीवन का आनंद उठाना) घर में रहकर ही मनुष्य करता है। अतः मानव जीवन में वास्तु का विशेष महत्व है। संसार को बढ़ाने का कार्य संतति का है, संतति के संरक्षण का कार्य भी संसारियों का है। अतः उनके निवास के लिए उनके स्वास्थ्य रक्षण के लिए, उनके पारिवारिक वातावरण के लिए, उपार्जित वस्तुओं के रख-रखाव एवं संरक्षण के लिए उत्तम वास्तु का होना

आवश्यक है। अतः हम कह सकते हैं कि एक सामाजिक मनुष्य के लिए वास्तु आवश्यक है। अतः वास्तु संरचना के बाद उसमें प्रवेश करने से पहले वास्तुशांति कर/ करा लेना आवश्यक है ताकि आपके वैयक्तिक, भौतिक एवं सांसारिक विकास में आपका वास्तु आपका सहायक बन सके।

वास्तु निर्माण में सद् एवं असद् विचारों का मेल-

जब कोई व्यक्ति वास्तु निर्माण करता है तो उसके विचार सद् होते हैं। उसमें अत्यन्त उत्साह होता है और वह चाहता है कि निर्माण कार्य में जितनी भी सामग्री लगे सब अच्छी से अच्छी होना चाहिए। उस समय वह सस्ती या हल्की वस्तुओं के स्थान पर मँहगी और सुन्दर वस्तुओं का उपयोग करता है। वह वास्तु में प्रकाश एवं हवा हेतु यथेष्ट झरोखे, दरवाजे आदि निर्मित करता है।

जब निर्माण कार्य प्रारंभ करता है तो सर्वप्रथम भूमि की शांति कराता है और अपने इष्ट देवता का स्मरण कर उस पर निवास करने वाले देवादिक को संतुष्ट करने का प्रयास करता है। जल, चंदन, शक्कर, घृत, नारियल आदि समर्पित करता है। किन्तु भवन निर्माता की भावना, सोच एवं कार्य के विपरीत वास्तु इंजीनियर, ठेकेदार, कारीगर और मजदूर आदि की सोच, भावना एवं कार्य पद्धति वैसी नहीं होती। उनमें अपने वास्तु निर्माता के प्रति ईर्ष्या, डाह की भावना भी उत्पन्न हो सकती है। मजदूर वर्ग के विचार भी असद् होते हैं। वे वास्तु निर्माण के समय आपस में गाली-गलौज, मारपीट एवं विसंवाद करते हैं। यत्र तत्र मल-मूत्र प्रक्षेपण करते हैं। ऐसी स्थिति में वास्तु का अशुद्ध होना और विपरीत प्रभावकारी होना स्वाभाविक है।

वास्तु के निर्माण में जिस सामग्री का निर्माण होता है उस सामग्री के निर्माण में भी अनेक दूषित पदार्थ उपयोग में लाये जाते हैं। हिंस्र पदार्थों का भी उनमें उपयोग होता है। उन वस्तुओं के रखने के स्थान भी प्रायः शुद्ध नहीं होते। दूसरे उन पर कुत्ता-बिल्ली आदि जानवर बैठकर उन्हें अपवित्र करते रहते हैं।

काला टीका-

वास्तु निर्माता वास्तु निर्माण करते समय वास्तु को कुदृष्टि से बचाने के लिए निर्माण कार्य के प्रारंभ से लेकर अन्त तक काला घड़ा भवन पर टांग कर रखते हैं या काली लाइन कोयला से बना देते थे।

पहले लोग अशुद्ध पदार्थों के उपयोग से बचने के लिए निम्नलिखित उपाय करते थे।

१. भवन निर्माण के लिए पानी छानकर उपयोग करते थे। इम्फाल निवासी एक व्यक्ति ने बताया कि उनके पिता बड़े धार्मिक थे और उन्होंने राजस्थान स्थित मकान का निर्माण स्वयं पानी छानकर करवाया था।
२. ईंट और रेत को पानी में धुलकर निर्माण कार्य में उपयोग करते थे।
३. प्रायः मांसाहारी कारीगरों, मजदूरों को काम पर नहीं लगाते थे ताकि वैचारिक शुद्धि बनी रहे।
४. वास्तु निर्माण में सहायक सामग्री भी ऐसे दुकानदारों से नहीं खरीदते थे जो प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष हिंसा करते हों या हिंसा में विश्वास रखते हों।

एक और भी कारण वास्तुशांति के लिए बनता है और वह यह है कि वास्तुनिर्माण से पूर्व खाली भूमि पर लोग कचरा आदि डालते हैं। वहाँ व्यन्तरादिक भी अपना निवास स्थान बना लेते हैं। इसलिए वास्तु निर्माण के बाद गृह प्रवेश से पूर्व उसके शुद्धिकरण हेतु वास्तुशांति आवश्यक है।

वास्तु शांति-

गृहस्थाचार के अनुसार व्यक्तियों के निवास के लिए घर होना चाहिए। यह घर विकृतियों से और सुख शांति देना वाला होना चाहिए। उसमें रहने वाले निवासियों में परस्पर सौजन्य, आदर, सम्मान, प्रेम, अतिथि सत्कार की भावना, वात्सल्य तथा कार्य करने में उत्साह होना चाहिए। यह स्थिति बनाने के लिए गृह-प्रवेश से पूर्व वास्तु शांति आवश्यक होती है। यह पद्धति प्राचीन काल से चली आ रही है। महाभारत के एक प्रसंग से ज्ञात होता है कि जब दुर्योधन ने इन्द्रप्रस्थ में अपना भवन बनाया तो गृहप्रवेश के अवसर पर पाण्डवों को आमंत्रित किया। इससे वास्तु शांति कराने की प्राचीन परम्परा का पता चलता है। वास्तु शांति देव, शास्त्र, गुरु एवं गृहस्थाचार्य की सन्निधि में एवं परिवारी तथा सामाजिकजनों की उपस्थिति में मंगल वातावरण में करना चाहिए।

वास्तुशांति के दिन श्री शांतिनाथ मण्डल विधान तथा भक्तामर पाठ, मंत्र जाप, हवन करना चाहिए तथा उक्त क्रियाओं के पश्चात् गाजे बाजे के साथ गृह दंपति को श्री जिन मंदिर से मंगल कलश लाकर स्वस्ति वाचन के साथ

अक्षत-पुष्पादि क्षेपण करते हुए प्रमुख द्वार पर ऊँ, स्वस्तिक, शुभ-लाभ लिखकर गृहप्रवेश करना चाहिए तथा श्री जिन मंदिर से लाया हुआ मंगलकलश ईशान कोण में स्थापित करना चाहिए तथा सभी परिवारजनों को भोज करना चाहिए। शांति विधान कहाँ किया जाये; इस विषय में दो मत हैं -

‘प्रतिष्ठा पराग’ (पृ. २०४) में गृहप्रवेश के सम्बन्ध में लिखा है कि- गृहप्रवेश अनुष्ठान के एक दिन पूर्व मंदिर जी में ही शांति विधान करें। जिस नवीन ताम्र कलश को घर में स्थापित करना है उसे पूर्ण सामग्री के साथ विधान मण्डल पर विधिपूर्वक स्थापित करें, जिसे गृहप्रवेश के दिन मंदिर से लेकर आयेंगे।

वर्तमान में प्रायः नवनिर्मित घर में ही कहीं-कहीं जिन मंदिर से मूर्ति लाकर, कहीं विनायक यंत्र लाकर और कहीं केवल जिनवाणी की स्थापना कर श्री शांतिनाथ महामण्डल विधान कर आयोजन किया जाता है। श्री शांतिनाथ महामण्डल विधान के पूर्व अभिषेक, पूजन, देव, शास्त्र, गुरु, नवदेवता एवं विनायक यंत्र पूजन के उपरांत सिद्धभक्ति कायोत्सर्गपूर्वक शांतिदायक मंत्र का जाप करना चाहिए तथा गंधोदक सभी दीवारों पर प्रक्षेपित करना चाहिए। मंत्र जाप से वास्तु का वातावरण भावनात्मक रूप से शुद्ध होता है। इसके पश्चात् णमोकार मंत्र पाठ, श्री शांतिनाथ मण्डल विधान अथवा भक्तामर मण्डल विधान सर्वशांति की भावना से करना चाहिए।

विधान के उपरांत जपे हुए मंत्र की दशांश आहुतिपूर्वक शांति हवन करना चाहिए। हवन करने से वास्तु में उष्मा और सकारात्मक ऊर्जा में वृद्धि होती है जिस तरह बिना अग्नि में जलाए धातु आदि की खोट नहीं मिटती वैसे ही बिना हवन के वास्तुदोषों का शमन नहीं होता। हवन के पश्चात् दानादि एवं जिनवाणी भेंट करना चाहिए। गृहस्थाचार्य का सम्मान करना चाहिए।

नवीन गृह के मुख्य द्वार पर रंगोली बनाना चाहिए।

गृहप्रवेश से पूर्व मुख्य द्वार पर पहुँचकर दिग्वंधन करें तथा द्वार के ऊपर ट:ट (स्वास्तिक, ओ३म्. स्वास्तिक) की संरचना कर श्री महावीराय नमः तथा दरवाजे के बायें-दायें शुभ-लाभ लिखना चाहिए।

दरवाजे के बायें-दायें सुहागिन महिला से हस्त छाप (क्रमशः दो एवं तीन) लगवाकर मंगल कलश, दीपक एवं मंगल द्रव्य के साथ णमोकार मंत्र पढ़ते हुए वास्तु निर्माता दंपति को गृहप्रवेश करना चाहिए।

वास्तु शांति के लिए मांगलिक चिन्हों की स्थापना-

वास्तु (गृह) में रहने वाले और वास्तु में प्रवेश करने वाले (अतिथि) की प्रवृत्ति सकारात्मक बनी रहे इसलिए वास्तु में मांगलिक चिन्हों की संरचना एवं मांगलिक वस्तुओं की स्थापना की जाती है। ऐसे कुछ मांगलिक चिन्ह इस प्रकार हैं-

१. ट (स्वस्तिक) - स्वस्तिक का आकार संसार की संरचना, संसार का नाश, चारगति, चार दिशा और चार अनुयोग का सूचक है। अतः इसका दीवारों पर, मकान के सर्वोच्च स्थान पर बनाए जाना; जहाँ से सभी को मकान की ओर प्रथम दृष्टि डालते ही दिखाई दे; शुभ होता है। इसे प्रमुख द्वार पर प्रमुखता से चित्रित करना चाहिए। खाता-बही, धर्म ग्रंथ, तिजोरी, अलमारी या जो भी नयी वस्तु घर में आती है। सर्वप्रथम उन पर स्वस्तिक बनाना चाहिए। यह ऋद्धि-सिद्धि दायक भी माना जाता है। देखने में सुखद प्रतीत होता है। इसे किसी भी समय, किसी भी स्थान पर उल्ट नहीं बनाना चाहिए।

२. ग (नन्द्यावर्त स्वस्तिक) - नन्द्यावर्त स्वस्तिक की संरचना भी गृह में शांति एवं सुखदायक होती है। जैन धर्मानुयायी नन्द्यावर्त स्वस्तिक का उपयोग करते हैं। यह दसों दिशाओं का भी सूचक होता है। इससे अहिंसक भावना का संचार होता है।

३. छ (ऊँ) - ओ३म् गृह के मुख्य द्वार की चौखट के बीच में लगाना चाहिए। यह पंचपरमेष्ठी का सूचक है। संसार के आधे से अधिक धर्म और दर्शनों में इसे ब्रह्म का वाचक माना गया है। यह प्रथम बीजाक्षर मंत्र है। इसके देखने से शक्ति का संचय होता है तथा मन में शांति की तृप्ति होती है। इससे पंचपरमेष्ठी के प्रति आस्था प्रकट होती है और आस्तिकता का संचार होता है।

४. (मंगल कलश) - वास्तु के ईशानकोण में नारियल युक्त धातु या मृत्तिका कलश की स्थापना करनी चाहिए। यह कलश पंचरंग सूतवेष्टित, हल्दी गांठ, सुपारी, पीली सरसों, अक्षत-पुष्प, रजत स्वस्तिक, पंचरत्न, रजत सिक्का, जल आदि से पूरित होना चाहिए तथा कलश के ऊपर केसर से चारों ओर स्वस्तिक बने होना चाहिए। गृह प्रवेश के समय जिन मंदिर में दर्शन पूजन के उपरांत वास्तुनिर्माता दंपति मंगल कलश को लाकर ही गृह प्रवेश करते हैं। यह धन धान्य से भरे होने की सूचना देता है।

५. फ (त्रिलोक जैन चिन्ह) - तीन लोक की आकृति का सूचक जिसके नीचे “परस्परोपग्रहो जीवानाम्” लिखा रहता है। यह कमर पर दोनों हाथ रखे पुरुष का चिन्ह; जिस पर सिद्धशिला का आकार, रत्नत्रय के सूचक तीन बिन्दु, स्वस्तिक तथा अहिंसा एवं अभय का सूचक हाथ बना रहता है ऐसा चिन्ह वास्तु की दीवाल पर बनाने से मंगल में वृद्धि होती है, समृद्धि आती है।

आजकल कुछ लोग मुख्य दरवाजे पर चरण पादुकाएं बना देते हैं यह उचित नहीं है। वैसे भी मुख्य दरवाजे पर या मुख्य दरवाजे के सामने जूता-चप्पल आदि नहीं रखना चाहिए। इससे नकारात्मक ऊर्जा संचरित होती है। इसी तरह चौखट पर ऐसे कोई वस्तु नहीं लटकाना चाहिए जो आते-जाते समय सिर को लगे। यह अनावश्यक भय का कारण बनती है। अपने घर में हिंसक जानवरों का रखना, पालना भी उचित नहीं है।

गृहप्रवेश मुहूर्त -

गृहप्रवेश के लिए चित्रा, अनुराधा, उत्तरा फाल्गुनी, उत्तरा भाद्रपद, उषा, रेवती, मृगशिर, रोहिणी नक्षत्र उत्तम माने जाते हैं।

वार की दृष्टि से गृहप्रवेश के लिए सोमवार, बुधवार, गुरुवार और शुक्रवार अच्छे माने गये हैं।

तिथि की दृष्टि से द्वितीया, तृतीया, पंचमी, षष्ठी, सप्तमी, दशमी, एकादशी, त्रयोदशी, गृहप्रवेश के लिए अच्छे माने गये हैं।

लग्न की दृष्टि से २, ५, ८, ११ उत्तम तथा ३, ६, ९, १२ मध्यम गृहप्रवेश के लिए माने गये हैं। लग्न से १, २, ३, ५, ७, ९, १०, ११ इन स्थानों में शुभग्रह शुभ एवं ३, ६, ११, स्थानों में पापग्रह शुभ होते हैं। ४, ८, स्थानों में कोई ग्रह नहीं होना चाहिए।

घर में प्रवेश के अधिकार -

प्रश्न उठता है कि घर में प्रवेश के अधिकारी कौन हैं ? जो वास्तु निर्माता है वह घर में प्रवेश का अधिकारी है। किन्तु “न धर्मो धार्मिकैना” की नीति के अनुसार धर्म धार्मिकों के बिना नहीं होता। अतः जिनेन्द्र देव, जिनवाणी और

जिन गुरु को भी नव निर्मित वास्तु में प्रवेश का अधिकार होना चाहिए, होता ही है। यहाँ ध्यान रहे कि गृह चैत्यालय के अभाव में घर में जिनेन्द्र देव (अरहन्त मूर्ति) की स्थापना कदापि नहीं करना चाहिए। उनके स्थान पर नियम से उच्च स्थान पर जिनवाणी की स्थापना करना चाहिए ताकि यदि वास्तु संबन्धी कोई दोष रह भी गया है तो वह जिनवाणी के कारण अपना प्रभाव नहीं दिखा पायेगा।

जिन गुरु दो ही स्थितियों में गृहस्थ के घर प्रवेश करते हैं - १. आहार के निमित्त, २. किसी के द्वारा सल्लेखना व्रत लेने पर उसके सम्बोधनार्थ। अतः जब भी आचार्य, उपाध्याय या मुनि अपने घर की सीमा में आयें तब उनके लिए आहार हेतु अवश्य पड़गाहन करना चाहिए। बिना अतिथि सत्कार, गुरु को आहार (अतिथि संविभाग व्रत की संयोजना) कराये घर पवित्र नहीं होता। तथा सभी गृहवासियों को सल्लेखना की भावना बनाए रखना चाहिए।

इसी तरह साधर्मी भाई-बहनों के लिए भी अतिथि के तुल्य प्रवेश देना चाहिए। अपने कुटुम्बीजनों, नाते-रिश्तेदारों को भी घर में प्रवेश देना चाहिए। जो घर के स्वामी हैं उन सभी को भी परस्पर मिलजुल कर घर में रहना चाहिए। घर में ऐसे कोई कार्य नहीं करना चाहिए जिससे घर का वातावरण दूषित होता हो। मद्यपान, मांस भक्षण, जुआ आदि दुष्कृत्य कभी नहीं करना चाहिए। अकुलीन एवं व्यभिचारी, व्यसनीजनों का प्रवेश सदैव वर्जित होना चाहिए। रात्रि भोजन का त्याग होना चाहिए। धार्मिक एवं पारिवारिक वातावरण निर्मित होना चाहिए। ऐसा करने पर ही वास्तु शांति तथा वास्तु में रहने वाले नर-नारियों को शांति प्राप्त होगी तथा सुख एवं समृद्धि में वृद्धि होगी।

- प्रधान संपादक, “पार्श्व ज्योति (मासिक)
एल-६५, न्यू इन्दिरानगर,
बुरहानपुर (म.प्र.)

लेश्या स्वरूप एवं विमर्श

डॉ. योगेश कुमार जैन
डॉ. श्वेता जैन

कषाय से अनुरंजित जीव की मन, वचन, काय की प्रवृत्ति भाव लेश्या है। आगम में इनका वर्णन कृष्णादि छह रंगों द्वारा निर्देशित किया गया है। इनमें से तीन शुभ व तीन अशुभ होती है। राग व कषाय का अभाव हो जाने से मुक्त जीवों को लेश्या नहीं होती। शरीर के रंग को द्रव्यलेश्या कहते हैं। देव व नारकियों में द्रव्य व भाव लेश्या समान होती है, पर अन्य जीवों में इनकी समानता का नियम नहीं है। द्रव्य लेश्या आयु पर्यन्त एक ही रहती है पर भाव लेश्या जीवों के परिणामों के अनुसार बराबर बदलती रहती है।

प्राकृत पंचसंग्रह में लेश्या को प्रतिपादित करते हुये आचार्य कहते हैं कि -

लिप्पइ अप्पीकीरइ एयाए णियय पुण्ण पावं च।
जीवो त्ति होइ लेसा लेसा गुणजाणयक्खाया॥
जह गेरुवेण कुड्डो लिप्पइ लेवेण आमपिट्ठेण।
तह परिणामो लिप्पइ सुहासुहयत्ति लेव्वेण॥^१

अर्थात् जिसके द्वारा जीव पुण्य-पाप से अपने को लिप्त करता है, उनके आधीन करता है उसको लेश्या कहते हैं। जिस प्रकार आमपिष्ट से मिश्रित गेरू-मिट्टी के लेप द्वारा दीवाल लीपी या रंगी जाती है, उसी प्रकार शुभ और अशुभ भाव रूप लेप के द्वारा जो आत्मा का परिणाम लिप्त किया जाता है, उसको लेश्या कहते हैं।

धवलाकार कहते हैं कि - “लिम्पतीति लेश्या।.....कर्मभिरात्मानमित्यध्याहारपेक्षित्वात् अथवात्मप्रवृत्ति संश्लेषणकारी लेश्या। प्रवृत्ति शब्दस्य कर्म

पर्यायत्वात्।^{१२} अर्थात् जो लिम्पन करती है उसको लेश्या कहते हैं। जो कर्मों से आत्मा को लिप्त करती है उसको लेश्या कहते हैं। अथवा जो आत्मा और कर्म का सम्बन्ध करने वाली है उसको लेश्या कहते हैं। यहाँ पर प्रवृत्ति शब्द कर्म का पर्यायवाची है। इस प्रकार संक्षेप में कह सकते हैं कि कषाय के उदय से अनुरंजित मोह और योग की प्रवृत्ति को भावलेश्या और शरीर के पीत-पद्मादि वर्णों को द्रव्यलेश्या कहते हैं।

द्रव्य लेश्या पुद्गल विपाकी शरीर नामकर्म के उदय से होती है। अतः आत्मभावों के प्रकरण में उसका यहाँ ग्रहण नहीं किया है। भावलेश्या कषाय के उदय से अनुरंजित योगवृत्ति का निमित्त पाकर होती है, इसीलिए कषाय औदयिकी कही जाती है।

लेश्याओं के प्रकार व स्वरूप -

लेश्या मुख्यरूप से द्रव्य और भाव के भेद से दो प्रकार की है। यहाँ भावलेश्या का विषय है तथा भावलेश्या छह प्रकार की है। लेश्या के भेदों का वर्णन करते हुए पंचाध्यायीकार कहते हैं कि -

लेश्या षडेव विख्याता भावा औदयिकाः स्मृताः।

यस्माद्योगकषायाभ्यां द्वाभ्यामेवो दयोद्भवाः॥^{१३}

लेश्याओं के छह भेद हैं- १. कृष्ण २. नील ३. कापोत ४. पीत ५. पद्म और ६. शुक्ल। इन्हीं छह भेदों से लेश्यायें प्रसिद्ध हैं। लेश्यायें भी जीव के औदयिक भाव हैं, क्योंकि लेश्यायें योग और कषायों के उदय से होती हैं। कर्मों के उदय से होने वाले आत्मा के भावों का नाम ही औदयिकभाव है। योग और कषाय के समुदाय का नाम लेश्या है तथा यह लेश्या ही प्रकृति-प्रदेश-स्थिति और अनुभाग इन चारों प्रकार के बन्ध का कारण है।

(i) कृष्णलेश्या:-

चंडो ण मुचइवेरं, भंडणसीलो य धम्मदयरहिओ।

दुद्धो ण य एदि वसं, लक्खणमेयं तु किण्हस्स॥^{१४}

कृष्णलेश्या वाले जीव के भाव अशुभतम् अर्थात् मूल से नाश करने वाले भाव होते हैं। कृष्ण लेश्या वाला जीव तीव्र क्रोध करता है, बैर को नहीं छोड़ता है, युद्ध के लिए सदा तत्पर रहता है, दया-धर्म से रहित होता है, दुष्ट होता है और किसी के वश में नहीं आता है।

(ii) नीललेश्या:-

मंदोबुद्धिविहीणो, णिव्विणाणी य विसयलोलो य।
माणी मायी य तहा, आलस्सो चेव भेज्जो य॥
णिददावंचण बहुलो, धणधण्णे होदि तिव्वसण्णा य॥
लक्खणमेयं भणियं, समासदो णीललेस्सस्स॥५

जो जीव मंद अर्थात् स्वच्छन्द होता है, वर्तमान कार्य करने में विवेक रहित होता है, कला-चातूर्य से रहित होता है, पंचेन्द्रिय के विषयों में लम्पट होता है, मानी, मायावी, आलसी, भीरू तथा दूसरों का अभिप्राय सहसा न जानने वाला, अति निद्रालु, दूसरों को ठगने में अतिदक्ष हो और धन-धान्य के विषय में जिसकी अतितीव्र लालसा हो, वह नील लेश्या वाले परिणाम से युक्त होता है। ऐसा आसक्त जीव नीललेश्या के साथ धूम-प्रभा नरक पृथ्वी तक जाता है।

(iii) कापोतलेश्या:-

रूसइ णिंदइ अण्णे, दूसइ बहुसो स सोय भय बहुलो।
असुयइ परिभवइ परं, पसंसये अप्पयं बहुसो॥
ण य पत्तियइ परं सो अप्पाणं यिव परं पि भण्णंतो।
थूसइ अभित्थुवंतो, ण य जाणइ हाणि-वडिं वा॥
मरणं पत्थेइ रणे, देइ सुबहुगं वि थुव्वमाणो दु।
ण गणइ कज्जाकज्जं, लक्खणमेयं तु काउस्स॥६

अर्थात् दूसरे के ऊपर क्रोध करना, दूसरों की निंदा करना, अनेक प्रकार से दूसरों को दुःख देना अथवा दूसरों से बैर करना, अधिकतर शोकाकुलित रहना तथा भयग्रस्त रहना या हो जाना, दूसरों के ऐश्वर्यादि को सहन न कर सकना, दूसरे का तिरस्कार करना, अपनी नाना प्रकार से प्रशंसा करना दूसरों के ऊपर विश्वास न करना अपने समान दूसरों को भी मानना, स्तुति करने वाले पर संतुष्ट

हो जाना, अपनी हानि वृद्धि को कुछ भी न समझना, रण में मरने की प्रार्थना करना, स्तुति करने वाले को खूब धन देना, अपने कार्य-अकार्य की कुछ भी गणना न करना ये सब कापोत लेश्या वाले के चिन्ह हैं।

मात्सर्य, पैशून्य, परपरिभव, आत्मप्रशंसा परपरिवाद, जीवन नैराश्य, प्रशंसक को धन देना, युद्ध मरणोद्यम आदि कापोतलेश्या के कारण हैं।

(iv) पीतलेश्या:-

जणइ कज्जाकज्जं सेयमसयं च सव्वसमपासी।
दयदाणरदो य मिदू लक्खणमेयं तु तेउस्स॥^{१०}

अर्थात् अपने कार्य-अकार्य, सेव्य-असेव्य को समझने वाला हो, सबके विषय में समदर्शी हो, दया-दान में तत्पर हो, मन-वचन-काय के विषय में कोमल परिणामी होना, पीतलेश्या वाले के चिन्ह हैं।

(v) पद्मलेश्या:-

चागी भद्दो चोक्खो, उज्जवकम्मो य खमदि बहुगं पि।
साहुगुरुपूजणरदो, लक्खणमेयं तु पम्मस्स॥^{११}

जो दान देने वाला हो, भद्रपरिणामी हो जिसका उत्तम कार्य करने का स्वभाव हो, कष्ट रूप तथा अनिष्टरूप उपद्रवों को सहन करने वाला हो, मुनिजन गुरुजन आदि की पूजा में प्रीतियुक्त हो, ये सब पद्मलेश्या वाले के लक्षण हैं।

(vi) शुक्ललेश्या:-

ण य कुणइ पक्खवायं, ण वि य णिदाणं समो ये सव्वेसिं।
णत्थि य रायद्दोसा, णेहो वि य सुक्कलेस्सस्स॥^{१२}

अर्थात् पक्षपात न करना, निदान को न बांधना, सब जीवों में समदर्शी होना, इष्ट में राग और अनिष्ट में द्वेष न करना, स्त्री-पुत्र-मित्र आदि में स्नेहरहित होना, ये सब शुक्ललेश्या वाले के लक्षण हैं।

इन छहों लेश्याओं वाले जीवों के विचारों के विषय में एक दृष्टान्त भी प्रसिद्ध है - छह पथिक जंगल के मार्ग में जा रहे थे। मार्ग भूलकर वे घूमते हुए एक

आम के वृक्ष के पास पहुँच गये। उस वृक्ष को फलों से भरा हुआ देखकर कृष्णलेश्या वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं इस वृक्ष को जड़ से उखाड़कर इसके आम खाऊँगा। नीललेश्या वाले अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं जड़ से तो इसे उखाड़ना नहीं चाहता, किन्तु स्कन्ध (जड़ के ऊपर का भाग) से काटकर इसके आम खाऊँगा। कापोतलेश्या वाले अपने विचार के अनुसार कहा कि मैं बड़ी बड़ी शाखाओं को गिराकर आम खाऊँगा। पीतलेश्या वाले ने अपने परिणाम अनुसार कहा कि मैं बड़ी-बड़ी शाखाओं को तोड़कर समग्र वृक्ष की हरियाली को क्यों नष्ट करूँ, केवल इसकी छोटी-छोटी डालियों को तोड़कर ही आम खाऊँगा। पद्मलेश्या वाले अपने विचारों के अनुसार कहा कि मैं तो इसके फलों को ही तोड़कर खाऊँगा। शुक्ललेश्या वाले ने अपने विचारों के अनुसार कहा कि तुम तो फलों के खाने की इच्छा से इतना बड़ा आरम्भ (पाप) करने के लिए उद्यत हो। मैं तो केवल वृक्ष से स्वयं टूटकर गिरे हुए फलों को ही बीनकर खाऊँगा।

भेद-प्रभेद -

इस प्रकार छहों लेश्याओं के स्वरूप वर्णन के उपरान्त लेश्याओं के अंशों (भेदों) का कथन इस प्रकार है :-

लेस्साणं खलु अंसा, छब्बीसा होंति तत्थ मज्झिमया।
आउगबन्धण जोगा, अुवगरिसकालभवा।।^{१०}

अर्थात् लेश्याओं के कुल छब्बीस अंश हैं, इनमें से आठ अंश जो कि आठ अपकर्ष काल में होते हैं, वे ही आयुर्कर्म के बन्ध के योग्य होते हैं।

छहों लेश्याओं के जघन्य, मध्यम, उत्कृष्ट भेद की अपेक्षा अठारह भेद होते हैं। इनमें आठ अपकर्षकाल सम्बन्धी अंशों के मिलाने पर २६ भेद हो जाते हैं। जैसे किसी कर्मभूमि के मनुष्य या तिर्यच की भुज्यमान आयु का प्रमाण छह हजार पांच सौ इकसठ वर्ष है। इसके तीन भाग में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर, इस एक भाग के प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्तपर्यन्त प्रथम अपकर्ष का काल कहा जाता है। इस अपकर्ष काल में परभव सम्बन्धी आयु

का बन्ध होता है। यहाँ पर बन्ध न हो तो अवशिष्ट एक भाग के तीन भाग में से दो भाग बीतने पर और एक भाग शेष रहने पर उसके प्रथम समय से लेकर अन्तर्मुहूर्त पर्यन्त द्वितीय अपकर्ष काल में होता है और तीसरे में भी न हो तो चौथे, पांचवें, छे, सातवें, आठवें अपकर्ष में से किसी भी अपकर्ष में परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। परन्तु फिर भी यह नियम नहीं है कि इन आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बन्ध हो ही जाये। केवल इन अपकर्षों में आयुक्रम के बन्ध की योग्यता मात्र बताई गई है। इसलिए यदि किसी भी अपकर्ष में बन्ध न हो तो असंक्षेपाद्धा (भुज्यमान आयु का अंतिम आवली के असंख्यातवें भाग प्रमाणकाल) से पूर्व के अन्तर्मुहूर्त में अवश्य ही आयु का बन्ध होता है, यह नियम है।

भुज्यमान आयु के तीन भागों में से दो भाग बीतने पर अवशिष्ट एक भाग के प्रथम अन्तर्मुहूर्त प्रमाण काल को अपकर्ष कहते हैं। इस अपकर्ष काल में लेश्याओं के आठ मध्यमांशों में से जो अंश होगा उनके अनुसार आयुशो में से जो कोई अंश जिस अपकर्ष में होगा उस ही अपकर्ष में आयु का बन्ध होगा, दूसरे में नहीं।

जीवों के दो भेद हैं- एक सोपक्रमायुष्क दूसरा अनुपक्रमायुष्क। जिनका विषभक्षणादि निमित्त के द्वारा मरण संभव हो उनका सोपक्रमायुष्क कहते हैं और जो इससे रहित हैं उनको अनुपक्रमायुष्क कहते हैं। जो सोपक्रमायुष्क हैं उनके तो उक्त रीति से ही परभव सम्बन्धी आयु का बन्ध होता है। किन्तु अनुपक्रमायुष्कों में कुछ भेद हैं, वह यह है कि अनुपक्रमायुष्कों में जो देव और नारकी हैं वे अपनी आयु के अंतिम छह माह शेष रहने पर आयु के बन्ध करने के योग्य होते हैं। इसमें भी छह महीना के आठ अपकर्ष काल में ही आयु का बन्ध करते हैं, दूसरे काल में नहीं। जो भोगभूमि के मनुष्य या तिर्यच हैं, उसकी आयु का प्रमाण एककोटिपूर्व वर्ष और एक समय से लेकर तीन पत्योपम पर्यन्त है। इनमें से वे अपनी-अपनी यथायोग्य आयु के अन्तिम नौ महीना शेष रहने पर उन्हीं नौ महीना के आठ अपकर्षों में से किसी भी अपकर्ष में आयु का बन्ध करते हैं। इस प्रकार ये लेश्याओं के आठ अंश आयु बन्ध के कारण है।

जिस अपकर्ष में जैसा जो बन्ध हो उसके अनुसार आयु का बन्ध होता है। लेश्याओं के शेष अठारह भेदों का स्वरूप निम्न है

अपकर्ष काल में होने वाले लेश्याओं के आठ मध्यमांशों को छोड़कर बाकी के अठारह अंश चारों गतियों के गमन के कारण होते हैं यह सामान्य नियम है। परन्तु विशेष नियम यह है कि शुक्लेश्या के उत्कृष्ट अंश से संयुक्त जीव मरकर नियम से सर्वार्थसिद्धि जाता है तथा शुक्ललेश्या के जघन्य अंशों से संयुक्त जीव मरकर शतार-सहस्रार स्वर्गपर्यन्त जाते हैं और मध्यमांशों सहित मरा हुआ जीव सर्वार्थसिद्धि से पूर्व के तथा आनत स्वर्ग से लेकर ऊपर के समस्त विमानों में से यथा-संभव किसी भी विमान में उत्पन्न होता है और आनत स्वर्ग में भी उत्पन्न होता है।

पम्मुक्कस्संसमुदा जीवा उवजांति खलु सहस्सारं।

अवरंसमुदा जीवा, सणक्कुमारं च माहिदं॥^{१९}

पद्मलेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव नियम से सहस्रार स्वर्ग को प्राप्त होते हैं और पद्मलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार और माहेन्द्र स्वर्ग को प्राप्त होते हैं। पद्मलेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार माहेन्द्र स्वर्ग के ऊपर और सहस्रार स्वर्ग के नीचे-नीचे तक विमानों में उत्पन्न होते हैं। पीतलेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव सनत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के अंतिम पटलों में जो चक्रनाम का इन्द्रक सम्बन्धी श्रेणीबद्ध विमान है, उसमें उत्पन्न होते हैं। पीलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरा हुआ जीव सौधर्म ईशान स्वर्ग के ऋतु (ऋजु) नामक इन्द्रक विमान में अथवा श्रेणीबद्ध विमान में उत्पन्न होता है। पीतलेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरा हुआ जीव सौधर्म-ईशान स्वर्ग के दूसरे पटल के विमल नामक इन्द्रक विमान से लेकर सनत्कुमार-माहेन्द्र स्वर्ग के द्विचरम पटल के (अंतिम पटल के पूर्व पटल के) बलभद्र नामक इन्द्रक विमान पर्यन्त उत्पन्न होता है।

किण्हवरंसेण मुदा अविधिणम्मि अवरंसं मुदा।

पंचम चरिमतिमिस्से, मज्झे मज्झेण जायंते॥^{२०}

अर्थात् कृष्ण लेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव सातवीं पृथ्वी के अवधिस्थान नामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव पांचवी पृथ्वी के अन्तिम पटल के तिमिश्रनामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। कृष्ण लेश्या के मध्यम अंशों के साथ मरे हुए जीव दोनों के (सातवीं और पांचवीं नरक पृथ्वी के) मध्य स्थानों में यथा सम्भव योग्यतानुसार उत्पन्न होते हैं।

नीलुक्कस्ससमुदा पंचम अधिंदयम्मि अवरमुदा।
बालुक संपज्जलिदे मज्झे मज्जेण जायंते।^{१३}

नीललेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव पाँचवीं, पृथ्वी के द्विचरम पटल सम्बन्धी अन्ध्रनामक इन्द्रकबिल में उत्पन्न होते हैं। कोई-कोई पाँचवें पटल में भी उत्पन्न होते हैं। इतना विशेष और भी है कि कृष्णलेश्या के जघन्य अंशवाले जीव भी मरकर पाँचवी पृथ्वी के अन्तिम पटल में उत्पन्न होते हैं। नीललेश्या के जघन्य अंश वाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वी के अन्तिम पटल सम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रक बिल में उत्पन्न होते हैं। नीललेश्या के मध्यम अंशवाले जीव मरकर तीसरी पृथ्वी के संप्रज्वलित नामक इन्द्रक बिल के आगे और पांचवी पृथ्वी के अन्ध्रनामक इन्द्रकबिल के पहले-पहले कितने पटल और इन्द्रक हैं इनमें यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

वरकाओदं समुदा संजलिदं जांति तदियणिरयस्स।
सीमंतं अवरमुदा मज्झे मज्जेण जायंते।^{१४}

कापोतलेश्या के उत्कृष्ट अंशों के साथ मरे हुए जीव तीसरी पृथ्वी के नौ पटलों में से द्विचरम-आठवें पटल सम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिल में उत्पन्न होते हैं। कोई-कोई अन्तिम पटल सम्बन्धी संप्रज्वलित नामक इन्द्रकबिल में भी उत्पन्न होते हैं। कापोतलेश्या के जघन्य अंशों के साथ मरे हुए जीव प्रथम पृथ्वी के सीमन्त नामक इन्द्रकबिल से आगे तीसरी पृथ्वी के द्विचरम पटल सम्बन्धी संज्वलित नामक इन्द्रकबिल के पहले तीसरी पृथ्वी के सात पटल, दूसरी पृथ्वी के ग्यारह पटल और प्रथम पृथ्वी के बारह पटलों में या धम्माभूमि

के तेरह पटलों में से पहले सीमान्तक बिल के आगे बिलों में यथायोग्य उत्पन्न होते हैं।

इस प्रकार छहों लेश्याओं में से उनके जघन्य मध्यम उत्कृष्ट अंशों के द्वारा जीवों का चार गतियों में कहाँ-कहाँ तक गमन होता है यह बताया। उपरोक्त छहों लेश्याओं के स्वामी कौन-कौन हैं यह चर्चा भी प्रसंग प्राप्त है। अतः इसका वर्णन भी यहाँ किया जा रहा है :-

काऊकाऊकाऊ, णीला य णील किण्हा य।
किण्हा य परमकिण्हा, लेस्सा पढमादिपुढवीणं॥^{१५}

पहली धम्मा या रत्नप्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का जघन्य अंश है। दूसरी वंश या शर्करा प्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का मध्यम अंश है। तीसरी मेघा बालुका प्रभा पृथ्वी में कापोतलेश्या का उत्कृष्ट अंश और नील लेश्या का जघन्य अंश है। चौथी अंजना या पंकप्रभा पृथ्वी में नीललेश्या का मध्यम अंश है। पांचवीं अरिष्टा या धूमप्रभा में नीललेश्या का उत्कृष्ट अंश और कृष्ण लेश्या का जघन्य अंश है। छठी मध्वी या तम, प्रभा पृथ्वी में कृष्णलेश्या का मध्यम अंश है। सातवीं माधवी या महातम प्रभा पृथ्वी में कृष्ण लेश्या का उत्कृष्ट अंश है।

णरतिरियाणं आद्यो इगिविगलेतिणिण चउ असणिणस्स।
सणिणअपुण्ण गमिच्छे सासणं सम्मे असुहतियं॥^{१६}

मनुष्य और तिर्यचों के सामान्य से छहों लेश्याएँ होती हैं। परन्तु विशेष रूप में एकेन्द्रिय और विकलत्रय (द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय और चतुरिन्द्रिय) जीवों के कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं। असंज्ञी पंचेन्द्रिय पर्याप्त जीवों के कृष्ण आदि चार लेश्याएँ होती हैं, क्योंकि असंज्ञी पंचेन्द्रिय कपोतलेश्या वाला जीव मरकर पहले नरक में जाता है तथा तेजोलेश्या सहित मरने से भवनवासी और व्यन्तर देवों में उत्पन्न होता है। कृष्ण आदि तीन अशुभ लेश्या सहित मरने से यथायोग्य मनुष्य या तिर्यच में उत्पन्न होता है। संज्ञी लब्धयपर्याप्तक मिथ्यादृष्टि मनुष्य और तिर्यच तथा अपि शब्द से असंज्ञी लब्धयपर्याप्तक और सासादन गुणस्थानवर्ती निर्वृत्यपर्याप्त तिर्यच मनुष्य तथा भवनत्रिक इतने जीवों में कृष्ण

आदि तीन अशुभ लेश्याएँ ही होती हैं। तिर्यच और मनुष्य उपशम सम्यग्दृष्टि जीवों के सम्यक्त्व काल के भीतर विशिष्ट संक्लेश के हो जाने पर भी ये तीन अशुभ लेश्याएँ नहीं हुआ करती। किन्तु उसकी विराधना करके सासादन बनने वालों के अपर्याप्त अवस्था में तीन अशुभ लेश्याएँ ही हुआ करती हैं।

भोगापुण्णगसम्मे काउस्सजहण्णियं हवे णियमा।
सम्मे वा मिच्छे वा पज्जते तिण्णि सुहलेस्सा॥१७

भोगभूमि में उत्पन्न होने वाले निर्वृत्यपर्याप्तक सम्यग्दृष्टि जीवों में कापोतलेश्या का जघन्य अंश होता है तथा सम्यग्दृष्टि या मिथ्यादृष्टि जीवों के पर्याप्त अवस्था में पीत आदि तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं।

अयदो त्ति छ लेस्साओ सुहतियलेस्साहुदेसविरदतिये।
तत्तो सुक्कालेस्सा अजोगिठाणं अलेस्स तु॥१८

अर्थात् चतुर्थ गुणस्थान पर्यन्त छहों लेश्याएँ होती हैं तथा देशविरत, प्रमत्तविरत और अप्रमत्तविरत इन तीन गुणस्थानों में तीन शुभ लेश्याएँ ही होती हैं। किन्तु इसके आगे अपूर्वकरण से लेकर सयोगकेवली पर्यन्त एक शुक्ललेश्या ही होती है और अयोग्यकेवली गुणस्थान लेश्या रहित है। अर्थात् समस्त सिद्ध राशि अलेश्या-लेश्यारहित है।

- प्रोफेसर, जैनविश्व भारती विश्वविद्यालय
लाडनूँ (राजस्थान)

सन्दर्भ—

१. पंच संग्रह प्राकृत गाथा १/१४२-४३
२. गावला १/१.१.४/१४९/६
३. पंचाध्यायी गाथा ११४५
४. गोम्मटसार जीवकाण्ड गा.५०९
५. वही गा. ५१०
६. वही गा. ५१२-१४
७. वही गा. ५१५
८. वही गा. ५१६
९. वही गा. ५१७
१०. वही गा. ५१८
११. वही गा. ५२१
१२. वही गा. ५२४
१३. वही गा. ५२५
१४. वही गा. ५२६
१५. वही गा. ५२९
१६. वही गा. ५३०
१७. वही गा. ५३१
१८. वही गा. ५३२।

सर्वोदयी देशना में स्वमुखी-परमुखी दृष्टि

डॉ. अनेकान्त कुमार जैन

अध्यात्म की दृष्टि आज वैश्विक स्तर पर स्वीकृत हो रही है। विश्व के प्रबुद्ध लोगों ने जब देखा कि धार्मिक साम्प्रदायिकता ने मनुष्य को दिया कम छोना ज्यादा है तब उनका विश्वास धर्म-सम्प्रदाय से उठने लगा किन्तु विश्वास उठने के साथ ही वह ऊर्जा भी समाप्त होने लगी जो धर्म के मूल से प्रवाहित होती थी। ऐसे ऊर्जा हीन मानवीय प्रबुद्धता ने पुनः धर्म की ओर देखा और उसके बाहरी आडम्बर युक्त स्वरूप को न देख कर उसके अन्दर निहित अध्यात्म के तत्त्व को देखने का प्रयास किया जो तत्त्व धार्मिक कट्टरता की विकृतियों के बीच कहीं खो गया था। यही कारण है कि आज विश्व के तमाम लोग धार्मिक या साम्प्रदायिक न कहलाकर आध्यात्मिक कहलाना पसन्द करते हैं।

जैनधर्म भी महान् विशुद्ध आध्यात्मिक धर्म होते हुये भी समय के झंझावतों के मध्य अपनी स्वाभाविक छवि को दबाकर कृत्रिम बाह्य आडम्बरों से युक्त होता चला जा रहा है। मजबूरियाँ ग्रहण की गयीं, बैसाखियाँ अब मूल अंग बन गयीं हैं। देश-काल की मजबूरियों, विपरीत परिस्थितियों में उपचार के लिए जो औषधियाँ ली गयीं वो अब नित्य भोजन का अंग बन गयीं हैं। चिन्तन की गहराई की कमी तथा मताग्रही दृष्टियों ने अनेक पंथों को जन्म दे दिया है। स्थिति यहाँ तक उत्पन्न हो गयी है कि जैनधर्म के मूलभूत सिद्धान्तों तक से समझौते होने लगे हैं। अकर्तृत्वादी जैनधर्म कर्तृत्वाद के मायाजाल में उलझता जा रहा है। धार्मिक क्रियाकाण्डों का स्वरूप आध्यात्मिक पृष्ठभूमि का न होकर लौकिक पृष्ठभूमि और प्रवृत्ति का होता जा रहा है। ये वो समय है जब अध्यात्म के लिए जीवन का सर्वस्व समर्पित करने वाले निर्ग्रन्थ साधक भी निरर्थक आडम्बरों और प्रवचनों के स्थान पर स्तरहीन निरर्थक भाषणबाजियों में डूबते और डुबाते जा रहे हैं।

इस अर्थहीन वातावरण में यदि जीवनोपयागी और भवभ्रमण का नाश करने वाली आध्यात्मिक जिनवाणी के पीयूष पान कराने वाला यदि मिल जाये तो अपना सातिशय पुण्य का उदय समझना चाहिए। आज निष्काम योगी आध्यात्मिक संत आचार्य श्री विशुद्धसागर जी ने आचार्य भगवन्तों की मूलकृतियों को अपनी सम्यक्त्वमयी देशना का आधार बनाया है। पूज्यपाद स्वामी द्वारा विरचित इष्टोपदेश पर एक भाष्य वे पूर्ण कर चुके थे किन्तु पुनः इसी आध्यात्मिक ग्रन्थ पर अपनी अमृतमयी सर्वोदयी देशना की धारा प्रवाहित कर भव्य जीवों को आध्यात्मिक दृष्टि के साथ साधना का वही चिरन्तन मार्ग पुनः स्थापित करने का प्रयास किया है जिसकी परम्परा वर्तमान के नमोस्तु शासक भगवान महावीर ने डाली थी।

सर्वोदयी देशना में जहाँ एक तरफ अन्तरंग पवित्रता पर बल दिया गया है वहीं दूसरी तरफ बाह्य आचरण की शुचिता पर भी जोर डाला गया है। देशनाकार समझाते हैं -

“जहाँ जहाँ अन्तरङ्ग संयम होगा, वहाँ वहाँ नियम से बहिरंग संयम होगा ही होगा। पर जहाँ जहाँ बहिरंग संयम है, वहाँ अन्तरङ्ग संयम हो भी सकता है, नहीं भी, लेकिन अन्तरङ्ग संयम से बहिरङ्ग संयम की व्याप्ति है। दूध तपा, बर्तन तपा। ज्ञानी! तपाना किसे चाहते थे? दूध तपाना था, कि बर्तन तपाना था? बर्तन तपाने के लिए जो अग्नि जलाये उसको कोई ज्ञानी कह नहीं सकता। पर क्या करूँ? दूध तपाना है, तो बर्तन तो तपाना ही पड़ता है। बिना बर्तन तपे, दूध तपता नहीं। अन्तरङ्ग तप की प्राप्ति के लिए बिना बहिरङ्ग तपे, अंतरङ्ग तपता नहीं है। जो बहिरङ्ग तप तपे बिनाप अंतरङ्ग तप कर रहे हैं, अहो ज्ञानियों! वे गाय के सींग से दूध की धारा निकाल रहे हैं।” (पृष्ठ १५)

वास्तव में आज इसी संतुलन की आवश्यकता है। हम देख रहे हैं कि कई साधक ऐसे हैं जो बर्तन को ही तपाने में लगे हैं, दूध उसमें रखते ही नहीं हैं और कई साधक बर्तन को तपाये बिना ही चाहते हैं कि बस दूध खौल जाये और करना क्या है? दोनों ही दृष्टियाँ अधूरी हैं। सच्चे मोक्षमार्ग के लिए इस संतुलन को तो कायम रखना ही होगा। अन्यथा सच मानिये, सबकुछ चलेगा मात्र धर्म को छोड़कर। प्रश्न होता है आखिर यह विपर्यास चल क्यों रहा है?

इसका एक ही उत्तर है आध्यात्मिक दृष्टि का अभाव। यह चिन्ता सर्वोदयी देशना में अभिव्यक्त हुई है -

“आज यथार्थ मानिये कि गृहस्थ से लेकर योगी तक को अध्यात्म की जरूरत है। अध्यात्म के चिन्तन के अभाव में सब संसार का विपर्यास चल रहा है।” (१/पृ. ७)

अध्यात्म की आवश्यकता गृहस्थ को भी है, योगी को तो वह अनिवार्य है। हम देह का बहाना बनाकर अध्यात्म की उपेक्षा नहीं कर सकते। शरीर को चलाना मजबूरी हो सकता है कि धर्म के लिए आत्मा के परिणामों की सम्हाल भी जरूरी है। देशनाकार के शब्दों में -

“शरीर को चलाने के लिए गृहस्थों को कुछ काम करना पड़ता है। कर लेना आप, लेकिन धर्म को चलाने के लिए परिणामों को संभालना पड़ता है, इतना ध्यान रखना।” (पृष्ठ १८)

अध्यात्म के क्षेत्र में साधक जो सबसे बड़ी भूल करता है वो है ‘साधन-साध्य’ का परस्पर विलय। वह साधन को ही साध्य समझने की भूल कर बैठता है इसलिए वहीं अटका रह जाता है, लक्ष्य को, अपने साध्य को प्राप्त नहीं कर पाता। यह उलझन देशनाकार ने सुलझाने की कोशिश की है-

“पिच्छी-कमण्डलु साधन है, साध्य नहीं है। ये पिच्छी कमण्डलु मोक्षमार्ग नहीं है। पिच्छी कमण्डलु के बिना भी मोक्षमार्ग नहीं है। पिच्छी कमण्डलु मोक्षमार्ग हो जाता है तो ज्ञानियों! हमारे सम्मेलनशिखरजी तीर्थक्षेत्र पर पानी के वर्तनों को ढोने वाले सभी सिद्ध बन गये होते और जितने मयूर हैं सभी मोक्ष चले गये होते। इन पंखों को लेने से मोक्ष नहीं होता, कमण्डलु होने से मोक्ष नहीं होता। पर, ज्ञानियों ध्यान रखना, रत्नत्रय की भावना से मोक्ष होता है। ये साधन है, साध्य नहीं है। साधन को साधन स्वीकारिये, साध्य को साध्य स्वीकारिये। साधन के अभाव में साध्य की सिद्धि नहीं होती है। लेकिन साधन को लेकर जो बैठ जायेगा तो वह साध्य को प्राप्त नहीं कर पायेगा।” (पृष्ठ १४-१५)

वास्तविकता यह है कि हम साध्य को समझ ही नहीं पाते हैं तब उसकी प्राप्ति कैसे करेंगे? जब साधन में ही फँसे हैं तो हम पर्याय को ही देखेंगे - द्रव्य दृष्टि से ओझल हो जायेगा। देशनाकार कहते हैं कि - “जो पर्याय दृष्टि में जीता

है, वो पर है। जो द्रव्यदृष्टि में जीता है, वह परा है। 'परा' उपसर्ग है। परा यानि उत्कृष्ट। 'द्रव्य दृष्टि महेश्वराः, पर्याय दृष्टि नरकेश्वराः।' (भूमिका, पृ. ६)

इसीलिए दृष्टि बदलने की देरी है, सृष्टि बदलना संभव नहीं। आचार्य श्री के वचन हैं - “ दृष्टि को निर्मल करो, वस्तु को निर्मल करने की आवश्यकता नहीं है। सुख कहीं नहीं, दुःख कहीं नहीं। दृष्टि को बदलने की चेष्टा करो।” (पृ. १२)

हम जानते हैं कि व्यवहार भेदपरक होता है और निश्चय अभेदपरक। आचार्य अमृतचन्द्र ने आत्म ख्याति टीका में ‘आत्माश्रितो निश्चयः, पराश्रितो व्यवहारः’ कहा है। अतः सच्ची भक्ति की निश्चय में ही सम्भव है। व्यवहार में जो भक्ति का स्वरूप है वह निश्चय के साथ ही सच्चा होता है क्यों भगवान् की भक्ति पराश्रय के लिए नहीं वरन् स्वाश्रय के लिए की जाती है। आचार्य श्री कहते हैं।

“भगवान की भक्ति करो, भगवान् की आराधना करो, भगवान पर आश्रित होने के लिए नहीं, स्वाश्रित होने के लिए भगवान् की आराधना करो। मुमुक्षु जीव पराश्रित कभी भी नहीं होता, भीख मांगते भी पराश्रित नहीं होता।” (पृ. ८) वे स्पष्ट घोषणा कर रहे हैं कि - “ व्यवहार दृष्टि से देखोगे तो झगड़ोगे” - (पृ. ८)।

अतः निश्चय की दृष्टि रखनी ही पड़ेगी। ज्ञानी तो अशुभोपयोग के साथ साथ शुभोपयोग को भी बन्धन ही जानता है। इसीलिए वह पहले अशुभोपयोग से हटता है और शुभोपयोग में आता है और फिर शुभोपयोग से भी परे शुद्धोपयोग में स्थित होने का प्रयास करता है। यहाँ वह शुभोपयोग को भी साधन ही मानता है साध्य नहीं। देशनाकार इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए कहते हैं -

“सम्यग्दृष्टि जीव शुभोपयोग के लिए शुभोपयोग नहीं करता। ज्ञानी! वह अज्ञानी होगा जो औषधि खाने के लिए औषधि खायेगा। औषधि कभी न खाना पड़ जाये, इसलिए कर्म के उदय में औषधि खाना पड़ती है। अशुभोपयोग से बचने के लिए सम्यग्दृष्टि शुभोपयोग की क्रिया करता है और शुद्धोपयोग में जाने के लिए करना पड़ता है। (पृष्ठ-२०)

और जब साधक शुद्धोपयोग में रमण करने का प्रयास करता है तब वह स्व-पर का भेद विज्ञान तो करता ही करता है। इसका चित्रण देशनाकार करते हैं-

“स्वयं ने, स्वयं को, स्वयं से, स्वयं के लिए, स्वयं में, जो जाना वह है स्वयं के लिए। पर ने, पर को, पर से, पर के लिए, पर में जो जाना, पर से भिन्न जाना, पर के ही लिए।” (भूमिका, पृ. ६)

निश्चय की सर्वोच्च दृष्टि के साथ साथ देशनाकार व्यवहारिक दृष्टि का भी पूरा ध्यान रखते हैं क्योंकि ये दोनों आवश्यक है। बन्धन की दृष्टि से यद्यपि पाप और पुण्य दोनों एक जैसे ही हैं किन्तु पुण्य के योगदान का भी कम महत्त्व नहीं है क्योंकि वह पाप से बचाता है। एक मार्मिक उद्घोष आचार्य श्री ने सर्वोदयी देशना की भूमिका में ही किया है -

“अहो ज्ञानियों! तुमने महान पुण्य किया था, जिसके कारण एक साथ जिनेन्द्र देव की वाणी सुन रहे हो। ऐसे छोटे काल में लोग टी. वी. खोले बैठे होंगे और छोटे काल में कोई झगड़ा कर रहा होगा, तो कोई पापी मदिरा पी रहा होगा, कोई गाली दे रहा होगा। भैया ! यह प्रबल पुण्य का योग है कि वाणी सबके पास है, पर जिस वाणी से जिनवाणी निकले वह अहोभाग्य है। ये पुण्य के नियोग हैं।” (भूमिका, पृ. ६)

इस कलिकाल में भी विशुद्ध जिनवाणी सुनने को जिनभक्तों की अपार भीड़ लगी हो तो यह सबसे बड़ा चमत्कार मैं मानता हूँ। हजारों की भीड़ हो और शांति ऐसी हो मानो कोई समवशरण लगा हो तो यह कोई चमत्कार से कम नहीं। इसकी चर्चा भी देशनाकार ने की है -

“पूरे पाण्डाल के भरे होने पर भी आवाज नहीं आती है। क्यों नहीं आती है? क्योंकि जो अन्दर की आवाज सुन रहा है तो बाहर आवाज क्यों करेगा?” (भूमिका, पृ. ६)

सच तो यह है कि सर्वोदयी देशना में अध्यात्म के साथ व्यवहार का भी समन्वय स्थापित किया गया है। आज अध्यात्म में सराबोर मनीषियों के खुदगर्ज पैमाने इतने विचित्र हो गये हैं कि स्वयं के जीवन में संयम का अभ्यास दूर, संयम धारण करने वाले योगियों के प्रति भी भक्तिभाव उनमें प्रकट नहीं होता है। ऐसे

भटक रहे जिनभक्तों, श्रावकों, मुमुक्षुओं को अत्यन्त वात्सल्य पर आचार्य प्रवर सम्बोधते हैं -

“नरक आयु का बंधक संयम धारण करना तो दूर, संयमी के हाथ पर ग्रास भी नहीं रख सकता है। वे अभागे जीव हैं। आज ही अपने अपने घर जाकर सोचना कि जीवन में किसी निर्ग्रन्थ योगी के हाथ में ग्रास रखा है कि नहीं? और रखने के भाव नहीं आते हैं, तो समझ लेना कि तेरी भवितव्यता बिगड़ चुकी है।” (श्लोक १, पृ. २)

सर्वोदयी देशना का वर्णनात्मक आध्यात्मिक वैशिष्ट्य तो है ही किन्तु उससे भी बड़ा वैशिष्ट्य उसके रचनाकार का है जो आज योगियों की तथाकथित सांसारिक दौड़ों से दूर रहकर माँ भगवती की आराधना कर रहा है और आत्मा की साधना कर रहा है अन्त में सर्वोदयी देशना की भूमिका से उन वाक्यों को उद्धृत कर मैं विराम लेता हूँ जिसमें देशनाकार की निस्पृहता स्पष्ट झलक रही है -

“महाराज श्री! अब तो आपकी भी कोई गिरि बनने वाली होगी? उत्तर-ज्ञानी! जो हमें ही गिरा देगी, वे गिरि कैसे होगी? जो ऊपर उठा देगी, वो, गिरनार होगी। इसलिए मेरे जीवन में यदि कोई गिरी है तो, मनीषियों! वह है - (गाथा) १८ हजार शील की सम्पत्ति जो अयोग केवली गुणस्थान में प्राप्त होती है। उससे बड़ी गिरि कोई नहीं होगी।”

संदर्भ :

१. सर्वोदयी देशना (पूज्यपाद विरचित इष्टोपदेश पर वाचना) - वाचनाकार - आचार्य विशुद्धसागर जी महाराज।

- स.आचार्य, जैनदर्शन विभाग,
श्री ला.ब.शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ,
नई दिल्ली-११००१६

पं. जुगलकिशोर 'मुख्तार' के स्मृति दिवस (२२ दिसम्बर) पर विशेष लेख -

मेरी भावना : जीवन का शिलालेख

सिद्धार्थ कुमार जैन, एम. म्यूज.

आचार्य जुगलकिशोर 'मुख्तार' साहब द्वारा १९१६ में रचित 'मेरी भावना' - भावनाओं का एक ज्योति कलश है। भावों की स्थिति को समझ कर ही स्वयं को समझा जा सकता है। जब हम अच्छे व प्रशस्त भावों के साथ होते हैं, तो शुभोपयोग होता है, इसके विपरीत कुशील भावों के साथ अशुभोपयोग होता है। भावों का मनोविज्ञान बड़ा अद्भुत होता है। ग्यारह पदों के इस लघुकाव्य काव्य में सम्पूर्ण जीवन-दर्शन बनाम जैनदर्शन समाहित हो गया है। 'बिन्दु में समुन्द' जैसी कहावत चरितार्थ करता हुआ यह जीवन का जीवन्त काव्य है।

मेरी भावना, आज एक राष्ट्रीय-प्रार्थना के रूप में २ अक्टूबर गांधी जयन्ती पर राजघाट (समाधि स्थल) पर अन्य धर्मों की प्रार्थना के साथ, जैनधर्म का प्रतिनिधित्व करती है। प्रायः शैक्षणिक संस्थाओं में प्रार्थना के रूप में इसका गायन किया जाता है क्योंकि इसमें समाहित जीवन-मूल्य, जाति, सम्प्रदाय और पंथ विशेष से ऊपर उठकर मानव-कल्याण की प्रशस्त-राह का सार्थक मंत्र बन गया है। बैरिस्टर चम्पतराय जैन ने "Confluence of Opposites" में "मेरी भावना" के सम्बन्ध में लिखा - *"Praying to life for its Divine Gifts of Love and Mercy and Vairagya, and in wishing Peace and Happiness to all Living beings, including every manifestation of life-divine, howsoever lowly placed in order of being today"*

मेरी भावना के प्रथम पद पर यदि विचार करें तो भक्ति समर्पण रूप की वन्दना किसी नामजद भगवान की नहीं की गई है अपितु जिस परमात्मा में वीतरागता, सर्वज्ञता और हितोपदेशता का गुण पाया जावे, कवि का मानस उसी

की वन्दना की राह दिखाने वाले अर्हन्तदेव भगवान् महावीर की वंदना करते हुए भक्ति को दर्शाता है। वेदों में भी भक्तिमार्ग को द्वैत और योग मार्ग को अद्वैत कहा है। भक्ति मार्ग पर चलकर परमात्मा को पाया जा सकता है, जबकि योग-मार्ग पर चलकर परमात्मा बना जा सकता है।

द्वितीय पद - साधु परमेष्ठी के गुणों की स्तुति रूप है, जो समता धन के धनी होते हैं तथा पंचेन्द्रिय विषयों से रहित होते हैं।

मेरी भावना के तीसरे पद में श्रमण साधुओं का सत्संग एवं उन जैसे बनने का ध्यान करते हुए उनके आचरण का अनुगमन तथा श्रावक के पंचाणुव्रतों के पालन की प्रेरणा एवं अनुशीलन है। अंग्रेजी में दो शब्द हैं 1. Medicine 2. Meditation. जहां शारीरिक स्वास्थ्य के लिए मेडीसिन आवश्यक है वहीं आत्मा को स्वस्थ रखने के लिए मेडीटेशन नितांत आवश्यक है। ध्यान, हमारी मानसिक बीमारियों का उपचार है। मेडीसिन खरीद सकते हैं लेकिन मेडीटेशन कोई क्रय-विक्रय या विनिमय की वस्तु नहीं है। ध्यान तो एकाग्र और शांत चित्त होकर भीतर बैठकर अपने को खोकर ही पाया जा सकता है। दूसरी महत्वपूर्ण बात है कि बिना व्रतों के अनुशीलन के समता स्वरूप साधु-पद के लिए ग्राह्यता नहीं हो सकती। श्रावक हो या साधु दोनों को व्रतों की अनिवार्यता का- क्रमशः अणुव्रत और महाव्रत रूप पालने का आध्यात्मिक विधान है।

मेरी भावना का चौथा पद कषायों से रहित होने का जीवन-संदेश है। कषायों से निर्मुक्त हुए बिना श्रमणत्व नहीं पाया जा सकता।

अहं ग्रन्थि को काटे मन की, सच्चा नमन वही होता है।

लोभ कर्ष का बीज दफन दें, सच्चा कथन वही होता है॥

कोटि कोटि आँखों के आँसू जिसके दो नयनों में छलके,

माया रहित मनस्वी दर्पण, सच्चा श्रमण वही होता है।

याद रखें-

अहंकारी को क्रोध जल्दी आता है।

मायावी अधिक ईर्ष्यालु होता है।

लोभी - उपकारी नहीं बन सकता।

अतः विनम्र, सहिष्णु, सरल और उपकारी बनने के लिए अन्तःकरण से कषायों का ज्वर शान्त होना आवश्यक है। कषायों के कारण ही पुनर्भव रूप संसार है क्योंकि पाप की जड़ कषाय है।

काले चार कषाय असंयत, क्रोध लोभ माया अभिमान।
पुनर्जन्म तरु के सिंचन को, ये हैं कुत्सित नीर समान।

कषाय का अर्थ है छोटे पाप कर्मों का बंध जाना। इस पद की अंतिम पंक्ति 'उपकार' भावना से भावित है। उपकार या सेवा आत्मा तथा शरीर दोनों को सुख देती है। एक कवि ने उपकार की इन्सानियत का तकाजा माना है।

किसी के काम जो आये, उसे इंसान कहते हैं।
पराया दर्द अपनाये उसे इंसान कहते हैं।
यों तो भरने को तो दुनियाँ में पशु भी पेट भरते हैं,
अधिक जो बांटकर खाये, उसे इन्सान कहते हैं।

यदि व्यक्ति अपने स्वार्थ से ऊपर उठकर परमार्थ की ओर झुक जाये, तो उसका स्व-कल्याण स्वयमेव हो जाता है। उसकी परोपकार की भावना ही उसे फलदायी सिद्ध हो जाती है।

मेरी भावना का पाँचवा पद भाव-विज्ञान का विलक्षण पद है। जैनदर्शन में सामायिक में बैठा श्रावक या श्रमण चार प्रकार के भावों की भावना भाता है। आचार्य अमितागति ने सामायिक पाठ में इन चारों प्रकार की भावनाओं का उल्लेख करते हुए साधक को इनसे युक्त होना बताया है -

‘सत्त्वेषु मैत्रीं गुणिषु प्रमोदं, क्लिष्टेषु जीवेषु कृपा परत्वं।
माध्यस्थ भावं विपरीत वृत्तौ, सदा ममात्मा विद्धातु देव॥

- (१) समस्त जीवों के प्रति मैत्री भाव।
- (२) गुणज्ञों के प्रति वात्सल्य व प्रमोद भाव।
- (३) दीन व दुःखी जीवों पर करुणा भाव एवं
- (४) बुरे व्यक्ति/कुमार्गी जनों के प्रति उदासीन/माध्यस्थ या समता भाव।

लगता है पं. जुगलकिशोर मुख्तार सा. ने इसी श्लोक का सरलीकरण करते हुए हिन्दी काव्य में ढाल दिया है। एक विशिष्ट बात यह है कि दुष्टजनों के प्रति प्रतिशोध भाव या बुरे भाव का समर्थन जैनदर्शन में नहीं है क्योंकि इससे

दूसरे का अहित हो या न हो, स्वयं की आत्मा का अहित तो होता है। भावनाओं का वैशिष्ट्य, जैनदर्शन की रीढ़ है। जो कुछ भी घटित होता है/ हो रहा है, उसके मूल में भावों की प्रेरक शक्ति है।

अन्य शास्त्रों के सन्दर्भ इसकी पुष्टि करते हैं। जैसे योगशास्त्र -४/११ (आ. हेमचन्द्र) ने इन चारों भावनाओं को ध्यान का रसायन को पुष्ट करते का हेतु कहा है :-

मैत्री प्रमोद कारुण्य माध्यस्थानि नियोजयेत्।
धर्मध्यानमुपस्कृतं तद्धितस्य रसायनम्॥

प्रायश्चित पाठ में श्रमण के लिए इस भावना के अनुपालन पर जोर दिया है:- “मित्री मे सव्वभूएसु बैरं मज्झं न केणइ”। मैत्री भाव का विस्तार वेदों में जगह-जगह परिलक्षित है।

मित्रस्य मा चक्षुषा - यजुर्वेद- ३३/१८
अथवा - सर्वे भवन्तु सुखिनः सर्वे सन्तु निरामयाः।

आचार्य शुभचन्द्र ने भी ज्ञानार्णव में कहा -

जीवन्तु जन्तवः सर्वे, क्लेश व्यसन वर्जिताः।
प्राप्नुवेति सुखं त्यक्त्वा वैरं पापं पराभवम्॥२७/७

अर्थात् संसार के समस्त प्राणी दुःख व कष्ट से दूर रहकर सुखपूर्वक जिएँ और परस्पर वैर, पाप या पराभव न करें। राजवार्तिककार ने लिखा है - दीनानुग्रह भावः कारुण्यम्।

अर्थात् दीनों पर दयाभाव रखना करुणा है। भ. नेमिनाथ के विवाह के समय, भोज के लिए बांधे गये पशुओं की करुण-चीत्कार सुनकर उन्हें जो संसार से वैराग्य भाव हुआ था, वह करुणाभाव का उत्कर्ष ही था। माध्यस्थ भाव के सम्बन्ध में कबीर कहते हैं - “निंदक नियरे राखिये, आंगन कुटी छुआए।”

मेरी भावना के छटवें पद में कवि ने गुणवानों के प्रति वात्सल्य या प्रमोद भाव रखने की भावना को रेखांकित किया है। वस्तुतः वात्सल्य या स्नेहभाव अहिंसा का सकारात्मक रूप है। प्रमोद-गुण को ऐहिक और आध्यात्मिक दो रूपों में व्याख्यापित किया जा सकता है। ऐहिक- यानी सांसारिक विद्या-कलाओं

में निपुणता को लिया जाये तो ज्यादा संगत है, जैसे संगीत-गुण, वैज्ञानिक, कलाकार आदि जो अपने गुणों के कारण आदर व सम्मान पाते हैं। आध्यात्मिक गुण में श्रेष्ठ अर्हन्तदेव हैं जिनके गुणों की वन्दना आचार्य उमास्वामी देव ने की है -

मोक्ष मार्गस्य नेतारंभेत्तारं कर्म भूभृताम्।

गुणी जनों की संगति से मनुष्य महान बन जाता है और खोटी संगति से वही पतित हो जाता है।

मेरी भावना का सातवां पद न्याय/नीति पर चलने की प्रेरणा देता है। व्यक्ति मुख्यतः छह बातों के कारण न्याय मार्ग से विचलित हो जाता है।

१. प्रशंसा पाने से
२. अपवाद के डर से
३. धन के आने या नष्ट होने के भय से
४. मृत्यु-भय से
५. दैविक, प्राकृतिक, तिर्यञ्च या मनुष्यकृत उपसर्ग से या अन्य भय
६. लोभ-लालच से।

कवि की दृष्टि में न्यायनीति और धर्म, जीवन का परम श्रेयस है।

अन्य भय में, सप्त भयों का निदर्शन भी किया जा सकता है, जो निम्नानुसार है।

(१) इहलोक भय (२) परलोक भय (३) मरण भय (४) वेदना भय (५) अनरक्षा भय (६) अगुप्ति भय एवं (७) अकस्मात् भय (इसमें उपसर्गों को लिया जा सकता है)।

मेरी भावना का आठवाँ पद यह इंगित करता है कि हमारी जीवन शैली, सम्यग्दृष्टि की जीवन शैली की भांति होनी चाहिए। अर्थात् जैसे सम्यग्दृष्टि-विवेकपूर्ण और संयम सहित जीवन यापन करता है तथा किसी भी प्रकार के भय से रहित और अकम्प रहता हुआ इष्ट वियोग में एवं अनिष्ट के संयोग में सहिष्णु बना रहता है। वह सुख और दुःख में समताभावी बना रहता है। वह विचारता है कि सुख और दुःख मन के खेल हैं। पं. दौलतराम जी छहढाला में एक जगह लिखते हैं-

पुण्य पाप फल माहिं हरख बिलखौ मत भाई,
यह पुद्गल पर्याय उपज बिनसै फिर थाई।

पुण्योदय में हर्ष मत करो और पापोदय में दुःख में रुदन मत करो। सम्यक्दृष्टि सुख में इतराता नहीं और दुःख में घबराता नहीं। ऐसी सधी हुई जिन्दगी जीने का भाव इस पद में है।

इसी प्रकार नौवें पद में कवि अपनी सार्वभौमिक सत्ता को मंगलमय व धर्ममय देखना चाहता है। सम्पूर्ण सृष्टि के प्रति सुख-कामना से उपजी भाव-दशा ही इस काव्य का केन्द्रभाव है। सुख-समृद्धि कब हो सकती है? “जब पाप-कृत्य/हिंसा व क्रूरता के कृत्य, पराभव हों और परस्पर शुभता का अभिशाप समाप्त हो तभी मंगलकामना और सुख का सुर उद्भूत हो सकता है। एक प्रश्न अवश्य यह पद छोड़ कर जा रहा है कि मनुज जन्म का फल क्या है? मेरा विश्वास है कि जब ज्ञान व विवेक का परचम चारित्र के रथ पर चढ़कर घर घर धर्म की शंखध्वनि करे, तभी मनुज-जन्म की सार्थकता है।

१०वें पद में ‘सुखी-राष्ट्र’ का संकल्प दुहराया गया है। राष्ट्र-सुख-समृद्धि कब हो सकता है? जब १. राष्ट्र का किसान (कृषि) समृद्ध हो।

२. राजनीति (राजा) धर्मनिष्ठ हो।

३. प्रजा- अहिंसक व ईमानदार हो।

राष्ट्र सुखी होने का यह सूत्र पंडित जुगलकिशोर जी ‘मुख्तार’ साहब ने एक काव्य में समाहित कर दिया। यदि हमारी राजनीति या राजनेता भ्रष्ट होंगे, न्याय-नीति का पालन नहीं करेंगे तो देश का उत्थान व विकास कोसों दूर रहेगा। सुखी-राष्ट्र का पहला व महत्वपूर्ण सूत्र है - धर्मनिष्ठ राजनीति। आज राजनीति अपनी पार्टी का हित और वोट की राजनीति पर केन्द्रित हो गयी है। भ्रष्टाचार - शिष्टाचार बन गया है। राजनेता की देखादेखी शासकीय अधिकारी और कर्मचारी भी भ्रष्टाचार में संलिप्त देखे जा रहे हैं। भ्रष्टाचार समाज का कोढ़ और कैंसर बन गया है। ऐसे माहौल में राष्ट्रीय-नैतिकता एक हाँसिये पर लटकर रह गयी है।

कृषि-समृद्धि होगी तो देश का आर्थिक विकास समुन्नत होगा। व्यापार फलेगा-फूलेगा और प्रजातंत्र की मुस्कान बिखरेगी। किसान- भारतदेश की आत्मा है। क्योंकि भारत कृषि प्रधान देश है। कृषि का दारोमदार बहुत कुछ वर्षा पर

निर्भर है। समय पर बारिस होने से पैदावार अच्छी होगी और किसान खुशहाल बनेगा।

तीसरी बात- सामाजिक ढाँचे की है। समाज की इकाई व्यक्ति है, समाज धर्मनिष्ठ और ईमानदार हो। जब व्यक्ति - अहिंसक और ईमानदार होगा, तभी सामाजिक शोषण रुकेगा। अतिवृष्टि और अनावृष्टि दोनों से अकाल की स्थिति की संभावना बढ़ जाती है। अस्तु यह भावना भायी गयी है कि ऐसी प्राकृतिक आपदा न हो।

‘मेरी भावना’ का अंतिम ग्यारहवाँ पद प्रेम व वात्सल्य का सौरभदिक्दिगन्त में सर्वव्यापी हो इसके लिए संकल्पित है। जहाँ वासनात्मक प्रेम क्षुद्र व संकीर्ण होता है मोह व स्वार्थ पर आधारित होता है, वहीं निःस्वार्थ प्रेम पवित्र एवं समिष्टि को जोड़ने वाला होता है।

अपने युग का प्रतिनिधित्व करने वाले प्राच्य विद्या के गहन अध्येता आचार्य पं. जुगलकिशोर ‘मुख्तार’ “युगवीर” उपनाम से विश्रुत, जिनके कवि हृदय ने ऐसी अमर रचना का सृजन किया जो आदर्श जीवन एवं राष्ट्रीय चरित्र का शिलालेख साबित हुआ है। “मेरी भावना” सभी धर्म ग्रन्थ के प्रथम पृष्ठ पर लिखा जाने वाला मंगलाचरण है। यह ऐसी प्रार्थना बन गयी है जो सांप्रदायिक सहिष्णुता का पैगाम है। ‘मेरी भावना’ में व्यक्ति की भावना को परमात्मा से जोड़ने का एक सार्थक उपक्रम है। मनुष्यता के वक्ष पर लिखा गया एक मंगलगान, जो जीवन को सदाचरण के प्रशस्त राह चलने के लिए आह्वान करता है।

नोट : १५ वर्ष पूर्व १९९८ में मैंने ‘मेरी भावना’ को प. पूज्यमुनि श्री क्षमासागर जी महाराज की प्रेरणा व आशीर्वाद से ५ रागों में, संगीतमय निबद्ध करके एक सी.डी. का निर्माण करवाया था तभी से ‘मेरी भावना’ का हार्द मेरे अन्तःकरण में समाया हुआ था। आज इसे निबन्धरूप में साकार कर अपनी भावना का एक भावनात्मक - अर्ध्य दे रहा हूँ। - लेखक

जैनदर्शन में जीवन प्रबन्धन तत्त्व

प्रो. सागरमल जैन

जीवन प्रबन्धन दो शब्दों का एक सांयोगिक शब्द है। प्रबन्धन शब्द का सामान्य अर्थ सही ढंग से व्यवस्था करना है। प्राचीन जैन दर्शन में प्रबन्धन के लिए तंत्र शब्द का भी प्रयोग होता है। वस्तुतः जीवन-तंत्र को सम्यक् रूप से समझे बिना, जीवन का सम्यक् प्रबन्धन सम्भव नहीं है। मानव जीवन एक आध्यात्मिक एवं मनोदैहिक संरचना है। हमारे जीवन के तीन पक्ष हैं - आत्मा, मन और शरीर। प्रबन्धन शब्द- तंत्र की अपेक्षा भी एक व्यापक अर्थ रखता है, उसमें यथार्थ और आदर्श दोनों ही निहित हैं। जीवन व्यवस्था कैसी है, और उसे कैसा होना चाहिए- ये दोनों ही बातें प्रबन्धन शब्द में निहित हैं। वह यथार्थ और आदर्श का एक सम्मिश्रण है। जीवन क्या है और जीवन को कैसे जीना चाहिए? ये दोनों ही बातें जीवन प्रबन्धन में हैं। जब इसे हम जैन आचार्यों की दृष्टि से देखते हैं, तो वह जैन जीवन-प्रबन्धन की विधि बन जाती है। जीवन का प्रबन्धन वस्तुतः बहुकोणीय होता है, क्योंकि जीवन स्वयं बहुआयामी है। जीवन को जीने के जो विविध आयाम हैं, उनके आधार जीवन-प्रबन्धन की हम विविध भागों में विभाजित कर सकते हैं।

वस्तुतः बाल्यकाल से ही जीवन प्रबन्धन का प्रयास प्रारंभ हो जाता है। बालक जब युवावस्था की ओर बढ़ने लगता है, तो उसे शिक्षित करने का प्रयास किया जाता है। बालक की शिक्षा कैसी हो और उसे किस प्रकार दी जाए यह जीवन प्रबन्धन का प्राथमिक तत्त्व है। जैन दर्शन की मान्यता है कि हमें जो जीवन मिला है, वह मात्र जीवन-जीने के लिए नहीं मिला है, अपितु किसी लक्ष्य या आदर्श की पूर्ति के लिए मिला है। जीवन तो पेड़-पौधे और अन्य प्राणी भी जीते हैं, लेकिन उनका जीवन लक्ष्य विहीन होता है। जीवन में लक्ष्य का निर्धारण

कर उसे पाने का प्रयत्न ही सम्यक् जीवन शैली का परिचायक हो सकता है। जीवन क्या है, कैसे उसे जिया जाना है, यह बताना ही शिक्षा का मुख्य प्रयोजन है। अतः शिक्षा विधि ऐसी होनी चाहिए, जो जीवन के यथार्थ और आदर्श का समन्वय करते हुए व्यक्ति को उसके जीवन लक्ष्य की प्राप्ति आगे बढ़ने में सहायक हो सके।

जीवन का एक लक्ष्य दुःखों से मुक्ति है, किन्तु दुःख विविध प्रकार के हैं, वे देहिक भी हैं और मानसिक भी हैं। देहिक दुःखों का निराकरण सम्यक् ढंग से जीवन जीने के द्वारा संभव हो सकता है, किन्तु मानसिक दुःखों से मुक्ति के लिए एक सम्यक् शिक्षण पद्धति आवश्यक होती है। शिक्षा का लक्ष्य मात्र जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति तक सीमित नहीं है, यह सही है कि जीवन जीने के लिए जैविक आवश्यकताओं की पूर्ति करना होती है। जैन दर्शन की मान्यता है कि आहार, निद्रा, भय और मैथुन की प्रवृत्ति सामान्य रूप से सभी प्राणियों में पाई जाती है, किन्तु मनुष्य मात्र वासनाओं का पिण्ड नहीं है, उसमें विवेक का तत्त्व भी है। अतः वह यह विचार कर सकता है कि उसे क्या खाना है, कब खाना है और कैसे खाना है? जो उसके शरीर, स्वास्थ्य और मनोभाव का सम्यक् बनाए रख सकें। यह सत्य है कि जीवन में आहार आवश्यक है, किन्तु आहार कैसा हो, कब खाया जाए और कितनी मात्रा में खाया जाए, यह सब निर्णय तो मनुष्य को करना होता है। इसी प्रकार जीवन की अन्य आवश्यकताएँ जैसे निद्रा, भय की स्थिति में सुरक्षा के प्रयत्न, कामवासना की संतुष्टि आदि भी जीवन-जीने की विधा से अनिवार्य रूप से जुड़े हैं, फिर भी उनकी एक विवेकशील पद्धति हो सकती है। उसे ही हम जीवन-प्रबन्धन के नाम से जाना जाता है। प्रबन्धन मात्र एक व्यवस्था नहीं है, अपितु वह आदर्शोन्मुख एक जीवन शैली है। इन आदर्शों का बोध शिक्षा के माध्यम से ही सम्भव है। अतः सम्यक् जीवन-प्रबन्धन के लिए सम्यक् शिक्षा व्यवस्था का होना आवश्यक है। शिक्षा मात्र यथार्थ की जानकारी नहीं है, अपितु वह यह भी बताती है कि जीवन का आदर्श क्या है, और उसे कैसे जिया जाता है।

प्राणीय जीवन का प्रारंभ भी काल विशेष में होता है, और उसका अन्त भी किसी काल विशेष में होता है। जिन्हें हम जन्म और मृत्यु के नाम से जानते

हैं। प्रबन्धन की दृष्टि से न तो जन्म हमारे हाथ में है और न मृत्यु ही हमारे हाथ में है। किसी उर्दू शायर ने ठीक ही कहा है-

लाइ हयात आ गये, कजा ले चली चले-चले।

न अपनी सुशी आए, न अपनी सुशी गये॥

जन्म और मृत्यु हमारे हाथ में नहीं है, वे कब और किस निमित्त से कहाँ हो और कैसे हो? इसकी कोई व्यवस्था भी सम्भव नहीं है। फिर भी जन्म और मृत्यु के दो छोरों के बीच जीवनधारा सम्यक् रूप से बहती रहती है। यह जीवन धारा का बहना ही मनुष्य के अधिकार क्षेत्र में है कि वह जीवन को कैसे जीता है। इस जीवनधारा का सम्यक् नियोजन ही जीवन प्रबन्धन का एक महत्वपूर्ण पक्ष है जो समय प्रबन्धन के माध्यम से ही संभव हो सकता है।

यह सही है कि न तो भूतकाल हमारे अधिकार क्षेत्र में होता है और न भविष्य ही। जीवन तो हमेशा वर्तमान में ही जिया जाता है। इसलिए भारतीय चिंतकों की यह मान्यता रही है कि समय का प्रबन्धन केवल और केवल मात्र वर्तमान में ही संभव है। सदैव वर्तमान के क्रिया-कलापों को सार्थक बनाने का प्रयत्न ही सम्यक् जीवन-प्रबन्धन कहा जा सकता है। भूत गुजर चुका है वह अब हमारे हाथ में नहीं है, भविष्य कैसा होगा? यह भी पूर्णतया हमारे अधिकार क्षेत्र में नहीं है। भूतकाल का रोना रोना और भविष्य के सुनहले सपने संजोना यह मनुष्य के लिए उचित नहीं है। उसका सारा प्रयत्न और पुरुषार्थ इसी में है कि उसे जो अवसर उपलब्ध हुआ है उसका सम्यक् ढंग से उपयोग करे, यही समय-प्रबन्धन है।

मनुष्य जो भी करता है, वह सब उसके मन, वाणी और शरीर के माध्यम से ही संभव होता है। हमारा समग्र आचार और व्यवहार शरीर के माध्यम से ही संभव होता है। अतः शरीर को सुनियोजित ढंग से सही दिशा में नियोजित करना ही शरीर प्रबन्धन है। इसमें दो तत्त्व प्रमुख होते हैं, एक स्वास्थ्य और दूसरा शारीरिक अंगों का संरक्षण। इन्हें हम पोषण और सुरक्षा के प्रयत्न कह सकते हैं। शरीर का पोषण आवश्यक है, क्योंकि यदि शरीर और उसके अंगों का सम्यक् ढंग से पोषण नहीं होगा, तो शरीर अस्वस्थ हो जाएगा और अस्वस्थ शरीर के

माध्यम से जीवन को जिस प्रकार जिया जाना चाहिए हम नहीं जी पायेंगे। इसके लिए हमें पूरी तरह से स्वास्थ्य-विज्ञान और आहार-विज्ञान के नियमों को समझकर, उनका पालन करना होगा। वे सारे तत्त्व जो शारीरिक रूग्णता और मानसिक तनाव को जन्म देते हैं, उनका वर्जन करना होगा। हमें सम्यक् आहार के माध्यम से शरीर का पोषण करना होगा, तब ही हम शरीर को स्वस्थ रख पायेंगे। शरीर के सम्बन्ध में दूसरी महत्वपूर्ण बात यह है कि हमारी जीवनयापन शैली ऐसी हो जिसमें शरीर की सुरक्षा की भी सम्यक् व्यवस्था भी हो। अति साहस और अति भोग दोनों ही शारीरिक सुरक्षा में बाधक होते हैं। वासना के अधीन भोग और शरीर की क्षमता का ध्यान नहीं रखते हुए कार्य करना दोनों ही शरीर प्रबन्धन में बाधक होते हैं। शरीर जीवन-जीने का एक सम्यक् साधन है, उसका उपयोग भी सम्यक् तरीके से होना चाहिए। शरीर प्रबन्धन हमें यही सिखाता है। यहाँ भी वासना और विवेक का सम्यक् समायोजन आवश्यक होता है। अतः व्यक्ति को यह सीखना भी आवश्यक होता है कि वह अपने शरीर और शारीरिक शक्तियों का विनियोग सम्यक् प्रकार से करे।

मनुष्य एक मनोदैहिक रचना है, अतः उसे दैहिक और मानसिक दोनों आधारों पर सम्यक् रूप से जीवन जीना होगा। जीवन-प्रबन्धन का उद्देश्य यह भी कि वह न केवल स्वस्थ शरीर के माध्यम से जी सके, अपितु स्वस्थ मन से भी जी सके। आज जो वैश्विक समस्याएँ हैं, उसमें मानसिक तनाव एक प्रमुख कारण है, क्योंकि सम्यक् जीवन के लिए स्वस्थ मानसिकता आवश्यक है। यदि व्यक्ति मानसिक विकारों और तद्जन्य तनावों का सम्यक् प्रबन्धन करने में सफल नहीं होता, तो वह अपने जीवन को सही ढंग से नहीं जी पाता है। मानसिक विकार और उनसे उत्पन्न होने वाले तनाव क्यों, कब और कैसी परिस्थिति में उत्पन्न होते हैं, यह समझना भी आवश्यक है और उनसे मुक्त रहना भी आवश्यक है। यह सत्य है कि तनाव के कारण आंतरिक और बाह्य दोनों हो सकते हैं, फिर भी तनाव न केवल एक मनोदैहिक संरचना है, अपितु वह एक मानसिक सत्य भी है। तनावों से मुक्त होकर समता और शांति पूर्ण जीवन कैसे जिया जाए यह भी जीवन प्रबन्धन के माध्यम से ही जाना जा सकता

है। अतः जीवन में मानसिक प्रबन्धन भी जीवन प्रबन्धन का एक महत्वपूर्ण आधार है।

ऊपर हमने जीवन प्रबन्धन के जो उपाय बताये उन सब का सम्बन्ध मूलतः व्यक्ति के वैयक्तिक जीवन से है, किन्तु कुछ समाजगत तथ्य भी हैं, जो हमारे जीवन प्रबन्धन में साधक या बाधक होते हैं। इनमें वाणी प्रबन्धन, पर्यावरण प्रबन्धन, अर्थ प्रबन्धन, समाज और धार्मिक व्यवहार प्रबन्धन प्रमुख हैं। यह सत्य है कि ये तथ्य हमारे परिवेश से जुड़े हुए हैं, और समाज के अन्य घटकों से हमारे सम्बन्ध को बनाते हैं।

संसार में जितने भी प्राणी हैं, उन सब में मनुष्य की यह विशेषता है कि उसे अपनी अभिव्यक्ति के लिए भाषा या वाणी भी मिली हुई है। वाणी का सम्यक् नियोजन न होने पर भी जीवन में अनेक विसंगतियाँ आ जाती हैं। वाणी एक ऐसा माध्यम है, जिसके द्वारा व्यक्ति अपने भावों की अभिव्यक्ति करता है। किन्तु यह अभिव्यक्ति कहाँ, कब और कैसे हो, इसका सम्यक् रूप से ध्यान रखना आवश्यक होता है। जहाँ अपनी वाणी के माध्यम से हम अपने जीवन में समाज में मधुर संबन्धों का स्थापन कर सकते हैं, वही वाणी ही एक ऐसा माध्यम है, जो हमारे जीवन को स्वर्ग या नरक बना सकती है। व्यक्ति के जीवन में अभिव्यक्ति आवश्यक होती है। यह अभिव्यक्ति हम शरीर और वाणी के माध्यम से ही प्रस्तुत करते हैं, किन्तु कहाँ, कब और किन परिस्थितियों में किस प्रकार से अभिव्यक्ति करना, यह बोध होना आवश्यक है, एक गलत अभिव्यक्ति जहाँ व्यक्ति और समाज में भी विसंवाद उत्पन्न कर देती है, वहीं एक सम्यक् अभिव्यक्ति जीवन में सुसंवाद उत्पन्न कर जीवन को सरस बना देती है। व्यक्ति का परिवार और समाज से जुड़ना और टूटना दोनों ही उसकी अभिव्यक्ति पर निर्भर करते हैं। अतः जीवन वाणी का अथवा अभिव्यक्ति का सम्यक् प्रस्तुतीकरण कैसे हो, इसका प्रशिक्षण भी आवश्यक है। जीवन प्रबन्धन के अन्तर्गत हमें यह जानना होगा कि वाणी का प्रयोग अपनी दैहिक अभिव्यक्तियों का प्रयोग हम कैसे, कब, कहाँ करें ताकि जीवन में समरसता बनी रहे। यहाँ विशेष रूप से समझने योग्य तथ्य यह है कि अभिव्यक्ति के सम्यक् प्रस्तुतीकरण

के माध्यम से ही व्यक्ति जीवन में सुसंवाद और समरसता को प्राप्त कर सकता है। वाणी और अभिव्यक्ति के दुरुपयोग के क्या परिणाम होते हैं इसे हम महाभारत से सम्यक् प्रकार से जान सकते हैं। अतः जीवन प्रबन्धन में वाणी का सम्यक् प्रबन्धन भी आवश्यक है।

आज मनुष्य के लिए पर्यावरण प्रबन्धन की भी एक महती आवश्यकता है, क्योंकि प्रदूषित पर्यावरण से न केवल मनुष्य जीवन को खतरा है, अपितु उसके साथ सम्पूर्ण प्राणीय सृष्टि का प्रश्न भी जुड़ा हुआ है। यदि जल और वायु प्रदूषित हो जाते हैं तो सम्पूर्ण प्राणीय जीवन ही समाप्त हो जावेगा। न केवल इतना ही, अपितु वनस्पति जगत् ही समाप्त हो जावेगा और वनस्पति जगत के अभाव में प्राणीय जगत भी जीवित नहीं रहेगा और प्राणी जगत के अभाव में जगत की जड़ वस्तुएँ चाहे रहे उनके उपयोगकर्ता के अभाव में उनका कोई मूल्य ही नहीं रह जावेगा। इस प्रकार पर्यावरण प्रबन्धन का तत्त्व भी जीवन प्रबन्धन के साथ जुड़ा हुआ है।

चाहे जीवन-प्रबन्धन शब्द आधुनिक लगता हो, किन्तु वह तो एक सम्यक् जीवनशैली का विकास है। वह हमें यही सिखाता है वैयक्तिक और सामाजिक जीवन कैसे जीना चाहिए? वह हमारे यथार्थ जीवन को एक आदर्श जीवन बनाने की एक कला है।

वस्तुतः व्यक्ति एकाकी प्राणी नहीं है। मनुष्य की एक परिभाषा उसे सामाजिक प्राणी के रूप में भी देखती है (Man is a social animal)। यदि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है तो उसे समाज में कैसे जीवन जीना है? यह भी जानना होगा। साथ ही उसे समाज में पारस्परिक व्यवहार का सम्यक् तरीका भी सीखना होगा। इसे ही जैन दर्शन में सम्यक् चरित्र के रूप में जाना जाता है। समाज एक वृहद् इकाई है, यद्यपि उस इकाई के केन्द्र में मनुष्य है, किन्तु दूसरी ओर एक सभ्य मनुष्य समाज की ही देन है। उसने पारस्परिक व्यवहार का ढंग या दूसरे शब्दों में समाज में जीवन जीने का ढंग समाज से सीखा है। व्यक्ति और समाज एक दूसरे पर आधारित है, वे परस्पर सापेक्ष हैं। व्यक्ति के बिना समाज और समाज के बिना व्यक्ति का कोई अर्थ नहीं है। सामाजिक जीवन शैली मानव

समाज की एक विशेषता है। यहाँ यह ज्ञातव्य है कि समाज मात्र व्यक्तियों का समूह या भीड़ नहीं है, उसका अपना एक तंत्र या व्यवस्था है। यह सामाजिक व्यवस्था भी जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति का एक साधन मात्र है। स्वहित-साधन या स्वार्थ-पूर्ति यह सभ्य समाज में मनुष्य का जीवन का लक्ष्य नहीं है। समाज स्वार्थ या स्वहित-साधन के मूल्य पर खड़ा नहीं होता है, उसका आधार त्याग और समर्पण के मूल्य है। स्वार्थी व्यक्तियों का समूह समाज नहीं होता है, दूसरे शब्दों में चोरों, डाकुओं या लुटेरों का समूह समाज नहीं होता है। समाज के निर्माण हेतु स्वहित का त्याग या स्वार्थ का त्याग आवश्यक है। उसका आधार सहयोग एवं मैत्री की भावना हैं। ये आदर्श जीवन मूल्य भी आज हमें शिक्षा के माध्यम से प्राप्त होते हैं, किन्तु यह शिक्षा किसी स्कूल एवं कॉलेज में नहीं होती, अपितु घर-परिवार और समाज में ही होती है। स्वस्थ मनुष्य एवं स्वस्थ समाज के लिए इन जीवन मूल्यों का प्रशिक्षण आवश्यक है किन्तु इसकी प्राथमिक पाठशाला- घर-परिवार, समाज और धर्म है। सद् संस्कारों का यापन जीवन प्रबन्धन की शिक्षा द्वारा ही सम्भव है। वस्तुतः समाज प्रबन्धन समाज का प्रबन्धन नहीं है, वह अपनी जीवन शैली का प्रबन्धन है। वह समाज के दूसरे सदस्यों के प्रति हमारी सम्यक् जीवन शैली या सम्यक् व्यवहार का ढंग सीखता है। आज सामान्य जन की एक मान्यता यह है कि समाज सुधार से व्यक्ति का सुधार होगा, किन्तु यह एक गलत अवधारणा है। समाज का प्रमुख घटक व्यक्ति है, जब तक वैयक्तिक स्तर पर सुधार के प्रयत्न नहीं होंगे - समाज सुधार सम्भव नहीं है। भारतीय चिन्तन में जो चार पुरुषार्थ माने गये हैं और उनमें से तीन - धर्म, अर्थ और काम समाजाधारित है।

धर्म व्यवस्था या धर्मतन्त्र का मुख्य कार्य तो सम्यक् सामाजिक जीवन शैली का विकास करना ही है। एक सभ्य एवं सुसंस्कृत समाज का निर्माण त्याग एवं संयम के जीवन मूल्यों को जीवन व्यवहार में स्थान देने से ही संभव है। धर्म, समाज या परिवार के दूसरे सदस्यों के हित साधन हेतु त्याग समर्पण एवं सेवा के जीवन मूल्यों को आत्मसात् करना होगा। धर्म एक नियामक जीवन मूल्य है, दूसरे शब्दों में धर्म, अर्थ, काम और पारस्परिक व्यवहार का नियामक

है। इसलिए कहा जाता है कि, “आचारो प्रथमः धर्मः”। धर्म केवल जानने या मानने की वस्तु नहीं है, वह सम्यक् ढंग से जीवन जीने का एक तरीका भी है।

अर्थ और काम जीवन के एक आवश्यक अंग है, उनकी संपूर्ति भी आवश्यक है, किन्तु उनका संयमन आवश्यक है। क्योंकि अर्थ और काम जीवन के साध्य नहीं है, साधन है। साधन आवश्यक होते हैं, किन्तु उनकी मूल्यवत्ता साध्य को पाने में निहित होती है। साधना को ही साध्य बना लेना या मान लेना ही जीवन की सबसे भयंकर भूल है, धर्म में इसे मिथ्यात्व कहा गया है। साधन को साध्य की प्राप्ति के लिए अपनाया है, किन्तु हमारी रागात्मकता या आसक्ति उसे साध्य मान लेती है और ऐसी में मूल लक्ष्य कहीं दृष्टि से ओझल हो जाता है। अर्थ और काम अर्थ और काम (रोटी, कपड़ा मकान आदि) मूलतः आत्म शान्ति के हेतु है, किन्तु जब व्यक्ति इन्हीं साधनों को ही साध्य बना लेता है, तो वह अपने मूल लक्ष्य आत्मतोष या आत्मशांति से वंचित हो जाता है। साधनों का अपनाना आवश्यक है, किन्तु ध्यान रहे कि ये साधन कहीं साध्य न बन जाये, अन्यथा तृष्णाजन्य दुःख के महासागर से पार जाना कठिन होगा। जीवन प्रबन्धन का मूल लक्ष्य भी एक ऐसी जीवन शैली का विकास करना है, जो मानव प्रजाति को सम्यक् सुख (आनन्द) और शांति प्रदान कर सके और उसका सम्यक् दिशा में आध्यात्मिक विकास हो सकें और वह शाश्वत जीवन-मूल्य आत्मशांति को प्राप्त कर सकें।

- संस्थापक निदेशक,
प्राच्य विद्यापीठ, दुपाड़ा रोड,
शाजापुर (म.प्र.)

गतांक से आगे.....

श्रमण संस्कृति की व्यापकता

प्रो. डॉ. राजाराम जैन

श्रमण-जैन-साहित्य की व्यापकता :

श्रमण-संस्कृति के दूसरे प्रमुख अंग-श्रमण-साहित्य को लें तो विश्व में उसकी लोकप्रियता और व्यापकता भी आश्चर्यजनक है। इसका मूलकारण है, उसमें समाहित समाज की मुख्य इकाई-मानव के चरित्रोत्थान के साथ-साथ ज्ञान-विज्ञान, मनोविज्ञान और लोकजीवन संबन्धी सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक सामग्री की प्रचुरता। समाज एवं राष्ट्र के बहुआयामी विकास के लिये इस प्रकार के जीवन-मूल्यों सम्बन्धी सामग्री आवश्यक ही नहीं, अनिवार्य भी होती है।

जैनाचार्यों की यह विशेषता रही है कि उन्होंने अपने लेखन-कार्य के पूर्व राष्ट्रिय एवं सामाजिक समस्याओं एवं आवश्यकताओं को समझने के प्रयत्न अवश्य किये होंगे। तत्पश्चात् उनके रचनात्मक समाधान के लिए स्वयं गहन-चिंतन भी किया होगा। उन्होंने सर्वप्रथम यह अनुभव किया कि व्यक्ति से परिवार और परिवार से समाज बनता है और उससे राष्ट्र एवं विश्व। अतः यदि व्यक्ति सात्विकजीवी एवं सच्चरित्र बनता है, यदि वह मानव-जीवन को विकृत कर देने वाली हिंसा, असत्य, चोरी, कुशील एवं परिग्रह के प्रति आसक्ति तथा क्रोध, मान, माया एवं लोभ जैसी दुष्प्रवृत्तियों से दूर रहे तो, परिवार समाज एवं राष्ट्र स्वतः ही चरित्रवान् उदार-हृदय, परोपकारी एवं आदर्श बन सकेंगे।

श्रमण-संस्कृति के महानायकों एवं आचार्यों ने यह भी अनुभव किया कि सामान्य जनता के लिये समकालीन लोकप्रिय जनभाषा में ही सर्वोदयी प्रवचन एवं साहित्य-लेखन होना चाहिए।

ध्यातव्य है कि महावीर-काल (ई.पू. ५९९-५२७) से लेकर ईस्वी सन् की प्रारम्भिक दो सदियों तक परम्परा-प्राप्त लोकप्रिय जनभाषा प्राकृत रही। यही कारण है कि सामान्य जनता की सुगमता की दृष्टि से महावीर एवं गौतम-बुद्ध के उपदेशों के साथ-साथ बडली शिलालेख (ई.पू. ४४३) मौर्य सम्राट अशोक

(ई.पू. २६९) तथा जैन सम्राट खारवेल (ई.पू. १८० के आसपास) तथा ईस्वी सन् की प्रारम्भिक लगभग दो सदियों तक उपदेशों एवं प्राचीन ऐतिहासिक-शिलालेखों में प्राकृत-भाषा के ही प्रयोग किए जाते रहे।

युग-प्रधान आचार्य कुन्दकुन्द (ई.पू. १०८-०१२) ऐसे प्रथम जैनाचार्य हैं, जिन्होंने संभवतः सर्वप्रथम पाषाण-लेखन छोड़कर भूर्जपत्र या ताड़पत्र-प्रयोग और हथोड़ी-छैनी के स्थान पर काष्ठ-लेखनी एवं वानस्पतिक-रंगों से अपना लेखन-कार्य प्रारंभ कर आगम-सम्मत ८४ पाहुड़-ग्रन्थों की रचना की।

विदेशी भाषाओं/ बोलियों में प्राकृतों का सम्मिश्रण:

यह तथ्य भी बड़ा रोचक एवं गरिमापूर्ण है कि जैन-साहित्य की सार्वजनीनता तथा जैन-पर्यटकों की वैदेशिक यात्राओं और विदेशी संपर्कों तथा उनसे मैत्रीभाव के कारण प्राकृत के अनेक शब्दों का विदेशी-भाषाओं पर इतना अधिक प्रभाव पड़ा कि वे उनमें दूध में मिश्री के समान घुल-मिल गये। उनके कुछ उदाहरण देखिये -

विश्व की शब्द-परम्परा का यदि तुलनात्मक अध्ययन किया जाय, तो उससे विदित होता है कि प्राकृत शब्द दुग्ध में शर्करा के मिश्रण के समान सर्वत्र मिल सकते हैं। मेरी दृष्टि से इसका कारण सम्भवतः यही रहा होगा कि सहस्राब्दियों पूर्व से ही पणियों (बनियों या व्यापारियों) का व्यापारिक दृष्टि से विदेशों में आना-जाना लगा रहता था। इनके माध्यम से व्यापार के साथ-साथ सांस्कृतिक एवं भाषिक आदान-प्रदान भी होते रहे थे।

पणियों (ऋग्वेकालीन) के बाद भी इस परम्परा को जारी रखा परवर्ती जैन व्यापारियों सेठ चारुदत्त, श्रीपाल, जिनेन्द्रदत्त, भविष्यदत्त, अचल, नट्टल साहू आदि महासार्थवाहों ने।

रूस में सुरक्षित जैन साहित्य:

रूस से प्राच्य भारतीय विद्या के अध्येता एवं शोधकर्ता लेविन अ. विगासिन ने अपने अध्ययन-क्रम में बतलाया है कि रूस में प्राकृत एवं जैन-विद्या के क्षेत्र में पर्याप्त शोध-कार्य हुए हैं। वहाँ प्राकृत की अनेक जैन-पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। साथ ही कुछ जैन-ग्रन्थों पर शोध-कार्य के साथ-साथ उनका प्रकाशन भी वहाँ से किया गया है।

विगासिन के अनुसार रूस के विभिन्न शास्त्र-भण्डारों में:-

वररुचि कृत कविताओं के संग्रह (नीतिसार एवं नीतिरत्न)

अज्ञात जैन कवि कृत : सुभाषितार्णव (१००० श्लोक प्रमाण)

निधि-शास्त्र-भण्डार में सुरक्षित : भारतीय-नाटकों से संबन्धित २० पाण्डुलिपियाँ, जिनमें से एक - नयविजय कृत जैन-काव्य-“चित्रसेन-पद्मावती चरित्त” की पाण्डुलिपि सुरक्षित है, जो ‘सुन्दरी-पद्मावती’ की विख्यात कथा का जैन रूपांतरण है। इस रचना में ५३६ श्लोक हैं।

गोपीनाथ कृत - “कौतुक-सर्वस्व” - नामका एक नाटक भी है, जिसमें भृष्ट राजाओं पर तीखा व्यंग्य किया गया है।

शर्व वर्म कृत तथा दुर्गासिंह की टीका सहित- “कातन्त्र-व्याकरण” की तीन प्रतियाँ।

महाकवि गुणादय कृत - पैशाची-प्राकृत में लिखित अद्भुत कथा-ग्रन्थ-“बड्ढकहा” अद्यावधि (अनुपलब्ध)। इस कथा-ग्रन्थ के कुछ अंशों का महाकवि क्षेमेन्द्र द्वारा लिखित संस्कृत-गद्य रूपान्तर की पाण्डुलिपि तथा बेलालपंच-विंशति की पाण्डुलिपि सुरक्षित है।

चण्ड (प्राकृत-वैयाकरण) कृत - “प्राकृत-लक्षण” की नेपाली हस्तलिखित पाण्डुलिपि तथा- जैन-ज्योतिष एवं जैन सामुद्रिक शास्त्र सम्बन्धी १४० पाण्डुलिपियाँ, जिनमें से कुछ अत्यन्त मूल्यवान कही गई हैं, वहाँ सुरक्षित हैं। रूस के ही उक्त निधि- शास्त्र-भण्डार में सुरक्षित- आचारांग-सूत्र की एक पाण्डुलिपि तथा उसकी शीलांक कृत “आचार-टीका”।

कल्पसूत्र की दो प्रतियाँ, जिनमें से कल्पसूत्र की एक प्रति “कल्पलता” नामकी टीका तथा लक्ष्मीबल्लभ कृत “कल्पद्रुमकलिका-टीका” से युक्त है।

जर्मनी में जैन-साहित्य:

जैन-साहित्य के संग्रहण, संकलन, संरक्षण, शोध एवं समीक्षा की दृष्टि से जर्मनी की प्राच्य भारतीय विद्या-प्रेम अद्भुत माना गया है। डॉ. वी. राघवन् ने भारत सरकार के अनुरोध से विश्व में व्याप्त प्राच्य भारतीय पाण्डुलिपियों का सर्वेक्षण किया था और अपनी खोज के निष्कर्ष स्वरूप उन्होंने बतलाया था कि विदेशों में लगभग ५० हजार पाण्डुलिपियाँ यत्र-तत्र सुरक्षित हैं, उनमें से ५० प्रतिशत पाण्डुलिपियाँ अकेले जर्मनी में सुरक्षित हैं। इस तथ्य से जर्मनी के विद्वानों की भारतीय पाण्डुलिपियों में समाहित अपूर्व ज्ञान-विज्ञान के भण्डार के उद्घाटन के प्रति जिज्ञासा स्पष्ट विदित होती है।

प्राप्त सूचनाओं के आधार पर जर्मनी में लगभग ५ हजार ग्रन्थागार हैं, जिनमें से अकेले बर्लिन के ही एक ग्रन्थागार में १२ हजार भारतीय पाण्डुलिपियाँ हैं। उनमें प्राकृत-भाषा एवं जैन-साहित्य की अनेक पाण्डुलिपियाँ हैं।

बर्लिन विश्वविद्यालय में लगभग ८ दशकों से प्राकृत एवं जैन विद्या का अध्ययन एवं शोध कार्य चल रहा है।

ओ. बोहटलिंस्क (सन् १८४८ ई.) - ने सुप्रसिद्ध कोश-ग्रन्थ-अभिधान-चिन्तामणि (आचार्य हेमचन्द्र, १३वीं सदी) की विशेष उपयोगिता देखकर उसका संपादन कर जर्मनी से उसका प्रकाशन कराया।

अल्ब्रेख्ट बेबरे (१८६६ ई.) - द्वारा शत्रुंजय-माहात्म्य तथा अर्धमागधी अंग-आगम के छठवें ग्रन्थ-भगवती-सूत्र के कुछ महत्वपूर्ण अंशों के अनुवाद उनके ऐतिहासिक मूल्यांकन के साथ प्रकाशित किये गये।

अल्बर्ट बेबर - प्राच्य-विद्याविदों की दृष्टि में अल्बर्ट बेबर सर्वतोन्मुखी प्रतिभा के धनी तथा अथक परिश्रमी-साधक थे। जिस समय भारतीय पाण्डुलिपियों के मूल-पाठों के संस्करण नितान्त दुर्लभ थे, उस समय की मांग का अनुभव कर उन्होंने दर्जनों पाण्डुलिपियों का अध्ययन एवं समीक्षात्मक मूल्यांकन किया और उससे देश-विदेश के प्राच्य-विद्याविदों को प्रेरित कर उनका मार्ग-दर्शन किया था।

डॉ. होर्नले (१८४१-१९१८) ने अर्धमागधी प्राकृत के सातवें अंग-“उवासगदसाओं” का समीक्षात्मक सम्पादन एवं अनुवाद कर उसके मूल्यांकन से प्राच्य विद्या जगत् को प्रभावित किया है।

गेआर्ग व्यूलर से उक्त बेबर ने गुजरात की अनेक जैन-पाण्डुलिपियाँ प्राप्त कर उनका भी समीक्षात्मक अध्ययन किया था। इस समीक्षात्मक अध्ययन ने एन्सर्ट लाउमेन (१८५९-१९३१ ई.) तथा हर्मन यॉकोवी को पर्याप्त प्रभावित किया।

सम्भवतः हर्मन यॉकोवी (१८५०-१९३७) प्रथम ऐसे विद्वान् थे, जिन्होंने दिन-रात अथक परिश्रम कर पाश्चात्य-विद्वानों को सबसे पहिले यह प्रतीति कराई थी कि जैनधर्म बौद्धधर्म की शाखा नहीं है। उन्होंने विविध प्रमाणों के साथ उसे सर्व प्राचीन एवं स्वतंत्र धर्म घोषित किया था जिसे प्रायः सभी ने स्वीकृत किया।

हर्मन यॉकोवी नैंबतंक ठववो वजीम मैज (पूर्व के पवित्र ग्रन्थ) नामक ग्रन्थमाला के दो जैन-सूत्र ग्रन्थों का संपादन एवं अनुवाद दो खण्डों में प्रकाशित किये थे और कल्पसूत्र का सम्पादित संस्करण सन् १८७९ ई. में, हरिभद्र (आठवीं सदी) कृत सनत्कुमार-चरित का सम्पादन-अनुवाद सन् १९२१ तथा भविसयत्त-कहा (धनपाल कृत) का संपादन प्रकाशन सन् १९१८ ई. में प्रकाशित कराये थे।

इसके अतिरिक्त भी सन् १९०० के आस-पास उन्होंने (हर्मन याकोवी ने) महाराष्ट्री-प्राकृत की कुछ चुनी हुई लोकोपयोगी कथाओं के आधार पर महाराष्ट्र-प्राकृत की व्याकरण सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला।

हर्मन यॉकोवी के प्रति जैन-समाज का आदर भाव:

हर्मन-याकोवी के उक्त शोध-संपादन कार्यों से प्रभावित होकर भारतीय जैन-समाज ने उनके प्रति कृतज्ञता कर सन् १९४८ में उनके शोध-निबन्धों का “जैनधर्म का अध्ययन” नामका निबन्ध-संग्रह प्रकाशित किया है।

जर्मनी में जैन-शोध एवं समीक्षात्मक-मूल्यांकन की यह परम्परा आगे भी चलती रही और हेल्मुथ-फान ग्लासनैप ने सन् १९२५ में - “भारतीय धर्मों में जैनधर्म के मोक्षमार्ग का स्वरूप” नामका ग्रन्थ लिखा तथा बाल्टर शुब्रिग (१८८१-१९६९ ई.) ने सन् १९३५ में “जैन-तीर्थकरों के उपदेश” नामक ग्रन्थ लिखकर उसका प्रकाशन कराया।

जर्मनी के संवदेनशील विद्वानों-प्राकृत के सुप्रसिद्ध वैयाकरण और “प्राकृत भाषाओं का व्याकरण (सन् १९००) के लेखक डॉ. पिशेल तथा पालि-भाषा और साहित्य के इतिहास के लेखक गायगिर ने जब अनुभव किया कि प्राकृत-भाषाओं तथा आधुनिक भारतीय भाषाओं की संयोजक-कड़ी (अपभ्रंश) की अब अनदेखी या उपेक्षा नहीं की जा सकती, तब उनकी प्रेरणा से हामबुर्ग (जर्मनी) के डॉ. लुडिविंग-आल्सडॉर्फ तथा बर्लिन (जर्मनी) के डॉ. क्लोज ब्रूह्न ने अपभ्रंश-भाषा और साहित्य पर शोध-समीक्षात्मक कार्य किया।

इन तथ्यों से यह स्पष्ट है कि जर्मनी के विद्वानों ने प्राकृत-अपभ्रंश-भाषा, जैनधर्म एवं उसके साहित्य पर तो शोध-परक-अभूतपूर्व कार्य किये।

फ्रांस में सुरक्षित जैन साहित्य:

इतिहासकारों के सर्वेक्षणों के अनुसार फ्रांस में लगभग एक हजार विशाल ग्रन्थालय हैं, जिनमें से पेरिस के अकेले ही एक विविलियोथिक नामके ग्रन्थागार में ४० लाख ग्रन्थ हैं और जिनमें से बारह सहस्र ग्रन्थ संस्कृत एवं प्राकृत-भाषा के हैं, जो भारत से ले जाए गए होंगे।

सन् १९६५ के आसपास मैंने (प्रो. राजाराम जैन ने) एक लेख में लिखा था कि मुझे महाकवि रङ्गधू कृत अपभ्रंश-भाषा की सिरिसिरिवाल-चरित की पाण्डुलिपि नहीं मिल रही है। अतः मेरे शोध-कार्य में कुछ गतिरोध आ रहा है। संयोग से उस लेख को पेरिस (फ्रांस) की एक संवेदनशील-विदुषी महिला प्रो. नलिनी बलवीर जी ने पढ़ा। उसे उन्होंने पेरिस के एक शास्त्र-भण्डार में खोजा तो वह वहाँ सुरक्षित थी। उन्होंने तत्काल ही उसकी फोटो-कराकर मुझे भिजवा दी थी। तात्पर्य यह है कि फ्रांस के अनेक शास्त्र-भण्डारों में जैन-पाण्डुलिपियाँ सुरक्षित हैं। उक्त प्रो. नलिनी बलवीर जी ने भी कुछ जैन-पाण्डुलिपियों पर शोध कार्य किया है तथा एक स्वतंत्र शोध-निबन्ध भी लिखा था जिसमें पेरिस (फ्रांस) में सुरक्षित कुछ विशिष्ट जैन पाण्डुलिपियों की चर्चा की गई है।

संदर्भ सूची:

1. An eminent archaeologist says that if we draw with a radius of ten (10) miles having any spot in India as the centre we are sure to find some Jain remains within that circle.
- Vide kannad monthly Vivekabhyudaya P.96(1940)
दे. जैन-शासन (दिवाकर) पृ. २९८ से साभार।
2. दे. Encyclopaedia of world Religions - Vol-VII P. 450-470 तथा विदेशों में जैनधर्म (डॉ. गोकुलप्रसाद जैन) से साभार।
3. Ancient India P.70
4. AL. P. 71
5. The Life of Buddha (1927) P. 74, 115
6. Science of comparative Religions (1897) P.28,40
7. Berniar's Travels in the Mughal Empire P. 317
8. वीर (शोध पत्रिका) वर्ष ७, पृ. १७७
9. while East India was certainly the fruitful centre of religion from 7th Century B.C. yet Trans-Himalaya, Oxiana, Bactria and

Kaspiana seem to have still earliar developed similar religioius view and practices as Indian jaina and buddha claim and almost historically show that about a score of their saintly leaders perambulated the eastern world long prior to 7th century B.C. Many reasonably believe that Jainism was very anciently preached by them from **china to Kaspiana**. It existed in oxiana and North of Himalayas 2000 (Two thousand) years before lord Mahavira (see.) The science of comparative religions by major General fourlong (1897) P. 28 (आचार्य विद्यानंद मुनि कृत “कल्याण-मुनि एवं सिकन्दर” से साभार)

१०. दे. मध्य एशिया और पंजाब में जैनधर्म (ही. ला. दुग्गड़) पृष्ठ ५३-५४
11. दे. Buddhist Record of western world translated from the chines of Hiuen-Tsiang by Samual Beal (2 Vols) London (1884) Vol.I.P.55 (मध्य एशिया..... दुग्गड़ से साभार) तथा Jainism in Northern India (by Dr. C.J. Shah) London 1932 P.54
१२. दे. सन्मति सन्देश (पत्रिका) अगस्त १९६२, पृ. ३२, में प्रकाशित सुप्रसिद्ध इतिहासकार श्री विश्वम्भरनाथ पाण्डेय के निबन्ध से साभार।
१३. दे. विविधतीर्थकल्प-सिंघी जैन ग्रन्थमाला (ग्रन्थांक-१०) मुम्बई पृ. ८६ (१९३४)
१४. मध्य एशिया एवं पंजाब में जैनधर्म - (दुग्गड़) पृ. ६०
१५. मध्य एशिया में पृ. ५५-५६
१६. मध्य एशिया में पृ. ५५-५६
१७. मध्य एशिया में पृ. ५५-५६
१८. सम्पादक- नागेन्द्रनाथ वसु तृ. खं. पृ. १२८
१९. विशेष के लिये देखिये ब्र. लामचीदास कृत मेरी कैलाश यात्रा तथा मध्य एशिया. जैनधर्म (दुग्गड़) पृ. ५७-५९ (दिल्ली १९७९)
२०. विशेष के लिए देखिये- ब्र. लामचीदास कृत मेरी कैलाश यात्रा तथा मध्य एशिया.....जैनधर्म (दुग्गड़) पृ. ५७-५९ (दिल्ली १९७९)
२१. मध्य एशिया में पृ. ६०, ६१
२२. हिन्दी विश्व कोश (तृ. खं. पृ. १२८)
२३. लामचीदास- मेरी कैलाश यात्रा।

- बी-५/४०सी,
सैक्टर-३४, धवलगिरि,
पोस्ट- नोएडा (उ.प्र.) २०१३०७